# सफल मानव जीवन

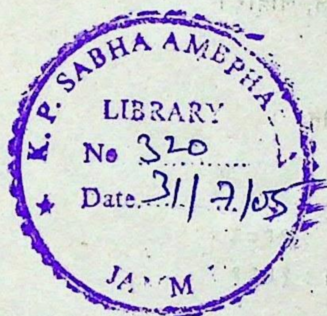
वैद्य शम्भुनाथ कौल आयुर्वेदाचार्य



ओ३म्

# सफल मानव जीवन

(वैद्यिक और भारतीय साहित्य के दर्पण में)




लेखक
वैद्य शम्भु नाथ कौल, आयुर्वेदाचार्य

निवासस्थान :
कलूसा, बांडीपोर, कश्मीर



आर्य प्रकाशन
८१४ कूण्डे वालान अजमेरी गेट दिल्ली

लेखक :
**वैद्य शम्भु नाथ कौल, आयुर्वेदाचार्य**
(गोल्ड मेडिलिस्ट)
आवकाशप्राप्त राजकीय वैद्य, जे एण्ड के स्टेट
भूतपूर्व इंचार्ज वैद्य धन्वन्तरि आयुर्वेदिक
कॉलिज हस्पताल, लाहौर।



प्रथम संस्करण : १९८६
द्वितीय संस्करण : १९९१

(१) प्राप्ति-स्थान :
**वैद्य शम्भु नाथ कौल, आयुर्वेदाचार्य**
C/o
डी० डी० ए० फ्लेट
पाकेट ए-१४, फ्लेट ३४-ए,
कालिकाजी एक्सटेंशन
नई दिल्ली-११००१९

(२) **आर्य प्रकाशन**
८१४, कूण्डेवालान, अजमेरीगेट, दिल्ली

मूल्य : पैंतीस रुपये
विदेश : सात डालर

**मुद्रक :**
**दुर्गा मुद्रणालय,**
सुभाषपार्क एक्सटेंशन, दिल्ली-११००३२

# दो शब्द

लेखक अपनी यह पुस्तक 'सफल-मानव-जीवन' पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए बड़े हर्ष का अनुभव करता है। मनुष्यों के स्वास्थ्य की बिगड़ती हुई दशा और अस्वस्थ मनोवृत्ति को देखकर लेखक का मन व्याकुल रहता था। इसी भावना से प्रेरित होकर लेखक ने इस पुस्तक को लिखने का प्रयास किया है।

संसार में मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। यह पुण्य कर्मों के प्रताप से ही मिलता है। बुद्धि के प्रताप से चाहिए तो यह था, कि मनुष्य का जीवन आयु, आरोग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न होता और जीवन के प्रत्येक विभाग में उसने उन्नति की होती। परन्तु जब उसकी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक दशा पर दृष्टि डालते हैं तो मन में खेद उत्पन्न हो जाता है। इसके सदाचार पतन को देखकर लज्जा से शीर्ष झुक जाता है और इस सारी दुर्दशा को देखकर लगता ऐसा है कि मनुष्यत्व का देवाला ही निकल चुका है।

मनुष्य जीवन को सफल बनाने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य का जीवन संसार में आयु, आरोग्य और ऐश्वर्य्य सम्पन्न हो और परलोक गमन पर मुक्ति प्राप्त हो, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता।

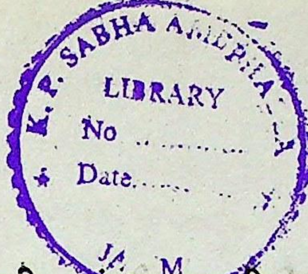
मनुष्य को सांसारिक सुख और पारलौकिक शान्ति प्राप्त करने के लिए उसके मन में तीन एषणायें होती हैं। (१) प्राणैषणा अर्थात् संसार में स्वस्थ-दीर्घ-जीवन की कामना। (२) धनैषणा, अर्थात् सुख-सम्पदायुक्त ऐश्वर्यवान् जीवन गुज़ारने के लिए धन की कामना। (३) परलोकैषणा, अर्थात् संसार यात्रा के पश्चात् जीवनमुक्ति प्राप्त करने की कामना। जिस मनुष्य की यह तीनों कामनायें पूरी हो सकती हैं, उसी का जीवन सफल माना जा सकता है।

लेखक एक विख्यात सनातनधर्म प्रेमगिरी आयुर्वेदिक कालिज लाहौर का स्नातक है। जहाँ लेखक ने १६३६ ईस्वी में आयुर्वेदाचार्य की उपाधि प्राप्त की है। इस परीक्षा में प्रथम पद पर उत्तीर्ण होने के पुरस्कार में लेखक ने स्वर्णपदक प्राप्त किया है और इस कॉलिज के धन्वन्तरि आयुर्वेदिक हस्पताल में इन्चार्ज वैद्य पद पर नियुक्त होकर बहुत काल तक काम किया है। इसके अतिरिक्त अवकाशप्राप्त राजकीय वैद्य भी हैं।

लेखक ने उपरोक्त तीन एषणाओं की पूर्ति के विषय को वैद्यिक साहित्य तथा अन्य भारतीय साहित्य के आधार पर, लिखने का प्रयास किया है। आशा है कि शुद्ध संकल्प से किया गया लेखक का यह प्रयास मान्य पाठकों को अपना जीवन सफल बनाने में सहायक सिद्ध होगा। ऐसा दृष्टिगोचर होने पर लेखक, जहाँ अपने प्रयास को सफल मान लेगा, वहाँ दूसरे संस्करण में इसको अधिक विस्तार से छापने के लिए प्रोत्साहन भी प्राप्त होगा।

तिथि : १-६-१६८६

—वैद्य शम्भु नाथ कौल
आयुर्वेदाचार्य




# द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति के आधार पर मानव जीवन से सम्बन्धित सफल-मानव-जीवन पुस्तक के प्रथम संस्करण का स्वागत, मान्य पाठकों के द्वारा जो देखने में आया है, लेखक उसका हृदय से आभार प्रकट करता है। थोड़े समय के पश्चात् ही पुस्तक का दूसरा संस्करण छप जाना पुस्तक की उपयोगिता का एक स्पष्ट प्रमाण है।

इस संस्करण में मान्य पाठकों के सुझावों पर बहुत से विषयों की परिर्वधित व्याख्या की गई है और विश्लेषणात्मक कार्य करके कई संदिग्ध और अस्पष्ट रहस्यपूर्ण विषयों को स्पष्ट करके रख दिया गया है जैसे—

(i) त्रिदोष वात, पित्त और कफ सिद्धान्त की उत्पत्ति की विश्लेषणात्मक चर्चा। (ii) प्रज्ञापराध की व्याख्या। (iii) स्थूल शरीर में मानसिक शरीर के अस्तित्व का परिचय। मानसिक रोग, उनकी उत्पत्ति के कारण और उनका शमन उपाय। (iv) शरीर में मन और जीवात्मा के निवासस्थान की विश्लेषणात्मक खोज। (v) मन और जीवात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध पर चर्चा। (vi) योग से त्रिविधतापों अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मज रोगों से मुक्ति। (vii) लेखक के अपने गत पचास वर्षीय चिकित्सा कालीन अवधि में उपार्जित अनुभवों के आधार पर इस द्वितीय संस्करण में, 'घरेलू-उपचार-दीपिका' की एक अध्याय को स्थान दिया गया है। जिसमें परीक्षित सिद्ध योगों के द्वारा रोगों का उपचार लिखा गया है, परोकार भावना से प्रेरित होकर।

आशा है कि इस विश्लेषणात्मक कार्य से जहाँ पुस्तक की उपयोगिता और लोकप्रियता बढ़ेगी वहाँ आयुर्वेद का प्रचार और प्रसार भी बढ़ेगा और जन-साधारण इस पुस्तक के माध्यम से अधिक लाभान्वित हो सकेंगे।

अन्त में लेखक उन सभी पूजनीय महात्माओं, आयुर्वेदाचार्यों और विद्वान लेखकों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिनके शुभ उपदेशों, रचनाओं और लेखों से इस द्वितीय संस्करण को लिखने में सहायता मिली है।

तिथि : २१-२-१९९१.

—**वैद्य शम्भु नाथ कौल**
**आयुर्वेदाचार्य**

# विषय-सूची

## पहला भाग : स्वस्थ-दीर्घ-जीवन

## दूसरा भाग : धन की प्राप्ति



## तीसरा भाग : जीवनमुक्ति

# शुद्धि पत्र

| पृष्ठ नं० | पंक्ति नं० | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| 3 | 12 | सद | सदा |
| 6 | 13 | समस्का | समनस्का |
| 9 | 22 | काल | काल, दिशा |
| 10 | 9 | स्वादुरक्लो | स्वादुरस्लो |
| 11 | 12 | जचल | चंचल |
| 21 | 20 | से | के |
| 22 | 33 | भोजत | भोजन |
| 23 | 33 | ऐसी | ऐसी गुणहीन |
| 25 | 10 | गुणों | लक्षणों |
| 43 | 2 | प्रज्ञापराध | परिणाम |
| 43 | 14 | मानषिक | मानसिक कर्मों से जो |
| 47 | 11 | विहार | विहार से |
| 48 | 14 | करता | कराता |
| ,, | ,, | चलाकर | चलाकर अपथ्य करवा के |
| 58 | 33 | हो | न हो |
| 59 | 31 | गृहस्थ | गृहस्थी |
| 84 | 33 | पड़ता | पड़ता है |
| 98 | 29 | हुई | हुई जीवित |
| 95 | 11 | मुक्त | हीन |
| 105 | 19 | सेवन | पालन |
| 108 | 27 | मनु | मन |
| ,, | 32 | उसी | उसी के |
| 109 | 22 | कर्मफल | कर्मफलों |
| 120 | 27 | के | x |
| 122 | 4 | तीसरा | एक प्रधान |
| ,, | 6 | प्रज्ञापराध के समान | शारीरिक तथा |
| ,, | 34 | तनाव | तनाव भी |
| ,, | ,, | दूसरा | एक |
| 129 | 1 | (अ) | x |
| ,, | 3 | मानसिक | (अ) मानसिक |
| 129 | 3 | जैसे (अ) | जैसे |
| ,, | 14 | संकल्प | संकल्प युक्त |
| 131 | 10 | आघात | (iii) आघात |
| 133 | 31 | लेखक | पुस्तक |
| 134 | 32 | विचार | विचार और संतुलित मन |
| 190 | 18 | समभाव | समभाव वाले |
| 194 | 30 | गर्भ | गर्भ में |
| 201 | 10 | चलना | चलने के |
| 210 | 7 | द्वारा | द्वारा प्रकट |
| 211 | 8 | सुधार | सुधर |
| 212 | 7 | बने | बन जाये |
| 218 | 30 | इच्छाओं | कर्मों |
| २२३ | २१ | पहुंचाया | पहुंचाता आया |
| ,, | २३ | देश | देश और विश्व |

# पहला भाग

**स्वस्थ-दीर्घ जीवन-**

प्रथम अध्याय

# त्रिदोष सिद्धान्त

भारत का प्राचीन साहित्य संस्कृत भाषा में उपलब्ध है। चारों वेद, साँख्य और योगदर्शन शास्त्र, रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थ तथा आयुर्वेदादि जीवन-शास्त्र और अन्य आप्तागम, सब संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध हैं। इन सब में परमात्मा, प्रकृति और पुरुष की विस्तृत चर्चा आई है। इनमें ब्रह्माण्ड की सृष्टि से लेकर प्रलय तक का वर्णन विस्तार से किया गया है। भौतिक और आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा हुई है। आयुर्वेद भी इन्हीं की कोटि का एक आप्तागम है। इसमें अध्यात्म दर्शन के अतिरिक्त आयु की चर्चा की गई है। और स्वस्थायु, अस्वस्थायु, हितायु, अहितायु तथा आत्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रियों और समस्त शरीर का वर्णन किया गया है। यह प्रकृति और पुरुष से उत्पन्न जगत की जानकारी दिलाता है। इसके सिद्धान्तों पर चलने से मनुष्य, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से भरपूर स्वस्थ-दीर्घ जीवन पा सकता है। इसके अतिरिक्त जीवन यात्रा की समाप्ति पर जीवन मुक्ति भी पा सकता है। यह तीनों एषणाओं का प्रदाता है।

आयुर्वेद शास्त्र भी एक मान्य आप्तागम है। उत्कृष्ट तपस्वी विद्वान महा-पुरुषों को आप्त कहते हैं। उनके द्वारा बने हुए शास्त्र, आप्तागम कहलाते हैं। इनमें लिखित सभी विषय सत्यता और अनुभव के आधार पर विश्वस्त होते हैं। अपनी उन्नति और कल्याण चाहने वाले पुरुषों को इनका अध्ययन करना चाहिए। इनके उपदेशों और आदेशों के अनुसार अपने जीवन को ढालकर उन्नत बनाना चाहिए। ऐसा करने से जीवन-यात्रा सुखपूर्वक निभाई जा सकती है और अन्त में शान्ति भी प्राप्त हो सकती है।

## आप्त लक्षण

**रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता तपो ज्ञान वलेन ये।**
**तेषां त्रिकाल ममलं ज्ञानमव्याहतं सद ॥**
**आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।**
**सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमः ॥**— च० सू० ११।१८-१९

अर्थात् आप्त महापुरुषों के मानसिक दोष रज और तम, उनके अपने तपोबल और ज्ञानबल से नष्ट हो चुके होते हैं। उनको शुद्ध त्रिकाल ज्ञान दृष्टि प्राप्त हो चुकी होती है। वे शिष्ट और ज्ञानवान होते हैं। उनका वचन सत्य और संशय-

रहित होता है। वह रज और तम दोषों से मुक्त निर्लोभी महात्मा होते हैं। उनके वचन सदा सत्य होते हैं। वह अकारण असत्य वचन क्यों कहें।

अतः प्रत्येक मानव को चाहिए कि वह आप्त महापुरुषों के बनाये हुए शास्त्रों में विश्वास रखते हुए उनके दिखाये हुए, कल्याणकारी मार्ग पर चलकर अपना जीवन सुखी और सफल बनायें। क्योंकि ऐसे ज्ञानवान् महापुरुषों से बढ़कर अन्य श्रेष्ठ पथदर्शक और कोई नहीं हो सकता है। लेखक इन्हीं आप्त ग्रन्थों के आधार पर यह 'सफल-मानव-जीवन' पुस्तक लिखकर पाठकवृन्द के सामने प्रस्तुत करता है और आशा रखता है कि इसके अध्ययन से मानव समाज में गिरते हुएस्वास्थ्य और सदाचार का सुधार होने में सहायता प्राप्त हो सकेगी, जिसके फलस्वरूप उसका प्रयास किसी अंश तक सफल होकर मानसिक सन्तुष्टि प्राप्तहो सकेगी।

## आयुर्वेद एक जीवन शास्त्र

आयुर्वेद एक जीवन शास्त्र है। इसके अध्ययन से जीवन का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसके निर्देशों और उपदेशों के अनुसार जीवन को ढालकर मनुष्य स्वस्थ-दीर्घ-जीवन प्राप्त कर सकता है, और अन्त में शान्ति पद भी प्राप्त कर सकता है। कहा भी है—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
**मानं च तच्च यत्रोक्तं आयुर्वेदः स उच्यते ॥—च० सू० १।४१**

अर्थात् आयुर्वेद वह शास्त्र है जिससे मानव का जीवन शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के रोगों से मुक्त रहता है और इसके अतिरिक्त मानव के दुःखी जीवन का बोध कराता है।

आयुर्वेद वह शास्त्र है जो मनुष्य को सदाचार की शिक्षा देता है और उसको दूसरे प्राणियों के साथ सद्व्यवहार करने के योग्य बनाता है। सुबुद्धि सम्पन्न होकर मानसिक शुद्धि प्राप्त करके लोकोपकारक कर्म करता हुआ हितकारी जीवन बनाता है। और इसके अतिरिक्त अहितकारी जीवन का बोध कराता है।

आयुर्वेद वह शास्त्र है जिसके द्वारा आयु का मान ज्ञात किया जाता है। यह मान ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि के विकृत लक्षणों के फलस्वरूप अरिष्ट लक्षणों के उत्पन्न होने पर ज्ञात हो जाता है।

सारांश यह है कि आयुर्वेद जीवनशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ मानसिक प्रसन्नता भी प्राप्त करने के योग्य बनता है। इसके सिद्धान्तों पर चलने से मनुष्य स्वस्थ-दीर्घ-जीवन प्राप्त कर सकता है। इसकी आध्यात्मिक शिक्षा से मानसिक शरीर का यथार्थ बोध हो जाता है और मानव मन की शुद्धि के उपायों की जानकारी प्राप्त कर लेता है। उनके अनुसार आचरण करने से सुबुद्धि प्राप्त कर लेता है। फिर अपने सुकर्मों के द्वारा मानसिक प्रसन्नता प्राप्त करके अपना मानव जीवन सफल कर लेता है।

## स्वास्थ्य का महत्त्व

'धर्मार्थ काममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहन्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ।।'—च०सू० १।२५

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार पदार्थों को प्राप्त करने के लिए स्वास्थ्य ही मूल कारण है, क्योंकि स्वास्थ्य से पुरुषार्थ किया जा सकता है और पुरुषार्थ से सभी काम बन जाते हैं। रोगी मनुष्य द्वारा पुरुषार्थ करना सम्भव नहीं होता, अतः वह इन चार पदार्थों को नहीं पा सकता।

## तीन एषणायें

उपरोक्त चार पदार्थों को पाने के लिए मनुष्य का स्वस्थ होना परमावश्यक है, इसके बिना मनुष्य की सफल-मानव-जीवन की कामनायें पूरी नहीं हो सकतीं। यह कामनायें तीन प्रकार की हैं—

१. **प्राणैषणा**—अर्थात् स्वस्थ-दीर्घ-जीवन व्यतीत करने की कामना।

२. **धनैषणा**—अर्थात् धन-सम्पदा युक्त ऐश्वर्यवान जीवन व्यतीत करने की कामना।

३. **परलोकैषणा**—अर्थात् मृत्यु के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने की कामना।

—च० सू० ११।३

यदि उपरोक्त तीनों कामनायें मनुष्य अपने जीवन में प्राप्त कर लेता है तो निःसन्देह उसका जीवन सफल हो जाता है। सांसारिक और पारमार्थिक व्यवहार के मूल में मनुष्य की यहीं तीन अभिलाषायें होती हैं और इनको प्राप्त करने के लिए सभी अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार प्रयत्नशील रहते हैं। इन एषणाओं की पूर्ति के गम्भीर विषय को विविध शास्त्रों तथा आयुर्वेद शास्त्र के अध्ययन की सहायता से एकत्रित करके, लेखक ने यह 'सफल-मानव-जीवन' पुस्तक की रचना प्रकाश में लाई है। आशा है कि लेखक का यह प्रयास पाठकवृन्द के लिए अपना जीवन स्वस्थ और सुखी बनाने में सहायक सिद्ध होगा। पुस्तक को तीन भागों में लिखा गया है। प्रत्येक एषणा को अपने प्रथक भाग में विस्तार से लिखा गया है। आइये सर्वप्रथम प्राणैषणा-स्वस्थ-दीर्घ-जीवन के विषय को लेकर पुस्तक का प्रथम भाग आरम्भ करते हैं।

## जीवन का स्वरूप

'शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्म संयोगी धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्चर्पयायैरायुरुच्यते ।।'—च० श० ६-४

अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं, इसी का नाम जीवन है।

दूसरे स्थान पर जीवन की व्याख्या निम्न सूत्र से की गई है—

**'तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचमहाभूत**
**विकार समुदायात्मकं संयोगवाहि।'**—च० शा० ६।४

अर्थात् यह शरीर पाँच महाभूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के विकारों, रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र धातुओं से बना हुआ है।

शरीर में जीवत्व (चेतनता) प्रदान करने के लिए चेतन धातु इसमें अधिष्ठित है। चेतन धातु से जीवात्मा और मन का ग्रहण होता है। इसको आगे चलकर स्पष्ट किया जायेगा।

(३) एक और स्थान पर जीवन को २४ राशि संज्ञक पुरुष कहा गया है।

**'खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः।**
**भूत प्रकृतिरुद्दिष्टा विकारश्चैव षोडश॥**
**बुद्धिन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।**
**समस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः॥'**—च०शा० १।६२
**'चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुष संज्ञकः'।**—च० श० १।३५

अर्थात् आठ प्रकृतियों अव्यक्त (मूल प्रकृति), बुद्धि (महत्त), अहंकार और पाँच महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा सोलह विकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कर्ण, त्वक, चक्षु, रसना और घ्राण; पाँच कर्मेन्द्रियाँ हाथ, पाँव, वाक, गुदा और उपस्थ; पाँच विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा एक मन; इन २४ धातुओं से पुरुष बना हुआ है। इसको २४ राशि संज्ञक पुरुष कहते हैं।

(४) फिर एक और स्थान पर जीवन की षडधातु संज्ञक पुरुष कहा गया है—

**'खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।'**—च० श० १।१६

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा चेतना (जीवात्मा), इन छः धातुओं के संयोग से जीवन अर्थात् पुरुष बना है।

## शरीर के तीन स्वरूप

उपर्युक्त सूत्रों से ज्ञात होता है कि यह मनुष्य शरीर केवल आँखों से दिखाई देने वाला स्थूल शरीर ही नहीं अपितु यह और शरीरों से मिलकर बना हुआ शरीर है, विशेषकर यह तीन शरीरों के संयोग से बना हुआ है।—

(१) स्थूल शरीर, (२) सूक्ष्म शरीर, (३) कारण शरीर।

(१) **स्थूल शरीर**-स्थूल शरीर प्रकृति के पाँच महाभूतों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के विकारों रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र की सात धातुओं से बना हुआ है। इसके अंग प्रत्यंगों को हम आँखों से देख सकते हैं। इन अंग प्रत्यंगों से बने हुए शरीर के सभी संस्थान, जैसे पाचक संस्थान, रक्त-वाहक संस्थान, श्वासोश्वास संस्थान, वातनाड़ी संस्थान, अस्थिसंस्थान, मांसपेशी संस्थान, मूत्रवाहक संस्थान, उत्पादक संस्थान, रसोत्पादक और रसविहीन

ग्रन्थियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा अन्य छोटे-बड़े अवयव, जो आँखों से दृष्टि-गोचर होते हैं, यह सब स्थूल शरीर में ही सम्मिलित हैं।

(२) **सूक्ष्म या मानसिक शरीर**—सूक्ष्म शरीर प्रत्येक मनुष्य के स्थूल शरीर के साथ संयुक्त रूप से जुड़ा रहता है। इसको मानसिक शरीर भी कहते हैं। यह मन और अन्य अध्यात्मिक द्रव्यों से वना हुआ है। आध्यात्मिक द्रव्य—

**'मनो मनोर्था बुद्धिरात्मा इत्याध्यात्म द्रव्य गुण संग्रहः।'** —च० सू० ८।१३

अर्थात् मन, मन के अर्थ, बुद्धि और आत्मा अध्यात्म द्रव्य कहलाते हैं।

मन वृत्ति-भेद से चार प्रकार का होता है—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। इसको अन्तःकरण कहते हैं। इसका दूसरा नाम मानस चतुष्टय भी है। इन सभी द्रव्यों से मानसिक शरीर बना है। यह अध्यात्म द्रव्य सूक्ष्म होते हैं। अतः आँखों से दृष्टिगोचर नहीं होते। स्मरण रहे कि मानसिक शरीर का ग्रहण केवल एक मन शब्द से भी हो जाता है।

स्थूल शरीर क्षेत्र कहलाता है, यह सूक्ष्म या मानसिक शरीर का आधार है। इसी के साथ मानसिक शरीर जुड़ा रहता है मानसिक शरीर में जीवात्मा वास करती है जो चेतन धातु कहलाता है, इसी से सम्पूर्ण शरीर में चेतनता अर्थात् जीवत्व आ जाता है। जीवात्मा का आधार मन है और साधन भी। स्थूल शरीर में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा सम्पूर्ण शारीरिक व्यवहार, मन के सहयोग से चलता रहता है, और इसका ज्ञान मन के द्वारा ही जीवात्मा की प्राप्त होता रहता है।

मोक्ष प्राप्त होने पर ही यह सूक्ष्म शरीर जीवात्मा सहित, स्थूल शरीर से पृथक हो जाता है, तब तक प्रत्येक जन्म और मृत्यु के अवसर पर स्थूल शरीर बदलता रहता है, और जीवात्मा अपने पूर्व कर्मों के अनुसार कर्मफल को भोगने के लिए, मानसिक शरीर के सहित, स्थूल शरीर धारण करके जन्म लेती है।

(३) **कारण शरीर**—जिस क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति हो जाती है, उसी के उल्टे क्रम से प्रलय भी हो जाता है। सभी तत्त्व अपने-अपने अगले तत्त्व में समाते जाते हैं। अन्त में मूल प्रकृति शेष रहती है। इसके तीन गुण—सत्त्व, रज और तम, समावस्था में आ जाते हैं। अब यह मूल प्रकृति निष्क्रियावस्था में आ जाती है और हिरण्यगर्भ में लीन होकर पड़ी रहती है। इस प्रकार से यह सृष्टि का समस्त बीज भण्डार समेटकर लीनावस्था में पड़ी रहती है। सर्गकाल के आरम्भ होने पर, देश और काल की विशेषता के अनुसार, इन बीजों से सृष्टि का निर्माण पुनः हो जाता है। प्रलय काल के अन्तर्गत कारण शरीर, बीजरूप से हिरण्यगर्भ में लीन रहता है और सृष्टि के रचनाकाल पर यह पुनः जन्म धारण करके प्रकट हो जाता है। कारण शरीर के रूप में जीवात्मा अविद्या में आवृत्त होकर पड़ी रहती है। कई आचार्यों के मत में मनुष्य शरीर पाँच कोशों से मिलकर बना है—अन्नमय कोष, मनोमय

कोष, प्राणमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। यह भी उपरोक्त तीन शरीरों के अन्तर्गत ही हैं। अन्नमय कोष से स्थूल शरीर; मनोमय कोष, प्राणमय कोष और विज्ञानमय कोष से सूक्ष्म शरीर तथा आनन्दमय कोष से कारण शरीर अभिप्रेत है।

## द्रव्यों की उत्पत्ति

आयुर्वेद विज्ञान में परमात्मा, प्रकृति और पुरुष की चर्चा विस्तृत रूप से आई है। इसमें संसार की सृष्टि से लेकर इसके प्रलय तक का वर्णन आया है! इस सम्बन्ध में महर्षि चरक का कथन है—

**'कर्ता हि करणैयोगात् कारणं सर्वकर्मणाम्'।** —च० श० १।४६

अर्थात् कर्ता ईश्वर, करण (सामग्री) की सहायता से सब कर्मों के करने का कारण होता है। करण का अर्थ यहाँ मूल प्रकृति से उत्पन्न पाँच महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी है। इनसे संसार की सम्पूर्ण चराचर सृष्टि उत्पन्न हुई है। और इन ही द्रव्यों से संसार के सभी द्रव्यों की उत्पत्ति हुई है।

**'सर्वं द्रव्यं पञ्च भौतिकम्'।** —च० सू० २६।१०

अर्थात् सभी द्रव्य पाँच महाभूतों से उत्पन्न हुए हैं। यह द्रव्य दो प्रकार के हैं—(१) चेतन द्रव्य, (२) अचेतन द्रव्य।

**सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरेन्द्रियमचेतनम्।** —च० सू० १।४८

अर्थात् चेतन द्रव्य इन्द्रिय सहित द्रव्य होता है अर्थात् यह मन और आत्मा के संयोग से बना है। चेतन द्रव्यों को सजीव सृष्टि कहते हैं। मनुष्य की गणना इसी सृष्टि में है। अचेतन द्रव्य इन्द्रिय रहित होता है अर्थात् यह मन और आत्मा के संयोग से रहित होता है। अचेतन द्रव्यों को निर्जीव सृष्टि कहते हैं।

## द्रव्यों के भेद

आयुर्वेद में द्रव्यों के भेद तीन प्रकार के कहे गये हैं—

(१) जङ्गम, (२) औद्भिद, (३) पार्थिव।

(१) **जङ्गम द्रव्य**—इस प्रकार के द्रव्यों में चलने-फिरने वाले सजीव द्रव्य (चेतन द्रव्य) जीव-जन्तु आ जाते हैं। यह चार प्रकार के होते हैं—

(अ) जरायुज—वह जीव जो गर्भ से उत्पन्न होते हैं।

(आ) अण्डज—वह जीव जो अण्डों से उत्पन्न होते हैं।

(इ) स्वेदज—जो स्वेद से उत्पन्न होते हैं।

(ई) उद्भिज जो पृथ्वी से फटकर निकल आते हैं।

जङ्गम द्रव्यों से दूध, मक्खन, घी, रक्त, मांस, चर्म, अस्थि, गोरोचन, सींग, दांत, नख, लोम और मधु आदि प्राप्त होते हैं। जङ्गम द्रव्यों की श्रेणी में मनुष्य भी आ जाता है। यह जीवधारियों में सर्वश्रेष्ठ जीव माना जाता है क्योंकि यह

बुद्धियुक्त जीव है। आयुर्वेद में इसी की चर्चा आई है, क्योंकि सांसारिक व्यवहार मनुष्य के द्वारा ही चलाया जा रहा है और इसी के द्वारा समाप्त भी किया जा रहा है।

(२) **औद्भिद द्रव्य**—अन्तरिक्ष जल की सिंचाई से पृथ्वी से नाना प्रकार के वृक्ष और जड़ी-बूटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, यह औद्भिद द्रव्य कहलाते हैं। यह चार प्रकार के होते हैं—

(अ) **वानस्पति**—इन द्रव्यों में फूल भी लगते हैं और फल भी निकलते हैं, जैसे बादाम, अनार आदि फलवर्ग द्रव्य।

(अ) **वनस्पति**—इन द्रव्यों में फूल नहीं लगते, फल निकलते हैं।

(इ) **औषधि**—इन द्रव्यों में वह जड़ी-बूटी पाई जाती है, जो वर्ष के अन्दर ही पककर समाप्त हो जाती हैं,। इसमें शूकधान्य वर्ग के द्रव्य शाली गेहूँ आदि खाद्य पदार्थ और शमोधान्य वर्ग के द्रव्य दालें आदि, शाकवर्ग आदि खाद्य पदार्थ तथा हंसपदी, सौंफ' बुनफशा आदि औषधियाँ पाई जाती हैं।

(ई) **वीरुद्ध**—इन द्रव्यों में नाना प्रकार की लताएँ और क्षुपादि झाड़ियाँ पाई जाती हैं, जैसे अंगूर, हिरणखुरी, दारुहल्दी आदि।

(३) **पार्थिव द्रव्य**—पृथ्वी को खोदकर निकाले जाने वाले खनिज द्रव्यों को पार्थिव द्रव्य कहते हैं जैसे शिलाजीत, लोहा, सोना, नमक आदि।

आंयुर्वेद विज्ञान में सृष्टि में उत्पन्न प्रत्येक वस्तु को द्रव्य की संज्ञा दी गई है। यहाँ तक कि पाँच महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा आत्मा, मन, काल और दिशा, इनको भी द्रव्य की संज्ञा दी गई है—

**खादीन्यात्मामनःकालो दिशश्च द्रव्य संग्रहः।** —च० सू० १।४८

अर्थात् पृथ्वी आदि पाँच महाभूत, आत्मा, मन और काल यह नव द्रव्यों का संग्रह है। चेतन और अचेतन द्रव्यों से भरा हुआ यह संसार द्रव्यमय जगत है।

## द्रव्यों के लक्षण

महर्षि चरक का आदेश—

**'यत्राश्रिताः कर्म गुणाः कारणं समवायि यत्।**
**तद् द्रव्यम्**...........................।।' —च० सू० १।५

अर्थात् जिसके आश्रित कर्म और गुण घुल-मिलकर विद्यमान रहते हैं वह द्रव्य कहलाता है। गुणों का द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध होता है, इनको एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता यह प्रकृति का नियम है।

## द्रव्यों के गुण

द्रव्यों के आश्रित बीस गुण रहते हैं, यथा—

१. गुरु (भारी), २. लघु (हलका), ३. शीत (ठण्डा), ४. उष्ण (गरम),

५. स्निग्ध (तरदार, चिकना), ६. रुक्ष (खुश्क), ७. मन्द (कम असर वाला), ८. तीक्ष्ण (तेज), ९. स्थिर (न हिलने वाला), १०. सर (हिलने और चलने वाला), ११. मृदु (नर्म), १२. कठिन (सख्त), १३. विशद (फैलने वाला), १४. पिच्छल (चिपकने वाला), १५. श्लक्ष्ण (मुलायम), १६. खर (खुरदुरा), १७. स्थूल (मोटा), १८. सूक्ष्म (बारीक), १९. सांद्र (गाढ़ा), २०. द्रव (पतला)।

**द्रव्यों के रस**

द्रव्यों के आश्रित छः प्रधान रस कहते हैं—

**'स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च।**
**कषायश्चेति षटकोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः॥'**—च० सू० १।६५

अर्थात् मधुर, अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (चरपरा), तिक्त (कड़ुआ), कषाय (कसैला), यह छः रस द्रव्यों में पाये जाते हैं।

उपर्युक्त गुण और रस द्रव्यों के आश्रित रहते हैं। संसार में कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं, जिसमें उपरोक्त गुणों और रसों में से कोई न कोई गुण या रस विद्यमान न हो। हमारे आहार द्रव्यों में रस और गुण अधिकता से पाये जाते हैं। मनुष्य के जीवन की निर्भरता इन्हीं आहार द्रव्यों पर है। इनसे हमें जीवित रहने के लिए खाद्य पदार्थ मिलते हैं। मनुष्य को जीवित रहने के लिए इन्हीं द्रव्यों में से प्रत्येक प्रकार के खाद्य पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, जिनसे उनका स्वास्थ्य बना रहता है। अस्वस्थावस्था में भी इन्हीं द्रव्यों से औषधियाँ भी मिलती हैं, जिनको प्रयोग करके रोगों का निवारण होकर पुनः स्वास्थ्य लाभ हो जाता है। शरीर का पालन-पोषण, स्वास्थ्य का संरक्षण और संवर्द्धन तथा रोगों का निराकरण, यह सभी कुछ द्रव्यों के आश्रित बीस गुणों और छः रसों की करामात से प्राप्त हो जाता है। यह द्रव्य जीवन के आधार हैं।

द्रव्यों से ही मनुष्य को सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ मिल जाते हैं, जैसे, जङ्गम द्रव्यों से मांस, दूध, मक्खन, घी और मधु आदि; औद्भिद द्रव्यों से शाली, गेहूँ, जौ, बाजरा, मक्की, दालें, तरकारियाँ, सब्जी, टमाटर, मटर, गाजरादि तथा नाना प्रकार के फल; पार्थिव द्रव्यों में नमक, लोहा आदि। इस प्रकार सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ द्रव्यों से प्राप्त हो जाते हैं। प्रकृति ने इन द्रव्यों को पुरुष के जन्म लेने से पहले ही, उसको जीवित रखने के लिए, उसी प्रकार से उत्पन्न कर रखा है, जिस प्रकार जातक के जन्म लेने से पहले उसको जीवित रखने के लिए, माता के स्तनों में दूध उतर आता है, जिसको वह प्रयोग करता हुआ जीवित रहता है। हमें यह खाद्य पदार्थ प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार से व्यथित होने की आवश्यकता नहीं, यह हमारे आसपास में उपलब्ध हैं। बात केवल इतनी है कि हमें इनके समयोग सेवन की जानकारी हो।

सभी द्रव्य पाँच महाभूतों से बने हुए हैं, चेतन द्रव्य भी और अचेतन द्रव्य भी। चेतन द्रव्यों के अन्तर्गत मनुष्य शरीर भी आ जाता है। महर्षि चरकाचार्य का यह जगतविख्यात सूत्र इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है—

**'खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः'**। —च० श० १।१६

अर्थात् पुरुष का शरीर पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों और छठी चेतना धातु से बना हुआ है। यह षडधातु संज्ञक पुरुष कहलाता है। प्रथम इसके कि हम इस पुरुष के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करें, हम यहाँ पर पाँच महाभूतों की थोड़ी बहुत व्याख्या करेंगे।

## पाँच महाभूतों के लक्षण

**"खरद्रवचलोष्ण त्वं भूजलानिलतेजसाम्।**
**आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिंगंयथाक्रमम् ॥"**—च० सू० १।४८

अर्थात् पृथ्वी का गुण खर, जल का द्रव, अग्नि का उष्ण, वायु का जचल और आकाश का सर्वमूर्त संयोगी है।

## पंचभूतात्मक द्रव्यों के गुण

द्रव्यों की उत्पत्ति पाँच महाभूतों से हुई है, जो एक-दूसरे में अनुप्रविष्ट हुए हैं। इसके फलस्वरूप प्रत्येक द्रव्य में किसी एक भूत की प्रधानता रहती है, शेष भूत गौण रूप में रहते हैं। विशेष भूत प्रधान द्रव्य में विशेष भूत के गुण पाये जाते हैं, शेष भूतों के गुण गौण रूप में होते हैं। 'कारणानुरूपं कार्यं भवति'। कार्य के अनुरूप कार्य बनते हैं। यह प्रकृति का एक अटल नियम है। यही कारण है कि द्रव्य में किसी एक विशेष गुण के साथ-साथ दूसरे भूतों के भी गुण गौण रूप में पाये जाते हैं।

(१) **पृथ्वी भूत प्रधान द्रव्य के गुण**—इस भूत प्रधान द्रव्य में गुरु, स्थूल, स्थिर, कठिन, खर, सान्द्र, मन्द, विशद गुण पाये जाते हैं। यह गन्ध प्रधान होता है। यह शरीर में मोटापा, गुरुत्व (भारीपन), स्थिरत्व (विबन्धत्व) और कठिनता उत्पन्न करता है।

(२) **जलभूत प्रधान द्रव्य**—ऐसे द्रव्य द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु और पिच्छल होते हैं। यह स्निग्धताकारक (तरावतदार), मार्दवकारक और तर्पणकारक होते हैं।

(३) **अग्निभूत प्रधान द्रव्य**—यह द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु, रुक्ष, विशद और रूप गुण प्रधान होते हैं। यह जलनकारक, पाककारक और वर्णकारक होते हैं।

(४) **वायुभूत प्रधान द्रव्य**—यह द्रव्य लघु, शीत, रुक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म और स्पर्श गुण प्रधान होते हैं। यह रुक्षता कारक, ग्लानि कारक, गतिशील,

विशदता कारक और लाघवता कारक होते हैं।

(५) **आकाशीय प्रधान द्रव्य**—यह द्रव्य, मृदु, लघु, श्लक्ष्ण (मुलायम) और शब्द गुण प्रधान होते हैं।

## पंचभूतात्मक रसों के गुण

अब रसों के गुणों का वर्णन करेंगे। सभी रस पंचभूतात्मक द्रव्यों के आश्रित रहते हैं। विशेष रस विशेष भूत प्रधान द्रव्य में पाया जाता है। शेष रस उस द्रव्य में गौण रूप में होते हैं।

(१) **मधुर रस**—यह रस गुणों में शीत, स्निग्ध और गुरु है, अतः बलवर्द्धक और पुष्टि कारक है। यह कफवर्द्धक और वात-पित्तनाशक है। यह पृथ्वी और जलभूत प्रधान रस है।

(२) **अम्ल रस**—यह रस गुणों में उष्ण, स्निग्ध और लघु है, अतः दीपक, पाचक, रोचक और बलवर्द्धक है। यह वातानुलोमक, पित्तवर्द्धक और कफविश्लेषक है। यह पृथ्वी और अग्निभूत प्रधान है।

(३) **लवण रस**—यह रस गुणों में उष्ण, स्निग्ध और गुरु है। यह दीपक, पाचक, मार्दव कारक और सारक है। यह वातनाशक, पित्तवर्द्धक और कफ द्रावक है। यह जल और अग्निभूत प्रधान रस है।

(४) **कटु रस**—यह रस गुणों में उष्ण, रुक्ष और लघु है। यह वात-पित्त प्रकोपक और कफनाशक है। यह दीपक, रोचक और पुंसत्व नाशक है। यह अग्नि और वायुभूत प्रधान रस है।

(५) **तिक्त रस**—यह रस गुणों में शीत, रुक्ष और लघु है। यह दीपक, पाचक, ज्वरघ्न, रक्तशोधक और धातुशोधक है। यह वायु कारक और पित्त-नाशक है। यह पृथ्वी और आकाशभूत प्रधान रस है।

(६) **कषाय रस**—यह रस गुणों में शीत, रुक्ष और लघु है। यह वायु कारक तथा कफ-पित्त-रक्त शामक है। यह पृथ्वी और वायुभूत प्रधान रस है।

## षड्धातु संयोगी पुरुष के पंचभूतात्मक अवयव

(१) **पार्थिव अंग-प्रत्यंग**—शरीर के वह सभी अवयव जो स्थूल, स्थिर, मूर्तिमान, गुरु, खर और कठिन हैं, वह सब पार्थिव अंग कहलाते हैं। जैसे अस्थियाँ, नख, दन्त, केश कण्डरायें, चर्म, मांसादि तथा नाक और गन्ध भी।

(२) **आप्य अंग**—शरीर के वह सभी अवयव जो द्रव, सर, मन्द, स्निग्ध, मृदु और पिच्छल हैं, आप्य अंग कहलाते हैं—जैसे रस, रुधिर, कफ, पित्त, वसा, मूत्र, स्वेदादि तथा जिह्वा और रस भी।

(३) **आग्नेय अंग**—शरीर के वह सभी अवयव जो पित्त और ऊष्मा से युक्त हैं और जठराग्नि बनाते हैं। इसमें पाचक संस्थान के वह सभी अंग-प्रत्यंग सम्मिलित

हैं जो लाल ग्रन्थियों से लेकर बृहदन्त्र तक पाये जाते हैं। इसमें आमाशय, पक्वाशय, यकृत, क्लोम, क्षुद्रान्त्र के अंग आते हैं, जो भिन्न-भिन्न पाचक रस बनाकर भोजन का परिपाक करके आहार रस तैयार कर लेते हैं तथा चक्षु रूप और सौन्दर्य भी।

(४) **वायवीय अंग**—शरीर के वह सभी अंग-प्रत्यंग जो ऐच्छिक और अनैच्छिक क्रियाओं के सहायक हैं—जैसे श्वासोच्छास संस्थान के अंगों का आकुंचन और प्रसारण, रक्तवाहक संस्थान का रक्त परिभ्रमण, पाचक संस्थान के अंगों का पाचक रस निर्माण और पाचक क्रियायें, वातनाड़ी संस्थान की सांवेदिक और संचालक क्रियायें तथा अन्य सभी क्रियायें। इसके अतिरिक्त त्वचा और स्पर्श भी।

(५) **आकाशीय अंग**—शरीर के छोटे-बड़े छिद्रस्थान हैं। जैसे नासागुहा, कर्णगुहायें, सूक्ष्म स्वेदस्रोत आदि तथा कर्ण और शब्द भी।

(६) **आत्मज अंग**—शरीर के प्रेरणाकारक अंग जैसे मन और अन्य अध्यात्मज द्रव्य।

उपर्युक्त वर्णन से विदित हो गया कि हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग, दोष, धातु, मल आदि सभी पाँच महाभूतों के रासायनिक परिवर्तनों से बने हैं। इन भूतों की समावस्था से षड्धातु संज्ञक पुरुष का शरीर स्वस्थ रहता है। इनकी विषमता अर्थात् बढ़ने-घटने से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है अर्थात् रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

## प्राकृतिक भौतिक चिकित्सा प्रणाली

### रोगों की उत्पत्ति का कारण

महर्षि चरक ने रोगों की उत्पत्ति पर निम्न सूत्र में प्रकाश डाला हैं—

**'यदा अस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते, तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति। वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूनां वृद्धि ह्लास गमनं।** —च० श० ६/४

अर्थात् जब षड्धातु पुरुष के धातुओं (भूतों) में विषमता आ जाती है, कोई धातु बढ़ जाता है कोई घट जाता है, तो इस प्रकार की विषमता से शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है अथवा नाश को प्राप्त हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भूतों की विषमता से रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

अब स्वास्थ्य-लाभ के सम्बन्ध में भी यह निम्न सूत्र देखें—

**'तदेवतस्माद्भेषजं सम्यगवर्चयमाणं युगपन्न्यूनातिरिक्तानां धातूनां साम्यकरं भवति। अधिकमपकर्षति न्यूनं आप्यायति।'** —च० श० ६।६

अर्थात् उचित रूप से विचार पूर्वक औषधि के प्रयोग से बढ़े हुए भूतों को घटाने

से और घटे हुए भूतों को बढ़ाने से धातुओं (भूतों) की साम्यावस्था लाई जाती है, जिससे स्वास्थ्य लाभ हो जाता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि भूतों की साम्यावस्था से शरीर स्वस्थ रहता है। आगे निम्न सूत्र से इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई है—

'येषामेव हि भावानां संपत् संजनयेन्नरम्।
तेषामेव विपद्व्याधीन् विविधान्समुदीरयेत्।।' —च० श० २५।२९

अर्थात् जिन भावों या सजातीय भूतों के प्राकृतिक प्रशस्त गुणों से षडधातु, संयोगी पुरुष की उत्पत्ति हो जाती है, उन्हीं के विगुणों अर्थात् विकृति से, मनुष्य को व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। स्मरण रहे धातुओं की विषमता को विकार कहते हैं—"विकारो धातु वैषम्यम्।" —च० सू० ९।४ अर्थात् धातुओं की विषमता को विकार कहते हैं।

मनुष्य को अपना जीवन स्वस्थ रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह द्रव्यों के गुणों और रसों की जानकारी रखता हो, कम-से-कम उन खाद्य द्रव्यों की जानकारी तो अवश्य होनी चाहिए, जिनका प्रयोग जीवन निर्वाह के लिए दिनानुदिन होता रहता है। द्रव्यों के गुणों और रसों की जानकारी के बिना उनका सेवन पशुवत करना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक ही नहीं, अपितु विनाशकारी भी हो सकता है। ऐसी जानकारी होने से मनुष्य अपना चिकित्सक आप ही हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पूर्वकाल में मनुष्य घर-घर में अपने चिकित्सक आप ही हुआ करते थे और घर-घर में आयुर्वेद का प्रचार था। रोगियों की संख्या इतनी अधिक नहीं हुआ करती थी, जितनी आज देखने में आती है। इसका कारण है आधुनिक अप्राकृत जीवनयात्रा और अप्राकृत चिकित्सा का रिवाज, जो रोगियों की संख्या बढ़ाती ही चली जा रही है, घटाती नहीं। यदि अब भी मनुष्य प्राकृतिक जीवनयात्रा के नियमों को अपनाये और प्राकृतिक आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति में विश्वास रखे, तो वह शारीरिक और मानसिक रोगों से बहुत हद तक मुक्त रह सकता है, और स्वस्थ-दीर्घ-जीवन का आनन्द भोग सकता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

रोगों की उत्पत्ति का कारण समझने के लिए एक उदाहरण लिखा जाता है।

एक व्यक्ति पृथ्वीभूत प्रधान आहार आवश्यकता से अधिक मात्रा में सेवन करता है। शरीर में पहुँच जाने से, उस पृथ्वीभूत से बने हुए अवयवों की वृद्धि हो जाती है। वह अवयव स्थूल और गुरु हो जाते हैं, मोटापा उत्पन्न हो जाता है, वजन बढ़ जाता है, इत्यादि-इत्यादि। इसी प्रकार किसी महाभूत की अल्पमात्रा शरीर में पहुँच जाने से, उस महाभूत से बने हुए अवयव क्षीण हो जाते हैं। भूतों की यह वृद्धि और क्षीणता, विषमावस्था कहलाती है। विषमावस्था ही रोगावस्था

कहलाती है। इससे मनुष्य का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इसको दूर करने के लिए क्षीण हुए धातुओं को वृद्धि करने वाले अथवा बढ़ी हुए धातुओं को क्षीण करने वाले खाद्य द्रव्यों का प्रयोग करना पड़ता है। इससे महाभूतों की विषमावस्था दूर की जा सकती है। उनके समावस्था में आ जाने से शरीर को पुनः स्वास्थ्य लाभ हो सकता है। अयुक्त (बेढ़ंग) आहार से भूतों की समावस्था बिगड़ती रहती है फिर उचित और हित आहार से यह विषमावस्था दूर करके समावस्था लाकर शरीर को पुनः स्वस्थ बनाया जाता है। इसी चिकित्सा दृष्टि से ही आयुर्वेद ने षड्धातु संज्ञक पुरुष को जीवन का स्वरूप स्वीकार किया है। शरीर का स्वास्थ्य संरक्षण, स्वास्थ्य संवर्द्धन और रोग निवर्तन इसी सिद्धान्त के आधार पर होता है।

मनुष्य के जीवन का आधार यही खाद्य-द्रव्य हैं। खाद्य-द्रव्यों से ही हमारा भोजन बनता है। इसके संयुक्त समयोग सेवन् से शरीर स्वस्थ रहता है और शरीर के पंचभौतिक अंग-प्रत्यंग, पोषित होते रहते हैं। बल, वर्ण और ओज बढ़ता है और स्वस्थ दीर्घ जीवन प्राप्त हो जाता है।

इन द्रव्यों से औषधियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं, जिनको रोगावस्था में युक्ति पूर्वक प्रयोग करने से रोगमुक्ति हो जाती है, और पुनः स्वास्थ्य-लाभ हो जाता है। द्रव्यों में यह शक्ति, उनके आश्रित गुणों और रसों से प्राप्त हो जाती है। इसका आविष्कार भारतीय आयुर्वेदीय शास्त्रज्ञों ने आज से कई हजार वर्ष पूर्व किया था जब समस्त संसार अज्ञान के अगाध समुद्र में गोते मार रहा था। भारतीय विज्ञान की इस रश्मि ने संसार के समस्त प्राणियों को आधुनिककाल तक बराबर जीवित रखा। इस युग में जो विविध प्रकार की नई-नई चमत्कारिक औषधियाँ आविष्कृत हुई हैं या होती रहेंगी, वह इन्हीं द्रव्यों के आश्रित गुणों और रसों की करामात से सम्भव हो पाया है। भारतीय वैज्ञानिकों की इस खोज का लाभ आधुनिक काल में विदेशी उठा रहे हैं और पैसा कमा रहे हैं। अब समय आया है जब इन द्रव्यों के गुणों और रसों की रासायनिक क्रियाओं का विश्लेषण नये ढंग से भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा किया जाना चाहिए ताकि विश्व का अधिक से अधिक कल्याण हो सके। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद विज्ञान में बहुत-सी दिव्य औषधियों का वर्णन आया है जैसे सोमलता, अष्टवर्ग आदि-आदि। उनकी खोज करके उन्हें उपलब्ध कराया जाए। कुछ प्राकृतिक औषधियाँ लुप्त हो गई हैं जैसे वंशलोचन, कस्तूरी आदि उनको भी बाजार में सुलभ बनाया जाए और जीर्ण तथा पुरानी जड़ी-बूटियों के स्थान पर ताजा औषधियों के भण्डार खोले जाने चाहिएं। ऐसे प्रगतिशील काम करने से आयुर्वेद में नया जीवन आएगा और इसकी उन्नति सम्भव हो सकेगी।

**त्रिदोष सिद्धान्तः वात, पित्त, कफ**

पाठकवृन्द अब भली प्रकार से समझ गये होंगे कि भौतिक सिद्धान्त के आधार पर भूतों की समावस्था से स्वास्थ्य बना रहता है और इनकी विषमावस्था से रोग उत्पन्न हो जाते हैं। देखें कितना सरल, सुन्दर और सत्यता के आधार पर विश्वस्त सिद्धान्त है, रोगों की उत्पत्ति और उनसे मुक्ति का। यदि मनुष्य इस दृष्टिकोण को अपनाये तो वह प्राकृतिक नियमों के आधार पर उचित आहार-बिहारादि के सेवन से अपना स्वास्थ्य बनाए रखने में बिना औषधि के भी सफल रह सकता है। इस प्राकृतिक भौतिक चिकित्सा प्रणाली के आधार पर, बहुत काल तक स्वास्थ्य की देखभाल होती रही और रोगों का उपचार भी होता रहा। इस चिकित्सा-प्रणाली में चार भूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से उत्पन्न हुई विषम अवस्था को औषधियों और भिन्न-भिन्न शीत और उष्ण उपचारों से समावस्था में लाया जाता था। आकाशभूत का रोगों के उत्पादन में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि यह सर्वमूर्तसंयोगी होता है, इसमें विषमता आ नहीं सकती। रोगों का कारण शेष चार भूत ही हो सकते हैं। इनमें वृद्धि या ह्रास होकर विषमावस्था उत्पन्न हो जाती है जिससे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जिस-जिस भूत में विषमावस्था अर्थात् वृद्धि व ह्रास हो जाता था, तो उस बढ़े हुए भूत को घटाकर और घटे हुए भूत को बढ़ाकर समावस्था में लाया जाता था। ऐसी चिकित्सा औषध द्रव्यों से और आहार द्रव्यों से की जाती थी, जिनके आश्रित २० गुण और ६ रस रहते हैं, इनके प्रयोग से तथा पृथ्वी और जल के भिन्न-भिन्न शीत और उष्ण उपचारों से भी काम लिया जाता था।

यह भौतिक चिकित्सा-प्रणाली बहुत काल तक चलती रही। समय बीतने पर इसमें सुधार लाया गया, क्योंकि चार धातुओं का तारतम्य भाग समझना बहुत कठिन काम था। साधारण चिकित्सक के लिए यह समझना एक समस्या थी। इसलिए आयुर्वेद विशेषज्ञों ने इसको सरल बनाने के लिए अनथक प्रयास किये। इस विश्लेषण कार्य में उन्हें शताब्दियाँ लगीं। फलस्वरूप भौतिक सिद्धान्त के आधार पर त्रिदोष सिद्धान्त ने जन्म लिया और पाँच महाभूतों का अन्तर्भाव तीन दोषों में हुआ। यथा—

(१) आकाश मारुताभ्यां वायु—आकाश और वायु से वायु की उत्पत्ति है।
(२) आग्नेयं पित्तं—अग्नि से पित्त की उत्पत्ति है।
(३) अम्भः पृथ्वीभ्यां श्लेष्मा—जंल और पृथ्वी से कफ की उत्पत्ति है।

इस विश्लेषण से पाँच महाभूतों का अन्तर्भाव त्रिदोष अर्थात् वात, पित्त और कफ में हुआ।

प्रचलित आयुर्वेद त्रिदोष सिद्धान्त का कारण प्राकृतिक भौतिक सिद्धान्त है। यह उसी भौतिक सिद्धान्त का सुधरा हुआ प्रभावशाली रूप है। पूर्वकाल में भौतिक

चिकित्सा प्रणाली से ही स्वास्थ्य का संरक्षण, संवर्द्धन और रोग निवारण होता रहा। परन्तु समय बीतने के साथ-साथ अनगिनत कठिनाइयाँ उत्पन्न होती रहीं। देश में जनसंख्या बढ़ती चली गई, इसके साथ-साथ व्याधियाँ भी बढ़ती गईं और ओषधियों की आवश्यकता भी बढ़ती गई। अनगिनत रोगियों की चिकित्सा के लिए अनगिनत औषधियों की आवश्यकता होती है, केवल चार भूतों (द्रव्यों) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु से संचालित चिकित्सा प्रणाली पर्याप्त नहीं थी, इसके लिए विशाल भेषज-कल्पना की आवश्यकता थी और विशाल कार्यक्षम चिकित्सा प्रणाली की आवश्यकता थी। अतः तत्कालीन आयुर्वेद विशेषज्ञों ने इस समस्या को सुलझाने के अनथक प्रयास किए। उन्होंने चार भूतों (धातुओं) का विश्लेषण वर्षों पर्यन्त किया और करते रहे, फलस्वरूप उन्होंने पृथ्वी और जल धातुओं में एक समान गुण उपलब्ध किए। इस आधार पर लोक और षड्धातु पुरुष शरीर की तुलना भी की। इस विश्लेषण कार्य के आधार पर यह तथ्य पाया कि जिस प्रकार लोक में पृथ्वी और जल धातुओं के गुण धर्म और कार्य चन्द्रमा (सोम) के समान हैं, उसी प्रकार पुरुष के शरीर में इसके समान कफ धातु है। जो गुण, धर्म और कार्य लोक में अग्निरूप सूर्य के हैं, वही गुण शरीर में पित्त धातु के हैं। इसी प्रकार लोक में वायु के गुण, धर्म और कार्य के समान, शरीर का वात धातु है।

इसके साथ यह भी घोषणा की, कि जिस प्रकार पृथ्वी और जल रूप सोम, अग्नि रूप सूर्य और वायु प्राकृत अवस्था में रहकर लोक का कल्याण करते हैं और विकृत होकर इसको उपद्रवग्रस्त या संहार कर सकते हैं, ठीक उसी प्रकार शरीर में स्थित वात, पित्त और कफ धातु प्राकृतावस्था अर्थात् समावस्था में रहकर शरीर को धारण करते हुए स्वस्थ रखते हैं, और विकृत होकर इसको रोगग्रस्त या नष्ट कर सकते हैं। चरक संहिता सूत्र स्थान २२वीं वातकलाकलीय अध्याय के प्रमाणों से उपर्युक्त सभी बातों की पुष्टि होती है।

इस विश्लेषण के पश्चात् चार धातुओं पर आधारित प्राकृतिक-भौतिक सिद्धान्त के स्थान पर त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) सिद्धान्त ने जन्म लिया। चूंकि तीन धातुओं का तारतम्य, चार धातुओं के तारतम्य से अति सरल और सुगम है, अतः इस सिद्धान्त को एक कण्ठ होकर लोक ने स्वीकार किया और थोड़े ही समय में यह त्रिदोष सिद्धान्त, लोकप्रिय चिकित्सा प्रणाली बन गई।

वात, पित्त और कफ अपने प्राकृत कर्मों के द्वारा शरीर को धारण करते हुए स्वस्थ रखते हैं तब यह धातु कहलाते हैं। ऐसी स्थिति में यह समावस्था में होते हैं। वात, पित्त और कफ जब विषमावस्था में जाते हैं अर्थात् कोई दोष अधिक बढ़ता है या कोई घटता है अपने अवैकारिक मान से, तो यह दूषित हो जाते हैं और विकार उत्पन्न करते हैं, तब यह दोष कहलाते हैं। दोष कहलाने के कारण आयुर्वेद

चिकित्सा शास्त्रज्ञों ने इसका त्रिदोष सिद्धान्त नाम रखकर जगत में इसको विख्यात किया।

'वायुपित्तं कफश्चेति शरीरो दोषसंग्रहः।' —च० सू० १।५७

त्रिदोष सिद्धान्त की व्यापकता लोक और पुरुष के सभी क्षेत्रों में एक समान पाई जाती है। वात, पित्त और कफ के तीन दोषों का सम्बन्ध त्रिविध देशों की जलवायु पर है, वर्ष के छः ऋतुओं के साथ है, दिन और रात के त्रिविध कालों के साथ है, शरीर की त्रिविध अवस्थाओं के साथ है। त्रिविध द्रव्यों के आश्रित २० गुणों और ६ रसों के साथ है। इसका सम्बन्ध जठराग्नि, व्यायाम, विश्राम और आहार-बिहार आदि के साथ है, जीवन की प्रत्येक क्रिया और कोष के साथ है। इसका प्रभाव लोक और पुरुष शरीर में सर्वत्र एक-एक कण में पाया जाता है। धातु रूप से यह अपने-अपने प्राकृत कर्मों के द्वारा लोक और पुरुष शरीर को स्वस्थ रखते हैं, दोष रूप से विकृत होकर दोनों को विकारग्रस्त करते हैं।'

त्रिदोष सिद्धान्त की उपयोगिता से रोगी इसकी ओर आकर्षित हुए, इसका चिकित्सा क्षेत्र विशाल होता गया। अनगिनत रोगियों के लिए अनगिनत ओषधियाँ और बहुरंगी विशाल भेषज कल्पना की आवश्यकता होती है। अब यह आयुर्वेदिक त्रिदोष सिद्धान्त की विशाल चिकित्सा प्रणाली के द्वारा सम्भव हो सका, विविध प्रकार की औषधियाँ और भेषज कल्पनाएँ औषध निर्माण शालाओं में बनने लगीं, जिसके फलस्वरूप रोगी बराबर लाभान्वित होते रहे, होते रहते हैं और होते रहेंगे। आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली ही वास्तविक चिकित्सा पद्धति है जो प्राकृतिक नियमों के आधार पर गत सहस्रों वर्षों से लोकसेवा करती आ रही है और सर्वसाधारण जनता को लाभ पहुँचा रही है।

परन्तु अब समय बहुत कुछ बदल चुका है और बदलता रहता है, नये रंगों में रँगा जा रहा है। अब आयुर्वेद को भी नये रंग में प्रस्तुत करके आकर्षक बनाने की आवश्यकता है। शल्य-कर्म की ओर ध्यान देकर शल्य चिकित्सा कर्म में नया जीवन फूंकने और निदान के क्षेत्र में नूतनता लाने की नितान्त आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त गुणकारी और अनुभूत औषधियों और योगों से भेषज कल्पना में नये उपयोगी रंग-ढंग से चिकित्सा क्षेत्र को आकर्षक बनाने की आवश्यकता है। आयुर्वेद हितैषियों को इसकी ओर शीघ्र गतिशील होना चाहिए ऐसा करने से ही आयुर्वेद अपनी पारम्परिक गौरवता स्थापित रखने में सफल रह सकता है।

बात, पित्त और कफ़ के दोषों की उत्पत्ति और इनकी समावस्था और विषम अवस्था से मानव शरीर का स्वस्थ और रोगग्रस्त हो जाना आदि बातों का वैज्ञानिक विवरण यहाँ पर इसलिए दिया गया, ताकि पाठकों को त्रिदोष सिद्धान्त की वास्तविकता का ज्ञान हो जाए जिसकी उत्पत्ति प्रकृति के पाँच महाभूतों से हुई है। उसके

आधार पर इसको एक प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया है। इतना बताकर अब स्वस्थ-दीर्घ-जीवन के सम्बन्ध में वार्ता आगे बढ़ाएँगे और सर्वप्रथम स्वस्थ शरीर के लक्षणों से इसका आरम्भ करेंगे।

**स्वास्थ्य के लक्षण**

**'समदोषः समग्निश्च समधातुमलक्रिया।**
**प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थेत्यभीधीयते।।'**—च० सू० १५।४१

अर्थात् स्वस्थ वह मनुष्य है जिसके शरीर में निम्न लक्षण हों—

१. तीनों दोष वात, पित्त और कफ शरीर की प्रकृति के अनुसार सम हों।
२. चार प्रकार की अग्नियों में समाग्नि हो।
३. सात प्रकार की धातुओं की क्रियाएँ सम हों।
४. मलों अर्थात् मूत्र, पुरीष, गन्धी वायु (अपान वायु और निःश्वास वायु), स्वेद आदि मलों की बनने और निकास क्रियाएँ सम हों।
५. इन्द्रियाँ, मन और आत्मा प्रसन्न हों।

आयुर्वेदिक दृष्टि से उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार वही मनुष्य स्वस्थ हो सकता है जिसके तीनों शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर स्वस्थ हों। केवल स्थूल शरीर के आरोग्य सम्पन्न होने से मनुष्य को स्वस्थ नहीं कहा जा सकता, मन और आत्मा भी प्रसन्न होने चाहिएं। विकारों से अभिभूत उद्विग्न मन अस्वस्थ शरीर का चिह्न है।

स्थूल शरीर के अंगों का पृथक्-पृथक् विभाग (संस्थान) होते हुए भी आयुर्वेद में इसका विभाग दोष, धातु और मल के रूप में किया गया है। कारण कि यह तीनों शरीर के उपादान कारण हैं। कहा भी है—

**'दोष धातु मल मूलं हि शरीरं।'** —सु० सू० १५।१३

अर्थात् शरीर का मूल दोष, धातु और मल हैं। इन तीनों में भी प्राधान्य दोषों का ही है। शरीर को जीवित रखने के लिए जो भी क्रियाएँ आवश्यक हैं, उनका मूल वस्तुतः दोष ही हैं। स्वास्थ्य का मूल प्राकृत वायु है और विकारों का मूल विकृत वायु है। इसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य (प्रसन्नता) का मूल सत्त्वगुण प्रधान मन है और मानसिक विकारों का मूल रजोगुण प्रधान मन है। इसी प्रकार अग्नियों में समाग्नि स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, क्योंकि समाग्नि से ही भोजन का परिपाक विधिवत होता है। इससे शुद्ध आहार रस तैयार हो जाता है जिससे शरीर की धातुओं की पोषण क्रिया समावस्था से हो जाती है। फलस्वरूप शरीर का बल, वर्ण और ओज बढ़ता है। स्वास्थ्य के यह अनुपम लक्षण, केवल आयुर्वेद जीवन शास्त्र की देन हैं। इन लक्षणों से युक्त मनुष्य को स्वस्थ मनुष्य कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं!

आइये, अब दोषों के बारे में जानकारी प्राप्त करें—

# धातु रूप वात, पित्त और कफ के कर्म

## धातु रूप प्राकृत वात के कर्म

**"उत्साहोच्छ्वास निःश्वास चेष्टा धातु गति समा।**
**समो मोक्षो गतिमतां वायो कर्माविकारजम्॥'—च० सू० १८।४९**

अर्थात् प्राकृत वात से शरीर में सभी प्रकार की गतियाँ (हरकतें) समावस्था में चालू रहती हैं। इनमें श्वासोच्छ्वास संस्थान की क्रियायें, रक्तपरिभ्रमण की क्रियायें, धातुओं को समावस्था में निर्माण करने की क्रियायें, मलों को समावस्था में निर्माण और निकास करने की क्रियायें, भिन्न-भिन्न ग्रन्थियों से रस बनाने और प्रयोग करने की क्रियायें और वे अन्य सभी क्रियायें जो स्वास्थ्य निर्माण, कारक, संरक्षक और संवर्द्धक हैं, इसमें सम्मिलित हैं। देखें—

**"अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः।**
**वायुः स्थात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समा शतम्॥" —च० सू० २८।४**

अर्थात् जिस मनुष्य का वात प्रकृतिस्थित होकर बिना किसी रुकावट के शरीर में गतिशील होकर अपनी क्रियायें चलाता है। वह स्वस्थपूर्वक सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है। देखें—

**"सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः।**
**तेनैव रोगाः जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते॥"—च० सू० १६।११८**

अर्थात् वात के कारण मनुष्य के जीवित रहने से सम्बन्धित सभी क्रियायें ठीक ढंग से चालू रहती हैं। इसी से प्राण बना रहता है। वात के विकृत होने से व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और इसी विकृत वात के कारण मनुष्य पंचत्व को प्राप्त हो जाता है।

## धातु रूप प्राकृत पित्त के कर्म

**"दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्।**
**प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्॥" —च० सू० १८।५०**

अर्थात् नेत्रों की ज्योति, शरीर की ऊष्मा, आहार का पाचन, भूख और प्यास का लगना, शरीर की लचक, सुन्दरता, मन की प्रसन्नता और बुद्धि का विकास यह धातुरूप प्राकृत पित्त के कर्म हैं। और भी देखें—

**पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते।**
**तच्च पित्तं प्रकुपितं विकरान् कुरुते बहून्॥" —च० सू० १७।११६**

अर्थात् शरीर की उष्णता पित्त के ही कारण है। इसी से मनुष्य की जठराग्नि बनती है जो भोजन का परिपाक करती है। पित्त के प्रकुपित होने से नाना प्रकार के रोग शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं।

**धातु रूप प्राकृत कफ के कर्म**

"स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम् ।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ॥" —च० सू० १८।५१

अर्थात् सन्धियों के बन्धन और उनकी दृढ़ता, भारीभन (गौरवता), पुंसत्वशक्ति की अधिकता, बल, सहिष्णुता, मन की अचंचलता और लोभ न होने कारण मन की विशालता, यह सब प्राकृत कफ धातु के लक्षण (कर्म) हैं। देखें—

"प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतोमल उच्यते ।
स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥" —च० सू० १८।११७

अर्थात् प्राकृत कफ से शरीर में शक्ति आ जाती है और ओज भी बनता है विकृत हो जाने से यह मल कहलाता है और रोगोत्पादक बन जाता है।

जब यही धातु, वात, पित्त और कफ विषमावस्था में हो जाते हैं, तो यह विकृत होकर स्वास्थ्य को दूषित करते हैं। फिर सभी प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं और यह दोष कहलाते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है "विकोरो धातु वैषम्यम्" अर्थात् दोषों की विषमावस्था को ही विकृतावस्था कहते हैं जिनसे शरीर के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

अब हम दोष रूप वात, पित्त और कफ के लक्षणों का वर्णन करेंगे। जो विषमावस्था में होकर स्वास्थ्य को दूषित करके रोगोत्पादन का कारण बनते हैं। इन लक्षणों के ज्ञान से हमें यह मालूम हो जायेगा कि दोषों में कौन-कौन गुण और रस हैं। इन गुणों और रसों का वर्णन द्रव्यों की चर्चा में पहले ही किया गया है जो इन द्रव्यों में आश्रित रहते हैं।

## दोष रूप वात, पित्त और कफ के लक्षण

**वात दोष के लक्षण**

"रुक्षः शीती लघु सुक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः ।
विपरीतगुणैः द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥" —च० सू० १।५९

अर्थात् रुक्ष (खुश्क), शीत (ठंडा), लघु (हल्का), सूक्ष्म (बारीक), चल (गतिशील), विशद और खर यह वायु के लक्षण हैं। इनके विपरीत गुणों वाले द्रव्यों से वायु शान्त हो जाता है।

**पित्त दोष के लक्षण**

"सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीत गणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥" —च० सू० १।६०

अर्थात् स्नेहयुक्त, उष्ण (गरमतर), तीक्ष्ण (तेज), द्रव (पतला), अम्ल (खट्टा),

सर (मन्द-मन्द चलने वाला), कटु (चरपरा), यह पित्त के लक्षण हैं। इनके विपरीत गुणों वाले द्रव्यों के प्रयोग से पित्त शान्त हो जाता है।

**कफ दोष के लक्षण**

"गुरुशीतमृदुस्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं याति विपरीतगुणैर्गुणः।।" —च० सू० १।६१

अर्थात् गुरु (भारी), शीत (ठण्डा), मृदु (नर्म), स्निग्ध (चिकना), मधुर (मीठा), स्थिर (न हिलने वाला) और पिच्छल यह कफ के लक्षण हैं। विपरीत गुण वाले द्रव्यों के प्रयोग से यह कफ शान्त हो जाता है।

ऊपर लिखित दोषों के लक्षणों से हमें यह ज्ञात हुआ कि समान गुण वाले द्रव्यों के प्रयोग से दोषों की वृद्धि हो जाती है अर्थात् दोष बढ़ जाते हैं और विपरीत गुण वाले द्रव्यों के सेवन से इनका ह्रास हो जाता है अर्थात् शान्त हो जाते हैं। दोषों के बढ़ने या घटने से दोषों की समावस्था समाप्त हो जाती है और यह विषमावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। दोषों की विषमावस्था से विकार उत्पन्न हो जाते हैं। देखें: "विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।" अर्थात् धातुओं की विषमता को विकार कहते हैं और उनकी साम्यावस्था को आरोग्य कहते हैं।

**समदोष प्रकृति**

आयुर्वेद विज्ञान के अनुसार स्वास्थ्य के लक्षणों में पहला लक्षण समदोष प्रकृति है। दोषों की यह साम्यवस्था माप-तोल से नहीं प्रत्युत इनका समत्व गर्भादान के समय दोषों की अवैकारिक मान की अवस्थिता पर निर्भर होती है। यह तो पहले लिखा जा चुका है कि प्राकृतावस्था में होने से दोष शरीर को अपने-अपने कर्मों के द्वारा स्वस्थ रखते हैं और मनुष्य को दीर्घजीवी बनाते हैं। प्राकृत वात के अवैकारिक कर्मों के अन्तर्गत आयु की अवधि सौ वर्ष कही गई है।

साम्य दोषों की निर्भरता बीज क्षेत्र-गुण-सम्पत्त पर होती है। गर्भादान के समय इसका होना अत्यन्त आवश्यक है। यह चार सम्पत्तियों के एक साथ होने पर निर्भर होता है, जो शुद्ध और विकार रहित होने चाहिएँ। यह निम्न प्रकार के हैं—

(क) माता के रज का रक्ताणु शुद्ध होना चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता है जब उसका स्वास्थ्य विकार रहित शुद्ध होगा।

(ख) पिता का शुक्र धातु शुद्ध, पुष्ट और स्वस्थ होना आवश्यक है, तभी शुक्राणु भी स्वस्थ होगा।

(ग) गर्भाशय का शुद्ध होना भी अत्यन्त आवश्यक है। यह माता के तत्काल किये हुए भोजन जनित गर्भाशय की प्रकृति पर निर्भर है।

(घ) माता-पिता के मानसिक भावों की अवस्था गर्भादान के अवसर पर विकार रहित शान्त होनी चाहिए। यह भी अत्यन्त आवश्यक सम्पत्ति है।

यदि उपरोक्त चारों सम्पत्तियाँ गर्भादान अर्थात शुक्र और शोणित के मेलक काल पर उपलब्ध हैं तो ऐसे प्रशस्त गर्भादान से स्वस्थ जातकों की उत्पत्ति निश्चयात्मक रूप से सम्भव हो सकती है। उसकी प्रकृति समदोष प्रकृति होगी, वह बड़ा होकर स्वस्थ नागरिक बन सकता है वह, अपने पावों पर खड़ा भी रह सकता है और अपने परिवार, समाज और देश की सेवा भी कर सकता है।

गर्भादान के लिए माता-पिता का उत्तरदायित्व सबसे अधिक है। उन्होंने बीज क्षेत्र गुण सम्पत्ति प्राप्त करने की उच्च शिक्षा ग्रहण की हो। इसके बिना गर्भादान का प्रयास करना या गृहस्थ धर्म को धारण करना उचित ही नहीं अपितु अनर्थकारक भी है। क्योंकि इससे अकथनीय हानि पहुँच सकती है। जातक का स्वास्थ्य दूषित होता है, वह आयु पर्यन्त अस्वस्थ ही रहता है। वह अपने लिए, अपने परिवार, अपने समाज और देश के लिए भार रूप सिद्ध होता है।

गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने से पहले गृहस्थ धर्म को चलाने के योग्य बनना होता है। उनको सन्तति उत्पन्न करने के विधि-विधान का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उनकी आर्थिक दशा भी ठीक होनी चाहिए ताकि वह अपने परिवार का पालन-पोषण, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और उनको प्रशिक्षण देने के योग्य बने। यह आश्रम अन्य तीन आश्रमों से प्रशस्त है। वह सब इसके आश्रित रहते हैं। इसलिए इन सब बातों को अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिए।

गृहस्थ धर्म को धारण करके मनुष्य का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। गृहस्थ धर्म में अतिथि सत्कार एक ऊँचा स्थान रखता है। इसका पालन किये बिना गृहस्थ धर्म कोई अर्थ नहीं रखता। यदि कोई अतिथि किसी घर से सत्कार पाये बिना निराश होकर वापस निकल जाता है तो वह अपने सारे पाप (दरिद्रता, रोग आदि) उस घर को सौंपकर वहाँ से उसका धन, वैभव और पुण्य छीनकर निकल जाता है। इसलिए अतिथि-पूजा गृहस्थ धर्म की नींव है। इसकी पालना करनी चाहिए। स्मरण रहे कि इनकी पहले परीक्षा कर लेनी चाहिए। इनमें कई मानव राक्षस और कई अनर्थकारी मानव राक्षस भी होते हैं। उनसे बचना चाहिए।

इसी प्रकार गृहस्थ धर्म धारण करके घर की जो गृहिणी बनती है उसका उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। वह घर का काम-काज चलाने में निपुण होनी चाहिए। वह अपने सदाचार और सद्गुणों से सभी सदस्यों को सन्तुष्ट रखने में दक्ष होनी चाहिए तथा अपने पतिदेव की सहमति से काम करने वाली होनी चाहिए। इन दोनों में कोई मतभेद नहीं होना चाहिए। नहीं तो घर बर्बाद होकर नरक बन जाता है। ऐसी गृहिणी त्यागने योग्य होती है। यह मनु जी का आदेश है।

गृहस्थ में उत्पन्न हुए बच्चों के पालन-पोषण, भरण-शिक्षण और प्रशिक्षण का प्रबन्ध विधिवत् होना भी बहुत आवश्यक हे। उनमें पूर्णरूप से मनुष्यत्व लाया जाना चाहिए ताकि वह बड़े होकर अपना संसार बसाने में स्वयं समर्थ बन सकें।

बीज क्षेत्र गुण की सहायता से जो सन्तान उत्पन्न होती है वह समदोष प्रकृति वाली होती है। वही आगे चलकर स्वस्थ और दीर्घजीवी मनुष्य बन सकते हैं। वह चाहें तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह चारों पदार्थ पा सकते हैं। वही देश रक्षक और लोकोपकारी बन सकते हैं। अत: माता-पिता को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पहले इन सब बातों को ध्यान में रखना चाहिए और सन्तान उत्पन्न करने के विषय में इनको अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

## वातल, पित्तल और श्लेष्मल प्रकृति

गर्भादान के समय पर बीज क्षेत्र गुण सम्पत्त की चार सम्पत्तियों में से किसी एक या अधिक सम्पत्तियों में यदि कोई विकार होगा तो ऐसी दशा में किये हुए गर्भादान से उत्पन्न जातक का स्वास्थ्य भी तद्भावजन्य विकार से ग्रस्त होगा। इस वैकारिक स्थिति में जिस-जिस दोष की प्रधानता होगी, उस-उस दोष की देह प्रकृति बन जाती है। यदि बात दोष की प्रधानता होगी तो वातल देह प्रकृति वाला जातक उत्पन्न हो जाता है। पित्त की प्रधानता से पित्तला देह प्रकृति वाला जातक उत्पन्न हो जाता है और कफ की प्रधानता से श्लेष्मला देह प्रकृति वाला जातक उत्पन्न हो जाता है। यदि दो-दो दोषों की प्रधानता होगी तो द्वन्द्वज देह प्रकृति वाला जातक उत्पन्न हो जाता है। जैसे वात-पित्तल, वात-श्लेष्मल और पित्त-श्लेष्मल प्रकृति वाले जातक। स्मरण रहे कि समदोष प्रकृति वाले स्वस्थ होते हैं, शेष सभी वातलादि प्रकृति वाले सदा ही रोगी बने रहते हैं। कहा भी गया है।—

**'समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादि मानवाः।**
**दृश्यन्ते वातलाः केचित्पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा।**
**तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः॥"**—च० सू० ७।३७-४०

अर्थात् कई मानव समदोष प्रकृति वाले दिखाई देते हैं और कई वातल, कई पित्तल और कई श्लेष्मल देह प्रकृति वाले दिखाई देते हैं। समदोष प्रकृति वाले स्वस्थ होते हैं। वातलादि सदा रोगी रहते हैं।

इनकी देह प्रकृति दोषानुसार होती है। मामूली मिथ्याहार-विहार से इन वातलादि मनुष्यों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। और वह शीघ्र रोगाक्रान्त हो जाते हैं। इनको अपना स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए सावधान रहना चाहिए। इनका स्वास्थ्य थोड़े ही अपथ्य से बिगड़ जाता है और शीघ्र ही भयंकर रूप धारण कर लेता है। ऐसे व्यक्तियों को अपनी देह प्रकृतियों के विपरीत गुणों और

रसों वाले आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। इसके लिए चरक का आदेश है। देखें—

"विपरीत गुणैस्तेषां स्वस्थ वृत्तेर्विधिर्हितः।" —च० सू० ७।४१

अर्थात् इन वातलादि देहप्रकृति वालों को अपनी-अपनी देहप्रकृति के विपरीत गुणों युक्त औषधियों और आहार द्रव्यों के सेवन से स्वास्थ्य-लाभ होता है।

### विकारों का शमन उपाय

दोषों में विषमता आ जाने से दोष कुपित हो जाते हैं और विकार उत्पन्न कर डालते हैं। विकारग्रस्त रोगी के शरीर में कुपित हुए दोषों के अनुरूप कुछ लक्षण प्रकट हो जाते हैं। उन लक्षणों का निरीक्षण करके विकार के कारण का निदान किया जाता है। विकार को शान्त करने के लिए कुपित हुए दोषों के गुणों के विपरीत गुण वाली औषधियों और आहार-द्रव्यों से उपचार करके दोष को शान्त किया जाता है। फिर विकार से मुक्ति हो जाती है। चरक संहिता में आदेश हुआ है—

विपरीत गुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः।
भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकाराः साध्यसंमताः॥ —च० सू० १।६२

अर्थात् (१) दोषों के विपरीत गुण वाली औषधियों के प्रयोग से,
(२) देश के विपरीत गुण वाली औषधियों के प्रयोग से, तथा
(३) काल के विपरीत गुण वाली औषधियों के प्रयोग से साध्य विकार शान्त हो जाते हैं।

**विकारों के शमन में दोष-विपरीत गुण**—पहले हम दोषों के विपरीत गुणों के प्रयोग की व्याख्या करेंगे। उदाहरण के लिए एक रोगी है उसको कफज विकार हुआ है। उसके शरीर में गुरुत्व, शीतत्व, स्थिरत्व और स्निग्धत्व आदि लक्षण पाये जाते हैं। यह सब कफ दोष के लक्षण हैं। इनको शान्त करने के लिए इनके विपरीत गुणों वाली औषधियों से उपचार करेंगे। जैसे—गुरुत्व को शान्त करने के लिए लघन करना, लघु गुण वाले आहार का सेवन करना तथा थोड़ा-थोड़ा व्यायाम करना। इस उपचार से शरीर में लाघवता आकर गुरुत्व दूर हो जाता है।

शीतत्व को शान्त करने के लिए उष्ण उपचार करेंगे। ऐसा करने के लिए उष्ण जल का प्रयोग करना, ऊनी वस्त्रों को धारण करना, उष्ण ग्रह या उष्ण जलवायु देश में निवास करना और उष्ण गुण युक्त औषधियों और आहार द्रव्यों का प्रयोग करना, इत्यादि इत्यादि। इस उपचार से शरीर में उष्णता आकर शीतत्व हट जाता है।

स्थिरत्व को दूर करने के लिए मल, मूत्र, स्वेद अपानवायु आदि का विबन्ध खोलकर उनको चालू रखना, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को क्रियाशील बनाने के

लिए व्यायाम, योगासन और प्राणायाम का अभ्यास करना, इत्यादि इत्यादि। इस उपचार से सरता आकर स्थिरता हट जाती है।

स्निग्धता दूर करने के लिए रुक्ष गुण वाली औषधियों और आहार द्रव्यों का प्रयोग करना, भोजन के साथ घी, तेल और वसा का प्रयोग बन्द करना या कम करना और आलस्य को छोड़कर श्रमकार्य करना, इत्यादि इत्यादि। इस उपचार से स्निग्धता हटकर रुक्षता आ जाती है।

इसके अतिरिक्त कोई और लक्षण हो तो उसके विपरीत गुण युक्त औषधि के प्रयोग से विकार का शमन किया जाता है।

कफ दोष के शमन में कटु, तिक्त और कषाय रसों का सेवन लाभकारी रहता हैं। शेष रसों से उनकी वृद्धि हो जाती है।

इसी प्रकार पित्त दोष से उत्पन्न विकारों का शमन करने के लिए उसके विपरीत गुण युक्त शीत औषधियों और आहार द्रव्यों का सेवन लाभकारी रहता है—जैसे, खान-पान और स्नानादि में शीतल जल का प्रयोग, दूध, दही, मक्खन और मधुर फलों के रसों का प्रयोग, शीतगृह या शीत जलवायु देश में निवास, सूती वस्त्रों को धारण करना और अन्य शीत गुण युक्त उपचारों से पित्तज विकार शान्त हो जाते हैं। इसमें मधुर, तिक्त और कषाय रसों का प्रयोग लाभकारी रहता है। शेष रस पित्तवर्द्धक होते हैं।

यदि विकार वात दोष के कोप से उत्पन्न हुआ है तो उसका शमन वात के विपरीत गुणवाली औषधियों और आहार द्रव्यों के सेवन से किया जाता है। इसके लिए उष्ण, स्निग्ध और गुरु पौष्टिक पदार्थ उपयोगी होते हैं। मधुर, अम्ल और लवण रसों के प्रयोग से वायु शान्त हो जाता है। शेष रस वायु वर्द्धक होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से आपको बिदित हो गया होगा कि जिस दोष के कोप से कोई विकार उत्पन्न हो जाता है तो उसी दोष के विपरीत गुण युक्त औषधि और आहार द्रव्यों के प्रयोग से उस विकार की शान्ति हो जाती है। इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि वह अपना स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए दोषों की समावस्था में कोई विषमता न आने दे। युक्तिपूर्वक सन्तुलित आहार-विहार से मनुष्य स्वस्थ रह सकता है।

**शीतकृत और उष्णकृत रोग और उनका उपाय**—पीछे हमने यह विवेचना की है कि यह संसार छः धातुओं से बना है। बनाने वाला परमात्मा है और बनाया गया है आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के पांच महाभूतों से। आकाश इसमें सर्वमूर्त संयोगी है। सारा खेल वायु, अग्नि रूप सूर्य और जल तथा पृथ्वी रूप सोम का चल रहा है। इन्हीं के गुणों से यह व्याप्त है। इन्हीं से यह प्रभावित भी होता रहता है। यह प्राकृतावस्था में रहकर संसार का समस्त व्यवहार ठीक ढंग से चला रहे हैं। परन्तु इनके विकृत होने से यह उपद्रव भी उत्पन्न कर सकते

हैं। यही स्थिति पुरुष के शरीर की भी है। यह छः धातुओं से बना है। इनके प्रतीक शरीर में वात, पित्त और कफ धातु हैं। प्राकृतावस्था में यह शरीर को धारण करके स्वस्थ रखते हैं तब इनकी संज्ञा धातु होती है। कुपित होकर यह शरीर को रोगग्रस्त करते हैं तब यह दोष कहलाते हैं। चूंकि वात और कफ शीत गुण प्रधान दोष हैं और पित्त उष्ण गुण प्रधान इसलिए शीत और उष्ण की दृष्टि से रोग दो प्रकार के बन जाते हैं—शीतकृत और उष्णकृत। चरक संहिता में इन दो प्रकार के रोगों के उपचार का आदेश इसी विधान से ही हुआ है।

**"शीतेनोष्णकृतान् रोगाञ्छमयन्ति भिषग्विदः।**
**ये तु शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं भिग्जितम्॥** —च० सू० ४।४६

अर्थात् जो रोग शीत गुण से उत्पन्न शीतकृत रोग हैं उनका उष्ण उपचार से शमन करना चाहिए और जो उष्ण गुण से उत्पन्न उष्णकृत रोग हैं उनको शीत उपचार से जीत लेना चाहिए। देखें कितना सुन्दर, सरल और सिद्ध उपचार है। यही उपचार प्राकृतिक नियमों के अनुसार मान्य भी है। इस प्रकार के उपचार से व्याधि समूल नाश हो सकती है और उपद्रव भी उत्पन्न नहीं हो सकते। नहीं तो एक व्याधि दबकर दूसरा विकार जन्म ले, वह आयुर्वेदिक दृष्टि से चिकित्सा नहीं कहलाती।

हम प्राकृतिक नियमों के आधार पर रोगों की चिकित्सा नहीं करते। हम इन नियमों को छोड़कर वहुत दूर चले गये हैं। चाहिए तो यह था कि उष्णकृत रोगों को शीत उपचार से दूर करते और रोगी को स्वास्थ्य लाभ हो जाता। ऐसा हम नहीं कर करते। प्रत्युत इसके स्थान पर हम मिर्च, मसाले, मद्य, मत्स्य और मांसादि उष्णगुण प्रधान द्रव्यों का प्रयोग अन्धाधुन्ध करते रहते हैं जिससे हानि ही हानि पहुँच जाती है। इसी प्रकार शीतकृत रोगों में भी विरुद्ध उपचार करते हैं। ऐसा करके विकारों को कष्टसाध्य बनाकर उपद्रवों का आवाहन करते हैं। तो आप ही निर्णय कीजिए कि इस प्रकार के उपचार से रोगमुक्ति कैसे हो सकती है। हमारा कोई हित इससे नहीं हो सकता। इसलिए जब तक हम स्वास्थ्य के नियमों को नहीं अपनायेंगे, उनके अनुसार अपने जीवन को नहीं ढालेंगे, तब तक हमारा स्वस्थ रहना और स्वस्थ रहकर दीर्घजीवन को प्राप्त करना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी है।

(२) **विकारों का शमन करने में देश और दोष**—विकारों के शमन उपचार में देश का भी ध्यान रखना पड़ता है। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार देश तीन प्रकार के माने गये हैं। जाङ्गल, अनूप और समदेश।

(१) **जाङ्गल देश**—इस देश में धूप तीक्ष्ण पड़ती है। वायु भी तीक्ष्ण चलती है। जल कम पाया जाता है। वृक्षों की उपज कम होती है। यहाँ की जलवायु उष्ण और रुक्ष होती है। यह वात-पित्त प्रधान देश होता है। इसमें शीत,

मधुर और स्निग्ध भोज्य पदार्थों का सेवन लाभकारी रहता है।

(२) **अनूप देश**—इस देश में धूप कम निकलती है। वायु कम चलती है। जल अधिक पाया जाता है। हरे-भरे वन पाये जाते हैं। जलवायु शीतस्निग्ध होती है। इन कारणों से यह कफ प्रधान देश है। यहाँ लघु, उष्ण और रुक्ष गुण तथा कटुरस प्रधान भोज्य पदार्थों का सेवन लाभकारी रहता है।

(३) **समदेश**—इस देश में जलवायु, शीत और धूप समरूप में पाई जाती है। इसलिए जलवायु भी सम होती है। दोष समावस्था में रहने के वातावरण भी होता है यहाँ सभी रसों की उपज होती है और सभी रसों का सेवन भी समान रूप से होता है।

रोगों के उपचार में देश की जलवायु की जानकारी होनी आवश्यक होती है। इससे दोषों के उपचार में सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए अनूप देश को लीजिए, यहाँ की जलवायु शीत स्निग्ध है और यह कफ प्रधान देश है। इसलिए इस दोष के विपरीत उष्ण और रुक्ष गुण वाले आहार और औषधियों का सेवन यहाँ पर लाभकारी रहता है। इसी प्रकार जाङ्गल देश की जलवायु उष्ण रुक्ष है। इसके विपरीत शीतस्निग्ध गुण युक्त आहार-विहार का सेवन हितकर रहता है। समदेश में चूँकि जलवायु सम होती है और दोष भी समावस्था में रहते हैं इसलिए यहाँ विकारों के उत्पन्न होने की सम्भावना कम होती है। स्वास्थ्य प्रायः ठीक रहता है।

देश शब्द से रोगी का भी ग्रहण हो जाता है। रोगी की परीक्षा करके उसकी प्रकृति, बल सत्व और सात्म्य आदि बातों की जानकारी होनी चाहिए ताकि उनका विचार रखकर उपचार किया जा सके। इससे स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करने में सहायता मिल जाती है। उदाहरण के लिए कोई वातल प्रकृति वाला रोगी है। उसके उपचार में वातशमन की ओर ध्यान रखना आवश्यक है। इसी प्रकार और प्रकृति वालों का भी समझें।

इसी प्रकार रोगी का बल देखकर उपचार करना पड़ता है। क्योंकि इसी के आधार पर लंघन कराया जाता है। स्मरण रहे बलहीन के लिए लंघन निषिद्ध है।

इसी प्रकार रोगी के सात्म्य के अनुकूल उपचार करना पड़ता है।

## विकारों के शमन में काल और दोष और ऋतुचर्य्या

दोषों का काल के साथ अटूट सम्बन्ध रहता है। इसलिए विकारों के शमन में काल का स्थान बड़े महत्त्व का है। दिनों, रात्रियों और ऋतुओं से वर्ष बनते हैं। वर्षों से संवत्सर और संवत्सरों से काल बनता है।

वर्ष में दो-दो मास की छः ऋतुएँ होती हैं। शिशुर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमन्त। इनमें शिशुर वसन्त और ग्रीष्म ऋतुएँ आदान काल कहलाती हैं। शेष ऋतुएँ विसर्ग काल कहलाती है। आदान काल में सूर्य उत्तर दिशा की

और चक्कर काटता है। इसलिए इसको उत्तरायन भी कहते हैं। यह आग्नेय काल होता है। इस काल में सूर्य की गरमी उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। जो पृथ्वी की स्निग्धता को चूस कर रुक्षता बढ़ाती रहती है। द्रव्यों में तिक्त, कषाय कटु रस उत्पन्न होते हैं जो रुक्ष होते हैं। इस काल में दुर्बलता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

विसर्ग काल में सूर्य दक्षिण की ओर चक्कर काटता है। इसलिए इसको दक्षिणायन भी कहते हैं। यह सौम्य काल होता है। इसमें वर्षा के कारण गरमी उत्तरोत्तर घटती रहती है। पृथ्वी में स्निग्धता बढ़ती रहती है। द्रव्यों में अम्ल, लवण और मधुर रस उत्पन्न हो जाते हैं। इस काल में मनुष्यों में उत्तरोत्तर बल वृद्धि होती जाती है।

**ऋतुचर्य्या**

**आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम्।**
**मध्ये मध्य बलं त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत्॥"** —च० सू० ६।८

अर्थात् मनुष्यों को विसर्गकाल के अगले और आदान काल के पिछले ऋतुओं में अर्थात् वर्षा और ग्रीष्म में दुर्बलता आ जाती है। मध्य ऋतुओं शरद और वसन्त में मध्य बल और विसर्ग के पिछले और आदान के अगले ऋतुओं अर्थात् हेमन्त और शिशुर में उत्तम बल आ जाता है। यह प्राकृतिक नियम है।

**वसन्त ऋतु**—शरीर में संचित हुआ शीतकाल का कफ इस ऋतु में कुपित हो जाता है। जिससे कफज रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे—शरीर में गुरुत्व, मन्दाग्नि, आलस्य, कास, छाती का कफ से लिप्त हो जांना और मुंह का मधुर स्वाद इत्यादि इत्यादि। इसलिए इस ऋतु में कफ के विपरीत गुण वाले लघु, उष्ण और रुक्ष भोज्य पदार्थों का सेवन तथा कटु, तिक्त और कषाय रसों का प्रयोग लाभकारी होता है। इससे कफ का शमन हो जाता है। अभ्यङ्ग और व्यायाम से लाभ होता है! दिन में सोना वर्जित है। इसमें व्यवाय वर्जित नहीं है।

**ग्रीष्म ऋतु**—ज्येष्ठ और आषाढ़ के दो मास ग्रीष्म ऋतु कहलाता है। इस ऋतु में कफ शान्त रहता है। वायु का संचय होता रहता है और पित्त की वृद्धि होती है। अतः शीत गुण प्रधान खान पान, लघु, शीत, द्रव, स्निग्ध और मधुर रस प्रधान भोज्य पदार्थों के सेवन से पित्त शान्त रहता है। शीत जलवायु देश में अथवा शीत मकानों में वास करना और सूती कपड़े धारण करना स्वास्थ्य के लिए हितकर रहता है! इस ऋतु में अम्ल, लवण और कटु रस का सेवन तथा व्यायाम, व्यवाय और मद्यपान वर्जित है।

**वर्षा ऋतु**—यह ऋतु श्रावण और भाद्रपद के दो मासों का होता है। इसमें पित्त का संचय होता रहता है। वात कुपित हो जाता है। जठराग्नि दुर्बल होती है। अपच, वमन, अतिसार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। वर्षा के दिनों में

स्निग्ध, अम्ल और लवण गुण प्रधान पदार्थों का सेवन करने से वायु शान्त रहता है। इस ऋतु में व्यायाम, व्यवाय और दिवास्वप्न वर्जित है।

**शरद ऋतु**—आश्विन और कार्तिक के दो मास शरद ऋतु के होते हैं। इनमें वायु शान्त रहता है। पित्त का कोप हो जाता है। मुख पाक, रक्तविकार और अतिसार आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। लघु और शीत गुण प्रधान भोज्य-पदार्थों तथा मधुर और तिक्त रसों का सेवन पित्त के शमन के लिए आवश्यक है। रक्त की शुद्धि के लिए विरेचन करने से लाभ रहता है।

**हेमन्त ऋतु**—मघर और पौष के दो मास हेमन्त ऋतु कहलाता है यह ऋतु कफ का संचय काल और वायु का प्रकोप काल है। जठराग्नि बलवान होती है। वायु के शमन के लिए इस ऋतु में गुरु, उष्ण और स्निग्ध भोज्य पदार्थों का सेवन लाभदायक रहता है और मधुर अम्ल और लवण रसों का प्रयोग भी वायु की शान्ति के लिए उपयोगी रहता है। ऊनी गरम वस्त्र धारण करने से, उष्णग्रहों अथवा उष्ण जलवायु देश में वास करने से, उष्ण जलपान और उष्ण गुण प्रधान खान-पान से स्वास्थ्य ठीक रखा जा सकता है।

**शिशिर ऋतु**—यह ऋतु माघ और फाल्गुण के दो मासों से बनती है। इसकी ऋतुचर्या हेमन्त ऋतु के समान ही है।

## ऋतुओं में दोषों के प्रकोप काल

**"वसन्ते श्लोष्मजा रोगाः शरत्काले तु पित्तजाः।**
**वर्षासु वातिकाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि॥**—च० चि० ३०।३०९

अर्थात् वसन्त ऋतु में प्रायः कफज रोग, शरद ऋतु में पित्तज रोग और वर्षा ऋतु में वातज रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इनके शमन का उपाय यही है कि इन दोषों के विपरीत गुणवाली औषधियों और आहार द्रव्यों का प्रयोग किया जाना चाहिए। यह कालकृत रोग हैं जो प्राकृतिक हैं और अपने-अपने समय पर उत्पन्न हो जाते हैं। इनका शमन प्राकृतिक नियमों के पालन से ही सुखपूर्वक हो जाता है।

## अवस्था और दोष

काल से अवस्था का भी ग्रहण हो जाता है। अवस्था विशेष में दोषों के अपने-अपने काल होते हैं। जिनमें यह वृद्धि पाकर अपने-अपने रोग उत्पन्न कर डालते हैं। यह भी कालकृत रोग होते हैं। चरक संहिता में आदेश हुआ है।

**"वयोन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः।**
**बलवन्तो भवन्त्येव स्वाभावा द्वयसो नृणाम्॥"** —च० चि० ३३।३११

अर्थात् शरीर की अवस्था के अन्तिम भाग, मध्य भाग और प्रथम भाग में अर्थात् वृद्धावस्था, यौवन और बाल्यावस्था में क्रम से, प्राकृत रूप से ही वात, पित्त और कफ के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इनका शमन भी इनके विपरीत गुणों के प्रयोग

से हो जाता है । इसलिए अवस्था विशेष का ध्यान रखना आवश्यक होता है जो अपने दोष विशेष का काल होता है ।

उपरोक्त काल, दोषों के प्राकृत प्रकोप काल हैं । जिनमें यह अपने-अपने रोग उत्पन्न करने के समर्थ होते हैं । अतः स्वास्थ्य को बनाये रखने की दृष्टि से, दोषों के प्रकोप कालों की ओर ध्यान रखना आवश्यक होता है ताकि दोषों के अनुकूल आहार-विहार में सुधार और परिवर्तन लाकर स्वास्थ्य को बनाये रखने में सहायता मिल सकें और रोगाक्रान्त होने से बच सकें । यदि हम ऐसा नहीं करते हैं । अपनी मनमानी चलाते रहें । विषम आहार विहार से दोषों की समावस्था को बिगाड़ते रहें । मलों की निकास क्रिया की ओर ध्यान न दें, उनका संचय शरीर में करते रहें । शीत कर्म के स्थान पर उष्ण कर्म और उष्ण कर्म के स्थान पर शीत कर्म करते रहें । इसी प्रकार लंघन के स्थान पर पेट भर भोजन खायें और भूख लगने पर लंघन करें या असमय भोजन करें ! विश्राम के स्थान पर जागरण करें और जागरण के समय पर निद्रा में मस्त रहें । तो इस प्रकार के विषम आहार से आप ही बतायें, क्या स्वास्थ्य ठीक रह सकता है ? कदापि नहीं । ऐसे आचरण से स्वास्थ्य का बिगड़ना अवश्यम्भावी ही है । बुद्धिमान मनुष्य स्वास्थ्य को बनाये रखने में, प्रकृति के नियमों का पालन सावधानी से करता रहेगा । ऐसा करते हुए वह स्वस्थ-दीर्घ-जीवन का लक्ष्य पाने में सफल रहेगा ।

## हितोपचार

मनुष्य के जीवन का आधार हितोपचार है अर्थात् उसके अपने शुभ कर्म हैं जो समयोग कर्म कहलाते हैं । इनका फल शुभ होता है । विषम योग कर्म अर्थात् कर्मों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग अशुभ कर्म कहलाते हैं । इनका फल अशुभ होता है । देखें—

**"हितोपचार मूलं जीवितं अतो विपर्य्ययान्मृत्यु : ।"** —च० वि० ३।४

अर्थात् जीवन का आधार हितोपचार है इसके विरुद्ध अशस्त कर्मों से मृत्यु हो जाती है । इससे विदित होता है कि हितोपचार का महत्त्व हिताहार से कुछ कम नहीं है । आइये, इस विषय पर कुछ प्रकाश डालेंगे !

## काल मृत्यु और अकाल मृत्यु

जहाँ तक हमारा अनुभव है मनुष्य का जीवन उसके प्रशस्त कर्मों के आधार पर स्थित है । अप्रशस्त कर्मों के द्वारा मनुष्य को सर्वदा और सर्वत्र हानि ही पहुँची है और लाभ कुछ भी नहीं मिला है । यह उसके स्वास्थ्य पर ही नहीं अपितु मन पर भी कुप्रभाव डालता है और मन की शान्ति भंग कर डालता है । इसको देखकर यह कहना कठिन है कि मनुष्य की आयु का प्रमाण कितना है । निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । आयु का बलाबल कुछ पूर्व जन्म में किये गये कर्मों

पर स्थित है और बहुत कुछ इस जन्म में किये जाने वाले कर्मों पर। पूर्वजन्मकृत कर्मों को दैव कहते हैं और इस जन्म के कर्मों को पुरुषकार कहते हैं।

कहा भी गया है देखें—

**दैव और पुरुषकार**

**"दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदैहिकम्।**
**स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम्॥"** —च० वि० ३।३५

अर्थात् पिछले जन्म में किये हुए कर्मों को दैव कहते हैं। और इस जन्म में किये जानेवाले कर्मों को पुरुषकार कहते हैं। आयु का बलाबल इसी दैव और पुरुषकार पर स्थित है।

मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं ही है। परमात्मा ने इसको बुद्धि दी है। बुद्धि बल के प्रसाद से वह अपने कर्मों के द्वारा अपने जीवन को सुखी भी बना सकता है और दु:खी भी। प्रशस्त कर्मों के द्वारा मनुष्य सुख पाता है, उन्नति करता है और जीवित रहता है। अशुभ कर्मों से मनुष्य दु:ख पाता है, अवनति को जाता है और रोगी होकर मृत्यु भी प्राप्त करता है। मनुष्य को चाहिए कि वह बुद्धि को पूर्णरूप से विकसित करे। फिर उद्योगी बनकर अच्छे शुभकर्मों के द्वारा अपनी उन्नति के लिए पुरुषार्थ करता रहे तो वह इस प्रकार के पुरुषकार के प्रागलभ्य से दुर्बल दैव को बदल सकता है। वह दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल सकता है। वह अल्पायु को दीर्घायु में भी बदल सकता है। यदि मनुष्य पुरुषकार न करे तो दुर्बल पुरुषकार को बलवान दैव दबा सकता है। और ऐसी दशा में जब मनुष्य किसी काम में असफल रहता है तो वह कहने लगता है कि उसका दैव (किस्मत) खराब था। वह अपनी असफलता का दोष दैव पर डालता है। उसको यह मालूम नहीं कि दैव को उसने अपने ही कर्मों से बनाया है जो उसने पिछले जन्मों में किए हैं। यह असफलता उन ही कर्मों का फल है। जब इस मनुष्य को इस वास्तविकता का ज्ञान हो जाएगा तो वह अपने दुर्भाग्य को अपने बलवान पुरुषकार से बदलकर ही विश्राम लेगा। मनुष्य पुरुषकार बल से दुर्बल दैव को बदल सकता है। कहा भी गया है—

**"दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते।**
**दैवेन चैतत् कर्म विशिष्टे नोपहन्यते॥"** —च० वि० ३।३८

अर्थात् पुरुषकार से दुर्बल दैव को हटाया जा सकता है और बलवान दैव से दुर्बल पुरुषकार को दबाया जा सकता है। इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि आयु नियतकाल की, है भी और नहीं भी है। आयु का बलाबल दोनों दैव पर भी है और पुरुषकार पर भी स्थित है। यह कहना वाग्वस्तु मात्र होता है कि किसी प्राणी के मरने पर लोग कहते हैं कि उसके मरने का समय पहुँचा था, तभी मर गया। परंतु यह यथार्थ नहीं है।

(१) सच्ची बात तो यह है कि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि असमय भोजन करने या कर्म करने से वह अच्छा फल नहीं मिलता जो समय पर करने से मिल सकता है।

(२) इसी प्रकार शीत ऋतु में शीत होती है परंतु यह शीत ग्रीष्म ऋतु में भी हो सकती है।

(३) इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में ग्रीष्म होता है परंतु यह शीत ऋतु में भी हो सकता है।

(४) वर्षा समय पर होती है और असमय भी हो सकती है।

(५) वृक्षों पर पुष्प समय पर निकलते हैं और असमय भी निकलते हैं।

उपरोक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि काल मृत्यु भी हो सकती है और अकाल मृत्यु भी। इसीलिए हमारे पूज्यनीय आप्तजन और अपने शास्त्रों में स्वस्थ वृत्त पर चलने और प्रशस्त कर्मों को करने का उपदेश देते आये हैं ताकि सर्वसाधारण जनता का कल्याण हो जाए और वह आयु, आरोग्य और ऐश्वर्य युक्त जीवन से मालामाल हो जाए।

और भी बहुत बातें हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि मृत्यु का काल नियत नहीं होता है, और यह किसी भी समय पर हो सकती है। इस प्रकार की मृत्यु को अकाल मृत्यु कहते हैं। इससे बचने के लिए कई प्रकार के उपाय भी किए जाते हैं। उदाहरण के लिए नीचे लिखी चार-पाँच बातें विचारणीय हैं। जैसे—

(१) शत्रुओं, जंगली जानवरों, डसने वाले सर्पादि विषैले जानवरों, विषैली औषधियों से बचकर रहना।

(२) अग्नि, जल और वायु के कोप से बचकर रहना।

(३) शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए उच्चकोटि के अस्त्र-शस्त्र निर्माण करना, जो अधिक शक्तिशाली और प्राणघातक हों।

(४) ऊँचे पहाड़ों, ऊँचे वृक्षों और बाढ़ पीड़ित नदी नालों से भय लगना।

(५) दीर्घायु प्राप्त करने के लिए बलि, मंगल वाचन, होम, जप, तप, उपवास और नियम आदि के कर्म करना तथा महात्मा पुरुषों की शरण में जाना।

(६) अकाल मृत्यु से बचने के लिए रोगियों का औषधि सेवन तथा अन्य प्रकार के रोगों का उपचार करना।

उपरोक्त सभी उपायों को अपनाने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मृत्यु का कोई काल नियत नहीं होता है। अकाल मृत्यु किसी भी समय हो सकती है। फिर हम प्रत्यक्ष रूप में यह भी देख लेते हैं कि

(१) युद्ध क्षेत्र में सहस्रों योद्धा शस्त्रों से मारे जाते हैं।

(२) विष खिलाने से या विषैली गैसों से लोग मारे जा सकते हैं।

(३) उत्पन्न जातकों को समय पर आवश्यक प्रतिकार न करने से उनमें से

बहुत मर सकते हैं।

उपरोक्त सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य का जीवन हितोपचार पर आधारित है। इसकी मृत्यु अहित उपचार से किसी भी समय और कहीं पर भी हो सकती है।

**आयु का प्रमाण**

आयुर्वेद विज्ञान में मनुष्य की आयु का कम से कम प्रमाण सौ वर्ष माना गया है।

"वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले" —च० वि० ८/१२२

अर्थात् इस काल में मनुष्य की आयु का प्रमाण सौ वर्ष है। यह कम से कम आयु का प्रमाण कहा गया है। आयुष्मान मनुष्य इससे अधिक दीर्घकाल तक जीवित रह सकते हैं और रहते भी हैं।

काल मृत्यु का उदाहरण इस प्रकार से दिया जा सकता है। एक सुदृढ़ रथ को लीजिए। रथ जोतने वाला अश्व या अन्य पशु सुधाया हुआ और स्वस्थ होना चाहिए। रथवाहक कोचवान भी स्वस्थ और बुद्धिमान होना आवश्यक है और मार्ग भी पक्का और चलने योग्य बनाया गया हो। तो ऐसा सुसाधन युक्त रथ अच्छे प्रकार से मार्ग पर चलता रहता है। चलते-चलते उसका लौहनिर्मित अक्ष घिसता रहता है। घिसते-घिसते उस अक्ष के दो खंड हो जाते हैं। फिर रथ चल नहीं सकता। इसके चलने की अवधि समाप्त हो जाती है। यह रथ की आयु का प्रमाण है।

इसी प्रकार एक स्वस्थ मनुष्य बाल, युवा और वृद्धावस्था से होता हुआ जब दुर्बल होकर अवसान को प्राप्त हो जाता है, तो यह उसकी काल मृत्यु कहलाती है जो सौ वर्ष मानी गई है। इससे अल्प काल में होने वाली मृत्यु की गणना अकालमृत्यु में आ जाती है, इसका कारण अहितोपचार अर्थात् अशुभ कर्म है।

# प्रज्ञा पराधः

"धी धृति स्मृति विभ्रष्टः कर्मयत् कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचर हि तत् ।।"—च० श० १/१०२

अर्थात् बुद्धि, धृति और स्मृति के दोष से जो कायक, वाचक और मानसिक कर्म किए जाते हैं वह सब अशुभ होते हैं। यह 'प्रज्ञापराध' कर्म कहलाते हैं। यह सारा खेल दूषित मन के कारण होता है।

(१) बुद्धि के दोष से मनुष्य हित को अहित, अहित को हित, नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य मानता है। सभी भावों को विपरीत दृष्टि से देखता है।

(२) धृति के दोष से मन नियन्त्रण में नहीं आता। यह विषयों में आसक्त रहता है और अपनी मनमानी चलाता रहता है।

(३) स्मृति के दोष से मनुष्य की स्मृति तत्त्वज्ञान की ओर नहीं जाती। कारण इसका यह होता है कि उसका मन रज और तम दोषों से आच्छादित रहता है। शास्त्रों का अध्ययन न करने से वह ज्ञान से वञ्चित रहता है।

उपरोक्त तीनों दोष मन के विकार से बुद्धि में विद्यमान रहते हैं जिनके कारण वह जो भी कोई कर्म करता है वह अशुभ होता है। फलस्वरूप अशुभ कर्म का फल अशुभ ही मिलता है।

दूसरे स्थान पर प्रज्ञापराध को स्पष्ट करते हुए यह सूत्र देखें—

**"बुद्धया विषम विज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम् ।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत् ।।"** —च० श० २/२८

अर्थात् बुद्धि के दोष से मनुष्य को सभी द्वन्द्वभावों में विषम विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वह सत को असत और असत को सत, लाभ को हानि और हानि को लाभ मानता हुआ सभी द्वन्द्वभावों में विप्रत्यय भाव रखता है। और इसी दृष्टि से सभी कर्म करता रहता है अर्थात् विषम योग से कर्म करता है। इसको प्रज्ञापराध कहते हैं। इसका कारण दूषित मन होता है।

यहाँ पर कर्मों के विषम योग पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं। कायक, वाचक और मानसिक। इनके विषम योग को कहते हैं कर्मों का अतियोग आयोग और मिथ्या योग। विषम योग से किए जाने वाले कर्मों का फल अशुभ होता है। समयोग कर्म ही शुभ फलदायक होते हैं। अब यहाँ सभी प्रकार के कर्मों की भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या करेंगे।

**कायक अतियोग कर्म**—अपनी शक्ति से अधिक काम करना, दिन रात कर्मों

के करने में लगे रहना, थकावट होने पर भी कर्म करते रहना, यह कर्मों का अतियोग कहलाता है।

**अयोग**—शारीरिक कर्मों को न करना, या कम करना अथवा आलस्य में पड़े रहना अयोग कहलाता है।

**मिथ्या योग**—अतियोग और अयोग को छोड़कर शेष सभी प्रकार के अशुभ कर्म मिथ्या योग कहलाते हैं। जैसे अधिक शीत, आतप और वायु में काम करना, उपवास, व्रत और हठीले कर्मों से शरीर को कष्ट पहुँचाना, मद्यपान और दूसरे मादक द्रव्यों का उपयोग करना। स्वस्थ वृत्त के विरुद्ध कर्म करना जैसे प्रातःकाल उठकर मलमूत्र का त्याग, दन्तधावन, व्यायाम, तैलाभ्यंग और स्नानादि न करना, रात्रि जागरण और दिवास्वप्न करना, हिताहार का सेवन न करना। रोगाक्रान्त होने पर अपनी देह प्रकृति, दोष, देश और काल के विपरीत गुण वाले आहार-विहार का सेवन न करना तथा मन के नियन्त्रण में न होने के कारण अपथ्य का सेवन करना और मन की शान्ति के लिए स्वाध्याय का न करना तथा शरीर के सभी अशस्त कर्म मिथ्या योग कहलाते हैं।

## शरीर के अशस्त कर्म

**"देह प्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया।**
**स्त्रि भोग स्तेय हिंसाद्या तस्यावेगन्विधारयेत् ॥"** —च०सू० ७/२९

अर्थात् कोई भी शारीरिक कर्म जिससे दूसरों को दुःख पहुँचे जैसे—किसी को गोली मारने से, शस्त्र प्रहार से, आग लगाकर या विषपान कराकर मारना, चोरी करना, डाका डालना, परस्त्रीगमन करना तथा अन्य क्लेशदायक कर्म, अशस्त कर्म कहलाते हैं। यह भी मिथ्यायोग कर्म होते हैं।

**वाचक अतियोग कर्म**—इन कर्मों के वेगों को रोकना चाहिए। बहुत समय तक ऊँचे स्वर से बातें करना, भाषण देना, और हँसना आदि अतियोग कहलाता है।

**अयोग**—बहुत कम बातें करना या सर्वथा न करना अयोग कहलाता है।

**मिथ्या योग**—अतियोग और अयोग को छोड़कर शेष सभी अशस्त वाचक कर्म मिथ्यायोग कहलाता है।

## वाचक अशस्त कर्म

**"परुषस्यातिमात्रस्य सूचिकस्यानृतस्य च।**
**वाचकस्याकालयुक्तस्य धारये द्वेग मुत्थितम् ॥"** —च० सू० ७/२८

अर्थात् तीक्ष्ण और खेदजनक बातें करना, दूसरों की निन्दा करना, झूठ बोलना और असमय बातें करना, यह अशस्त वाचक कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों के वेगों को रोकना चाहिए।

## मानसिक अतियोग कर्म

मन की इच्छाओं और विचारों के तूफानों में अस्तव्यस्त रहना और रागद्वेषात्मक विकारों में दिनरात फँसे रहना, यह मानसिक कर्मों का अतियोग कहलाता है।

**अयोग**—मन का कर्मों में प्रवृत्त न होना या कम होना अयोग कहलाता है।

**मिथ्यायोग**—अतियोग और अयोग को छोड़कर शेष सभी अशस्त कर्म मिथ्यायोग कहलाता है।

**"लोभशोकभयक्रोध मान वेगान् विधारयेत्।**
**नैर्लज्जेर्ष्याति रागानामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥"** —च० सू० ७।२७

अर्थात् लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान, निर्लज्जता (बेशर्मी), ईर्ष्या (हसद), राग (किसी वस्तु के लिए अधिक चाहत) और किसी की वस्तु को देखकर द्रोह करना, यह मानसिक अशस्त कर्म हैं और मिथ्यायोग कहलाता है।

एक और सूत्र से भी प्रज्ञापराध की विशद व्याख्या स्पष्ट हो जाती है।

**"प्रज्ञापराधाद्ध्यहितानर्थान पञ्च निषेवते।**
**संधारयति वेगांश्च सेवते साहसानि च ॥"** —च० सू० २०।३९

अर्थात् प्रज्ञापराध से मनुष्य पाँच इन्द्रियों के अर्थों का सेवन अहित विधि से करता है। इसको असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं। प्रज्ञापराध से मनुष्य वेगों को रोकता है। और प्रज्ञापराध से मनुष्य विविध प्रकार के साहस कर्म करता रहता है। आइए, इन तीनों बातों पर कुछ थोड़ा बहुत प्रकाश डालेंगे।

## असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग

असात्म्य का अर्थ है ऐसे पदार्थों का सेवन करना जो अपनी प्रकृति के प्रतिकूल हों और जो पचकर शरीर के साथ आत्मसात् न हो जाएँ।

पाँच इन्द्रियों के अर्थ हैं–शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन पाँच अर्थों के असात्म्य सेवन को विषमयोग सेवन कहते हैं। अर्थात् इनका अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग से सेवन किया जाना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। समयोग सेवन से ही आरोग्य बना रहता है। उदाहरण के लिए कर्णेन्द्रिय (कान) को लीजिए, इस **कर्णेन्द्रिय** का अर्थ है शब्द, इसका अतियोग—

ऊँचे स्वर से शब्दों को सुनना, ऊँचे स्वर से रेडियो को सुनना, ढोल बजाने के शब्द बहुत देर तक सुनते रहना, पशु-पक्षियों के ऊँचे नाद, शंखनाद आदि अतियोग कहलाता है।

**अयोग**—शब्दों को न सुनना अथवा कम सुनना, अयोग कहलाता है।

**मिथ्यायोग**—अतियोग और अयोग को छोड़कर शेष सभी अहित शब्द मिथ्यायोग कहलाते हैं। जैसे गोलियों और बमों के फटने के भयानक ऊँचे शब्द,

बिजली गिरने का शब्द, सिंहनाद जैसे भयानक शब्द, लड़ाई-झगड़ों में प्रयोग होने वाले क्रोधालु और अपशब्द, तिरस्कृत शब्द, दर्पात्मक शब्द, रोने के क्रन्दन शब्द और अन्य प्रकार के विविध अहित शब्द मिथ्यायोग कहलाते हैं।

**त्वक इन्द्रिय** का अर्थ है स्पर्श, इसका अतियोग—

अति शीत और अति उष्ण स्पर्शों का सेवन, अति मात्रा में स्नान, अभ्यंग आदि का सेवन, त्वचा का बार-बार किसी वस्तु से स्पर्श करना या उस पर दबाव पड़ना इत्यादि अतियोग कहलाता है।

**अयोग**—स्पर्शों का सेवन न करना या कम करना अयोग कहलाता है।

**मिथ्यायोग**— अतियोग और अयोग को छोड़कर शेष सभी अहित और विरुद्ध स्पर्श जैसे उष्णपीड़ित स्वेद ग्रस्त व्यक्ति का सहसा शीत जल का पान करना या वायु आदि का स्पर्श होना, गरम चाय आदि पीकर शीतल जल पान करना विषम स्थानों पर या सीधे सप्पाट स्थानों पर गिरने से त्वचा के साथ स्पर्श होना, सडे, गले, दुर्गन्धयुक्त और विषैले द्रव्यों के साथ स्पर्श और अन्य प्रकार के अहित स्पर्श मिथ्यायोग कहलाता है।

**चक्षु इन्द्रिय** का अर्थ है रूप, इसका अतियोग—

चमकीली वस्तुओं की ओर देखते रहना, उज्ज्वल प्रकाश को सामने रखकर पढ़ना या उसको देखना अतियोग कहलाता है।

**अयोग**—रूप का सेवन न करना या कम करना अयोग कहलाता है।

**मिथ्यायोग**— अतियोग और अयोग को छोड़कर शेष सभी अहित दर्शन, जैसे अतिसूक्ष्म वस्तुओं को देखना, बहुत निकट से देखना, बहुत दूर से देखना, भयानक रूप, सिंह आदि पशुओं और जीवधारियों को देखना, घृणित, विकृत और अंगहीन मनुष्यों को देखना इत्यादि, यह मिथ्यायोग कहलाता है।

**रसन इन्द्रिय** का अर्थ है रस, इसका अतियोग—

द्रव्यों के आश्रित रस रहते हैं। इनको अति मात्रा में सेवन करना अतियोग कहलाता है।

**अयोग**—द्रव्यों का सर्वथा सेवन न करना या कम सेवन करना अयोग कहलाता है।

**मिथ्यायोग**—अतियोग और अयोग को छोड़कर शेष सभी प्रकार के आहार द्रव्यों का अहितकर प्रयोग मिथ्यायोग कहलाता है। अर्थात् हिताहित आहार के हेतुओं का ध्यान न रखते हुए उनको प्रयोग करना मिथ्यायोग कहलाता है। हिताहित आहार का वर्णन आगे धातु अध्याय में आया है। वहाँ पर इसको देख सकते हैं। इसके अतिरिक्त मद्यपानादि नशीले पदार्थों का सेवन तथा धूम्रपान मिथ्यायोग कहलाता है।

**घ्राण इन्द्रिय** का अर्थ है गन्ध, इसका अतियोग—

तेज गन्ध वाले द्रव्यों जैसे जीरा, हींग आदि को सूँघते रहना, उग्र गन्ध वाले द्रव्यों जैसे वच, शुण्ठि आदि को सूँघना, अभिष्यन्दि गन्ध वाले द्रव्यों जैसे प्याज आदि को सूँघना अतियोग कहलाता है।

**अयोग**—गन्ध को सर्वथा न सूँघना या कम सूँघना अयोग कहलाता है।

**मिथ्यायोग**—अतियोग और अयोग को छोड़कर शेष सभी अहितकर गन्ध, जैसे विषैली गैसों और धूम्रयुक्त वायु को सूँघना, दुर्गन्धयुक्त सड़े-गले द्रव्यों को सूँघना और मृतकशव की गन्ध आदि मिथ्यायोग कहलाता है।

उपरोक्त पाँच इन्द्रियों के अर्थों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है। सभी अर्थों के विषमयोग सेवन को असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं, जो रोगों को उत्पन्न करता है। इसका कारण प्रज्ञापराध होता है।

## वेगों का रोकना

प्रकृति के द्वारा शरीर में दो प्रकार की क्रियायें चालू रहती हैं। एक क्रिया, पोषक आहार की प्राप्ति के लिए जठराग्नि की पाचक क्रिया है। दूसरी, मलों के निकास की क्रिया है। जठराग्नि भोजन को पचाकर इसको दो भागों में विभक्त करती है—सार भाग और किट्ट भाग में। सार भाग से रसादि सात धातुओं का पोषण होता रहता है। किट्ट भाग से पुरीष और मूत्रादि मल बनते हैं। इन मलों का शरीर से बाहर निकलना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होता है। मलों की इस निकास क्रिया को भी प्रकृति स्वयं ही चालू रखती है ताकि शरीर में मलों का संचय अधिक न हो पाये, और इनकी वृद्धि से मलों और दोषों की समावस्था बिगड़ न जाये। जिससे शरीर में विकार उत्पन्न होने की सम्भावना हो जाये। शरीर की पोषण क्रियाओं और मलों के निकास की क्रियाओं की आवश्यकता पड़ने पर कुछ प्राकृतिक गतियों के चलायमान होने के संकेत मिलने आरम्भ हो जाते हैं इनको वेग कहते हैं। जैसे–शरीर को पोषक रस मिलने की आवश्यकता पड़ने पर भूख का वेग आरम्भ हो जाता है। जल-पान की आवश्यकता पड़ने पर पिपास का वेग आरम्भ हो जाता है। पुरीष त्याग करने की आवश्यकता पड़ने पर आन्त्रों में गुड़गुड़ाहट उत्पन्न हो जाती है, इत्यादि-इत्यादि। इन वेगों के चलायमान होने पर इनको रोकना नहीं चाहिए, प्रत्युत प्रकृति की सहायता करके उसका कार्य सरल बनाना चाहिए ताकि शरीर का स्वास्थ्य बना रहे। प्रकृति की सहायता करना मनुष्य का कर्त्तव्य होना चाहिए।

**वेग और उनका महत्व**—वेग दो प्रकार के हैं–अधारणीय वेग और धारणीय वेग।

**अधारणीय वेग**—आयुर्वेद का आदेश है कि अधारणीय वेगों को रोकना नहीं चाहिए, प्रत्युत प्रकृति की सहायता करके उसका कार्य सरल बनाना चाहिए।

**महर्षि चरक का आदेश—**

**"न वेगान् धारयेद्धीमान् जातान् मूत्रपुरीषयोः।**
**न रेतसो न वातस्य न छर्द्याः क्षवथोर्न च ।।**
**नोद्गारस्य जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः।**
**न वाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ।।" —च० सू० ७।३-४**

अर्थात् बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह निम्न अधारणीय वेगों को न रोके:—

मल, मूत्र, वीर्यवेग, अपानवायु, निःश्वास वायु, वमनवेग, डकारवेग, छींक वेग, जँभाई वेग, भूख और प्यास का वेग, आँसू का वेग और निद्रा का वेग। इन वेगों के प्रवृत्त होने का संकेत मिलने पर प्रकृति की सहायता करके इनको न रोक कर चलने देना चाहिए। ऐसा करने से स्वास्थ्य बना रहता है, रोग उत्पन्न नहीं हो पाते।

**धारणीय वेग**—धारणीय वेग चार प्रकार के हैं—

(i) कायक अशस्तकर्म, (ii) वाचक अशस्तकर्म, (iii) मानसिक अशस्त-कर्म, और (iv) साहस कर्म।

(i) **कायक अशस्तकर्म—**

**"देह प्रवृतिर्या काचिद्विद्यते परपीडया।**
**स्त्रिभोग स्तेय हिंसाद्या तस्यावेगान्विधारयेत् ।।" —च० सू० ७।२९**

अर्थात् कोई भी शारीरिक कर्म, जिससे दूसरों को दुःख पहुँचे, जैसे गोली मारने से, शस्त्र प्रहार से, अग्निकाण्ड से, विषपान कराने से, डाका डालनें से परस्त्री-गमन से अथवा स्त्रीसंग के अतियोग से अथवा अन्य क्लेशकारक कर्मों से, जिनसे दूसरे व्यक्तियों को दुःख पहुँच सके, वे शारीरिक अशस्त कर्म कहलाते हैं। इनको रोकना चाहिए।

(ii) **वाचक अशस्तकर्म—**

**"परुषस्यातिमान्नस्य सूचिकस्यानृतस्य च।**
**वाचकस्याकालयुक्तस्य धारयद्वेगमुत्थितम् ।।" —च० सू० अ० ७।२८**

अर्थात् तीक्ष्ण और खेदजनक बातें करना, दूसरों की निन्दा करना, भूठ बोलना और असमय पर बातें करना। इन अस्शत वाचक कर्मों के वेगों को रोकना चाहिए।

(iii) **मानसिक अशस्त कर्म**

**"लोभ शोक भय क्रोध मान वेगान् विधारयेत्।**
**नैर्लज्जेर्ष्याति रागानामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ।।" —च० सू० ७।२७**

अर्थात् लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान, निर्लज्जता, ईर्ष्या, राग और अभिध्या अर्थात् किसी वस्तु को देखकर द्रोह करना, इनकी सामान्य अवस्था जीवन के चिह्न हैं, अतः इन्हें रोकना चाहिए। असामान्यावस्था रोगोत्पादक बनते हैं।

(iv) साहस कर्म—

"व्यायाम हास्य भाष्याध्व ग्राम्यर्धम प्रजागरान् ।
नोचितानपि सेवेत बुद्धिमानति मात्रया ।।" —च० स० ७।३४

अर्थात् व्यायाम, हँसना, भाषण देना पदयात्रा, स्त्रीगमन और रात का जागते रहना यह सभी काम अधिक मात्रा में शक्ति को व्यय करके, कदापि नहीं करने चाहिएं चाहे उचित ही क्यों न हों। थकावट हो जाने से तनाव उत्पन्न हो जाता है जो मानस रोगों की उत्पत्ति का कारण बन जाता है।

स्मरण रहे संवेग मानसिक कारणों से उत्पन्न हो जाते हैं। सामान्यावस्था में यह जीवित शरीर के चिह्न हैं, इनसे अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ प्रभावित हो जाती हैं, जो जीवन को स्वस्थ रखने में सहायक होते हैं।

उपरोक्त प्रज्ञापराध का कारण मन के दोष, रज और तम हैं। इनके कारण बुद्धि आवृत्त रहकर लुप्तप्राय: हो जाती है। मन चंचल बना रहता है और अपनी तीव्र गति के कारण मनमानी चलाता है जिससे मनुष्य को हित के स्थान पर अहित हो जाता है। परमात्मा परम दयालु है, उसकी लीला अपरम्पार है। उन्होंने सृष्टि की रचना की, पुरुष की उत्पत्ति हुई। पुरुष के जीवन का आधार जीवात्मा है, जो चेतनावान है। इसके साथ त्रिगुणात्मक मन भी उत्पन्न हुआ, जो जीवात्मा का आश्रय है। मन जड़ था, जीवात्मा ने इसको चेतना प्रदान की। शरीर का अधिपतित्व मन को सौंपा गया। जीवात्मा स्वयं तटस्थ रहकर शरीर के एक देश में साक्षी रूप से रहे मन को अधिपतित्व तो मिला, परन्तु स्वतन्त्रता उत्तर-दायित्वपूर्ण ही मिली, ताकि मन उचित ढंग से शरीर का व्यापार चलाये और मनमानी न चलाये। इसकी मनमानी पर रोक लगाने के लिए परम दयालु परमात्मा ने, मन से अधिक शक्तिशाली बुद्धितत्त्व को उत्पन्न करके पुरुष को प्रदान किया, ताकि इसके माध्यम से मन नियमन में रहते हुए शरीर का सम्पूर्ण व्यापार उचित ढंग से चलता रहे, जिससे पुरुष का कल्याण सम्भव हो सके।

धी, धृति और स्मृति इनके तीन तत्त्वों के समन्वय से दुद्धि बनी है। बुद्धि की निर्मलावस्था को प्रज्ञा कहते हैं। यह सदसत् विवेकिनी होती है इसका निर्णय अत्यंत शुद्ध होता है। यह साफ बताती है कि यह उचित है या अनुचित है, यह हित है या अहित यह सत् है या अतत्। यह उचित, हित और सत् का ही अनुसरण कराती है; अनुचित, अहित और असत् का अनुसरण नहीं कराती। यही तो प्रज्ञा की विशेषता है। अनुचित, अहित और असत का अनुसरण अपराध (पाप) है ऐसा नहीं कराती, ऐसे कर्मों के अनुसरण को प्रज्ञापराध कहते हैं; यह प्रज्ञापराध रोगों का कारण है।

रज और तम मानसिक दोषों से बुद्धि के तीनों तत्त्व धी, धृति और स्मृति दूषित होकर गुमसुम हो जाते हैं, लुप्तप्राय हो जाते हैं, इनका विभ्रंश हो जाता

है, यह काम नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में मनुष्य को बुरा भला कुछ नहीं सूझता। मन को अपनी मनमानी चलाने का यही अनुकूल अवसर होता है। इस अवसर पर जो भी कर्म किए जाते हैं वे सभी कायक, वाचक और मानसिक कर्म अशुभ होते हैं, इनका परिणाम दुःखदायकी होता है। यह रोगों की उत्पत्ति का कारण बन जाते हैं। यही प्रज्ञापराध कहलाता है। इसको बुद्धिग्राह्य कर लेना चाहिए।

प्रज्ञापराध की उपरोक्त व्याख्या से हमें निम्न बातों की जानकारी प्राप्त हो जाती है—

१. बुद्धि के दोष से किये जाने वाले सभी कायक, वाचक और मानसिक कर्म अशुभ होते हैं, जिनसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसको प्रज्ञापराध कहते हैं।

२. बुद्धि के दोष से मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों के अर्थों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का सेवन विषमयोग से करता है, जिससे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसको असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं।

३. बुद्धि के दोष से मनुष्य अधारणीय वेगों को रोकता है और धारणीय वेगों को नहीं रोकता। यह दोनों बातें रोगों के उत्पन्न होने का कारण बन जाती हैं।

४. बुद्धि के दोष से मनुष्य साहस कर्म करता है, जिससे दोष प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न कर डालते हैं। यह तनावपूर्वक मानसिक रोगोत्पादक बनते हैं।

५. बुद्धि के दोष से मनुष्य कुपथ्य कर डालता है जो खाद्य पदार्थ खाने के लिए निषिद्ध होते हैं, उनका ही मनुष्य सेवन कर डालता है, जिससे दोष कुपित होकर रोग का पुनराक्रमण कर डालते हैं।

६. बुद्धि के दोष से मनुष्य अहितोपचार करता है, जिससे मनुष्य अकालमृत्यु का ग्रास बन जाता है।

७. बुद्धि के दोष से मनुष्य ऋतुचर्य्या का पालन नहीं करता और न ही स्वास्थ्य के प्राकृतिक नियमों का पालन करता है, इससे मनुष्य का शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है।

८. बुद्धि के दोष से मनुष्य आप्तोपदेशों पर नहीं चलता, उसको सुखी जीवन बनाने का मार्गदर्शन नहीं मिलता, उससे सदाचार पालन भी नहीं हो सकता। फलस्वरूप जीवन दुःखी बन जाता है।

महर्षि चरक के आदेश का अध्ययन कीजिए—

**रोगों की उत्पत्ति के तीन कारण**

**"काल बुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।**
**द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतु संगृहः॥"**—च० सू० १।५४

अर्थात् दोनों प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों के तीन कारण हैं—

(i) **परिणाम**—काल का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग अर्थात् विषम-योग को प्रज्ञापराध कहते हैं। मिथ्यायोग में ऋतुओं के अपने प्राकृतिक लक्षणों के विपरीत, अप्राकृत लक्षण प्रकट हो जाते हैं जैसे ग्रीष्मकाल में शीत बढ़ना, शीतकाल में ग्रीष्म बढ़ना और वर्षाकाल में वर्षा न होना इत्यादि-इत्यादि। इससे रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसको परिणाम कहते हैं। और ऋतुओं के प्राकृतिक गुणों के विपरीत आहार-विहार के प्रयोग से उत्पन्न रोगों को भी, परिणाम कहते हैं। इन तीन कारणों से सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। इनमें प्रज्ञापराधज और असात्म्येन्द्रियार्थज रोगों की उत्पत्ति में मानसिक दोषों की विकृति एक विशेष कारण होता है। अत: दोषों से शुद्ध बनाया हुआ मन अर्थात् नियन्त्रित मन स्वास्थ्य निर्माण के लिए अनिवार्य है। इस रहस्य को अच्छी तरह से समझना चाहिए अन्यथा स्वस्थ-दीर्घ-जीवन का स्वप्न पूरा होना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

(ii) **प्रज्ञापराध**—बुद्धि के अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग अर्थात् विषम-योग से किये जाने वाले सभी कायक, वाचक और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसको प्रज्ञापराध कहते हैं।

(iii) **असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग**—ज्ञानेन्द्रियों के अर्थों के अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग अर्थात् विषमयोग जिसको असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं। इससे रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

**कीटाणु सिद्धान्त**

आधुनिक काल में रोगों की उत्पत्ति का कारण कीटाणु माने जाते हैं। इस वैज्ञानिक युग में इस सिद्धान्त ने तहलका मचा रखा है। इस सिद्धान्त के आधार पर आज के युग में रोगों की चिकित्सा चालू हुई है, इससे बहुत से रोगों पर लाभ भी मिल रहा है, विशेषकर रोगों की तीव्रावस्था में यह शीघ्र लाभकारी रहता है। कीटाणु अवश्य हैं, इनके अस्तित्व से किसी को इन्कार नहीं हो सकता। यह भी आयुर्वेद विज्ञान के अन्तर्गत चर सृष्टि में आ जाते हैं। सूक्ष्म होने के कारण अप्रत्यक्ष हैं। अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखे जा सकते हैं।

कीटाणु सिद्धान्त के विषय में एक बात विचारणीय है कि कीटाणु उसी शरीर में प्रवेश पा सकते हैं जिसका स्वास्थ्य दूषित हुआ होता है। आयुर्वेदिक दृष्टि से दोषों में विषमता आ जाने से स्वास्थ्य दूषित हो जाता है। और दूषित स्वास्थ्य में ही विकार उत्पन्न हो जाते हैं। विकारयुक्त शरीर में मल, मूत्रस्वेद आदि गन्दे पदार्थों का निकास विधिवत नहीं हो पाता। शरीर से गन्दे पदार्थों का संचय होना आरम्भ हो जाता है। वह गन्दे पदार्थों से व्याप्त हो जाता है। यह गन्दे पदार्थ कीटाणुओं के आहार होते हैं। समय पाकर इस विकारयुक्त शरीर में वह प्रवेश करके डेरा डालते हैं। अपने अनुकूल वातावरण पाकर खूब पलते हैं और इस पर

आक्रमण कर डालते हैं।

दूसरी ओर दूषित स्वास्थ्य के कारण शरीर की रोगनिवारण शक्ति में कुछ निर्बलता आई होती है। निर्बलता के कारण प्रकृति कीटाणुओं के आक्रमण का मुकाबला नहीं कर सकती। तो बलशाली कीटाणुओं का आक्रमण दूषित शरीर पर सफल हो जाता है। फलस्वरूप शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। सबल जीवन शक्ति वाले शरीर में, कीटाणु प्रवेश नहीं कर पाते। यदि पाते भी हैं तो वह स्वयं नष्ट हो जाते हैं। वहाँ रोग उत्पन्न करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यदि यह बात न होती तो कीटाणुओं के कारण सभी प्राणी रोगाक्रान्त होते रहते और मनुष्य जाति नष्ट हो चुकी होती।

ऊपर के वर्णन से यह ज्ञात हो गया कि कीटाणुओं का आक्रमण, स्वास्थ्य के दूषित होने के पश्चात् हो जाता है। और दूषित स्वास्थ्य का कारण दोषों की विषमावस्था होती है। इसलिए रोगों के उत्पन्न होने का मूल कारण दोषों की विषमावस्था ही है। कीटाणु गौण कारण हैं।

अब कीटाणु सिद्धान्त के आधार पर की जाने वाली चिकित्सा को लीजिए। यह रोगों को समूल हटाने में सफल नहीं रहती। इसका कारण यह है कि कीटाणु-नाशक औषधियों या इंजेक्शनों से यह कीटाणु तो मारे जा सकते हैं जिससे रोग का बल कम हो सकता है, और ऐसा दिखाई दे सकता है कि सम्भवत: रोग हट गया हो। परन्तु वास्तव में ऐसा हुआ नहीं होता। विकार शरीर में विद्यमान ही होता है, और दोषों की विषमता बनी ही रहती है। फिर स्वास्थ्य के दूषित होने के कारण कीटाणु समय पाकर पुनः आक्रमण करके रोग उत्पन्न कर डालते हैं। और रोगों की यह परम्परा चलती रहती है। रोगों की संख्या बढ़ती ही जा रही हैं घटती नहीं। और यही कारण है कि डाक्टरों, वैद्यों, हकीमों और राजकीय चिकित्सालयों के स्थानों पर रोगियों के समूह एकत्रित हुए होते हैं। कई स्थानों पर कीटाणुनाशक तेज औषधियों के प्रयोग से लाभ के स्थान पर हानि ही पहुँचती है और दुष्प्रभावजन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। दोषों की विषमावस्था को समावस्था में लाने के लिए, आरम्भ में सरल उपचारों और औषधियों से काम लेना चाहिए, प्राय: ८० प्रतिशत साध्य रोग इसी से ही दो-तीन दिन में शान्त हो जाते हैं। हाँ, रोगों की तीव्रावस्था में कीटाणुनाशक औषधियों का प्रयोग गुणकारी रहता है। औषधि ऐसी होनी चाहिए जिससे रोग शान्त हो जाए और उसको समूल नष्ट कर सके। कहा भी गया है।

**प्रशस्त चिकित्सा**

"प्रयोगः शमयेदव्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्योन कोपयेत्॥"

अर्थात् चिकित्सा वही श्रेष्ठ है जिससे रोग शान्त हो जाये। जिस चिकित्सा से

एक रोग शान्त हो जाये, फिर दूसरा रोग उत्पन्न हो जाये, आयुर्वेदिक दृष्टि से वह चिकित्सा नहीं कहलाती है। आयुर्वेदिक दृष्टि से रोगों को समूल हटाने के लिए दोषों को समावस्था में लाने की आवश्यकता होती है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब त्रिदोष सिद्धान्त के आधार पर दोषों की विषमावस्था को दूर करने का उपचार करेंगे। इसके लिए हमें दोषों के विपरीत गुणों से उपचार करना होगा अर्थात् शीत कृत रोगों को उष्ण उपचारों से तथा उष्ण कृत रोगों को शीत उपचारों से। इसके लिए हमें लंघन रखकर शरीर में संचित हुए गन्दे पदार्थों को शरीर से बाहर निकलने के लिए समय देना होगा। इसके लिए हमें प्रकृति के स्वस्थ वृत्त के नियमों पर कटिबद्ध होकर चलना होगा। आहार विहार में सुधार करना होगा। और इसके लिए हमें पथ्य से रहना होगा। इतना ही नहीं, इसके लिए हमें प्रकृति जीवन-प्रणाली के नियमों का पालन करना होगा। तो ऐसे उपचारों से दूषित हुआ स्वास्थ्य पुनः शुद्ध होकर स्वस्थ और नीरोग बन जायेगा। दोष समावस्था में आ जायेंगे। पथ्य के सेवन से औषधियाँ सेवन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कहा भी गया है—

**पथ्य का महत्व**

**"विना भेषजैर्व्याधि पथ्यादेव निवर्तते।**
**न तु पथ्य विहीनस्य भेषजानां शतैरपि॥"**

अर्थात् औषधि प्रयोग के बिना ही केवल पथ्य सेवन से रोग दूर हो जाते हैं। पथ्य न रखा जाये तो सैंकड़ों औषधियाँ प्रयोग करने पर भी स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता। प्रकृति की रोगनिवारण शक्ति स्वयं ही रोगों को शरीर से बाहर निकालने के लिए सक्षम होती है। यदि बुद्धिमान मनुष्य उसकी शुद्धि के कार्य में कोई अड़चन न डाले, तो रोग बिना औषधि प्रयोग के भी दूर हो जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कीटाणुनाशक औषधियों और इंजेक्शनों के सेवन से रोगों का आक्रमण तीव्र अवस्था में शीघ्र कमजोर पड़ जाता है। और वेदना, जलन और सूजन आदि कम हो जाते हैं जिससे रोगी को शान्ति आ जाती है। यदि आयुर्वेदिक उपचारों के साथ इनका प्रयोग यथावश्यकता सम्मिलित किया जाये तो इससे कोई आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु जीर्ण रोगों का उपचार आयुर्वेदिक सिद्धान्तों पर किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। ताकि दोष समावस्था में आकर शरीर शुद्ध हो जाये और रोग का समूल नाश भी हो सके। आज आवश्यकता इस बात की है कि इन दोनों पद्धतियों के आधार पर एक संयुक्त-चिकित्सा-पद्धति का निर्माण किया जाये जिससे यह जन-साधारण की सेवा करने में अग्रसर बनी रहें। कहने की आवश्यकता नहीं कि आयुर्वेद अपने गुणों से, समय के उतार-चढ़ावों का बराबर मुकाबला करता आया है। यह आगे बढ़ता हुआ अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल रह सका है। अब यह आधुनिक विज्ञान को भी अपने में समावेश

करने की शक्ति रखता है। केवल इस दिशा में विद्वानों को मिलकर काम करने की आवश्यकता है। इससे भारत की यह संस्कृति जीवित रहेगी और इसको जन-साधारण की सेवा करने में बराबर अग्रसर रहने का अवसर भी मिलता रहेगा।

## समयोग सेवन स्वास्थ्य की प्रत्याभूति

**"समयोग युक्तास्तु प्रकृति हेतवो भवन्ति।"** —च० सू० ५।४३

अर्थात् समयोग सेवन के अभ्यास से युक्त पुरुष स्वस्थ रहता है।

महर्षि चरक ने मनुष्य को शरीर स्वस्थ रखने के लिए निम्न कार्यक्षेत्रों में समयोग सेवन का आदेश दिया है—

(अ) कायक, वाचक और मानसिक कर्मों का समयोग सेवन।

(आ) इन्द्रियार्थों अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का समयोग सेवन।

(इ) ऋतुचर्य्या और दिनचर्य्या के आहार-विहार आदि कर्मों में समयोग का सेवन।

उपरोक्त तीनों कार्यक्षेत्रों का विस्तृत वर्णन पीछे किया गया है। जो बुद्धिमान मनुष्य इनका समयोग सेवन करता रहता है वह स्वस्थ रह सकता है। इनका अतियोग, आयोग और मिथ्यायोग सेवन रोगों को निमन्त्रण देता है। समयोग सेवन करने वाला व्यक्ति नियमबद्ध आचार का पालक होता है, उसका मन बुद्धि के नियमन में रहकर काम करता रहता है। ऐसा सुधाया हुआ मन योग से सिद्ध होता है, जिसका अभ्यास बाल्यावस्था से ही विद्याभ्यास के साथ-साथ कराया जाना चाहिए। योग से मन सुधारा जाता है फिर बुद्धि के नियमन में रहकर काम करते हुए समयोग सेवक बन जाता है। फलस्वरूप स्वस्थ-दीर्घ-जीवन का भाजी बन जाता है।

## रोगों के शमन उपाय का सारांश

आयुर्वेद जीवनशास्त्र में रोगों के निदान का आधार मनुष्य की प्रकृति मानी गई है। प्रकृति कहते हैं, मनुष्य शरीर के स्वास्थ्य को, जो एक संयोगी शरीर है और स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों के संयोग से बना हुआ है। आयुर्वेद चिकित्सा क्षेत्र में दो शरीरों से सम्बन्ध रहता है—एक स्थूल शरीर से दूसरा सूक्ष्म शरीर से। स्थूल शरीर में वात, पित्त और कफ तीन दोष रहते हैं और सूक्ष्म अर्थात् मानसिक शरीर में सत्त्व, रज और तम तीन गुण रहते हैं। इन दोनों शरीरों के दोषों और गुणों की साम्यावस्था से शरीर का स्वास्थ्य बना रहता है।

महर्षि चरक का आदेश है—

**"विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।"** —च० स० अ० ९।४

अर्थात् धातुओं की विषमता को रोग और इनकी साम्यावस्था को प्रकृति अर्थात् स्वास्थ्य कहते हैं। इनकी यह साम्यावस्था मापतोल की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत

गर्भाधान के समय इन दोषों और गुणों की अवैकारिक मान की स्थिति पर निर्भर होती है। यदि इन दोषों और गुणों में असामान्यावस्था या विषमावस्था आ जाती है तो यह संयोगी शरीर विकारग्रस्त हो जाता है। यह महर्षि चरक का आदेश है।

रोग उत्पन्न होने पर रोगी की प्रकृति का परीक्षण किया जाता है। इस परीक्षण से शरीर के वात, पित्त और कफ के दोषों तथा मन के सत्त्व, रज और तम के गुणों की अवस्था का ज्ञान; अनुमान, तर्क और लक्षणों से मालूम किया जाता है जिससे इनमें आई हुई विषमता के फलस्वरूप रोग का निदान किया जाता है। आयुर्वेदशास्त्र पारगामी वैद्य अपनी बुद्धि नियन्त्रित मन से रोगों का निदान सुगमतापूर्वक कर लेता है। रोगों के शमन उपाय के लिए निम्न चार उपचारों से काम लेना चाहिए—

(i) मिथ्या आहार-विहार और प्राकृत जीवन के नियमों का पालन न करने से शरीर में अनेक प्रकार के मलों का संचय हो जाता है अर्थात् मल, मूत्र, स्वेद और गन्दी वायु आदि का निकास समुचित रूप से नहीं हो पाता। फलस्वरूप दोषों में विषमावस्था आ जाती है जिससे विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यदि शरीर में किसी प्रकार का मलसंचय हुआ हो तो उसको हटाना चाहिए। मलसंचय हटाने के लिए कभी सारक, कभी मूत्रल, कभी स्वेदल और कभी वातानुलोमक औषधियों से काम लेना पड़ता है। बहुत बार इसी उपाय मात्र से विकार शान्त हो जाते हैं।

(ii) रोगी की परीक्षा से निदान किया जाता है कि विकार की उत्पत्ति का कारण कौन दोष है। कभी-कभी विकार दो दोषों और तीनों दोषों के कोप से उत्पन्न हो जाते हैं। यह जानकारी कुपित हुए दोषों से शरीर में उत्पन्न हुए लक्षणों के निरीक्षण से प्राप्त हो जाती है। जैसे वात के कोप में रुक्षशीतादि, पित्त में उष्ण-स्निग्धादि और कफ में शीतस्निग्धादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इतना समझ लेने पर उपचार सरल बन जाता है। विकारों का शमन उपाय महर्षि चरक के आदेशानुसार यह है—

**"विपरीतगुणैस्तेषां स्वस्थ वृत्तेर्विधिर्हितः।"** —च० सू० अ० ७।४१

अर्थात् दोष के लक्षणों के विपरीत गुणों युक्त औषध द्रव्यों के सेवन करने से स्वास्थ्य लाभ हो जाता है अर्थात् वात को शमन करने के लिए स्निग्ध उष्णादि, पित्त को शीतरुक्षादि और कफ को उष्णरुक्षादि गुण-प्रधान औषध द्रव्यों के प्रयोग से शमन हो जाता है। संक्षेप में वात-कफ प्रधान शीतकृत रोगों का उष्ण उपचारों से और पित्त प्रधान उष्णकृत रोगों का शीत उपचारों से शमन करना चाहिए।

(iii) प्रकृति ने शरीर को स्वस्थ रखने के लिए मलों के निकास का प्रबन्ध शरीर के भीतर ही कर रखा है। मल, मूत्र, स्वेद और गन्दीवायु का निकास मल मार्ग, मूत्रेन्द्रिय, स्वेदरन्ध्रों और नथनों तथा गुदा से प्रतिदिन होता रहता है। अप्राकृतजीवन पालन से तथा मिथ्याहार-विहार से मलों के निकास में रुकावट

आ जाती है, फिर शरीर में मलों का संचय होकर वातादि दोषों में विषमावस्था आ जाती है और विकार उत्पन्न हो जाते हैं। विकार की उत्पत्ति पर प्रकृति अब विशेष असाधारण-शोध-क्रिया चालू करती है। यह काम जठराग्नि को सौंपा जाता है। जठराग्नि अपने स्थान आमाशय से बाहर निकलकर शुद्धि के काम में जुट जाती है। ऐसी अवस्था में भूख नहीं लगती अथवा कम लगती है। ऐसी दशा में ठोस भोजन बन्द रखा जाता है। इसके स्थान पर उचित लघु-तरल-आहार दिया जाता है अर्थात् उष्णकृत रोगों में शीत-लघु-तरल-आहार और शीतकृत रोगों में उष्ण-लघु-तरल-आहार। इसी को लंघन कहते हैं। लंघन से शरीर की शुद्धि शीघ्र हो जाती है।। शरीर में लाघवता और स्फूर्ति आ जाती है तथा दोषों का पाचन होकर उनमें समावस्था शीघ्र आ जाती है फिर विकार शान्त होने में देर नहीं लगती। लंघन की अवस्था में उबालकर ठण्डा किया हुआ कोष्ण जल यथेष्ठ रूप में पीने के लिए प्रयोग करना चाहिए।

(iv) रज और तम दोषों के कारण मन स्वभाव से ही चंचल बना होता है, इसी कारण जो द्रव्य सेवन नहीं करना चाहिए उसी का सेवन करता है, जो काम नहीं करना चाहिए वही कराता है, इस प्रकार से अपनी मनमानी चलाकर स्वास्थ्य को बिगाड़ डालता है। स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए चंचल शून्य (स्थिर) मन चाहिए। योगसाधना से मन को स्थिर बनाया जाता है। मन शुद्ध हो जाता है। अब मन की शुद्धि से बुद्धि भी शुद्ध हो जाती है। बुद्धि के शुद्ध होने पर प्रज्ञापराध नहीं हो जाता। इसके प्रसाद से हिताहार-विहार ओर समयोग युक्त कर्मों के द्वारा स्वास्थ्य का संरक्षण और संवर्द्धन करता हुआ दीर्घजीवन पाता है। और रोगावस्था में भी पथ्य से रहकर रोगमुक्ति शीघ्र प्राप्त कर लेता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपरोक्त चारों उपायों से प्रायः ९०% साध्य रोग दो-तीन दिनों के उपचार से ठीक हो जाते हैं।

## दूसरा अध्याय

# जठराग्नि

### शरीर की गरमी और जठराग्नि की उत्पत्ति, पित्त से

स्वास्थ्य का दूसरा लक्षण समाग्नि है। मनुष्य को गर्भकाल से ही प्राकृत पित्त के प्रसाद से शरीर की उष्मा प्राप्त हुई है। उसी पित्त से यह जठराग्नि बनी है। इस जठराग्नि का काम भोजन की पाचन क्रिया से रहता है।

"पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्मनराणामुपजायते।" —च० सू० १७।११६

अर्थात् शरीर की उष्मा पित्त के ही कारण से है। इसी से मनुष्य की जठराग्नि बनती है जो भोजन का परिपाक करती है।

### जठराग्नि की प्रधानता

मनुष्य जो भोजन करता है जठराग्नि उसको पचाकर दो भागों में विभक्त करदेती है। सार भाग और किट्टभाग में। सार भाग को आहार रस कहते हैं। इसी आहार रस से धातु अग्नियाँ अपनी-अपनी पाचन क्रिया से रसरक्तादि सात धातुएँ बनाती हैं। कहा गया है—

"यदन्नं देह धात्वोजो बलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपाकाद्रसादयः।।" —च० चि० १५।५

अर्थात् जठराग्नि के ही कारण भोजन पच जाता है। और उसका आहाररस बन जाता है जो आत्मसात् होने के योग्य बन जाता है। इस आहाररस से रसरक्तादि धातुएँ बन जाती हैं। और शरीर का ओज, बल और वर्ण पोषित हो जाता है। भोजन की पाचन क्रिया के बिना रसरक्तादि धातु नहीं बन सकते।

किट्टभाग को मल कहते हैं। इसके घने भाग से पुरीष बनता है। और पतले भाग से मूत्र बनता है। इन दोनों मलों को प्रकृति शरीर से बाहर निकाल देती है। इसीलिए आदेश हुआ है कि वेगों को रोकना नहीं चाहिए।

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः।। —च० चि० १५।३

अर्थात् देहाग्नि जो मनुष्य की जठराग्नि कहलाती है इसी से मनुष्य को आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य उत्साह, पुष्टि, प्रभा, ओज, तेज और प्राण प्राप्त हो जाते हैं। और इसी के कारण सभी देहाग्नियां भी उसको प्राप्त हैं।

**पाँच भौतिक अग्नियाँ**

देह अग्नियाँ संख्या में तेरह हैं। इनमें प्रधान जठराग्नि है। भौतिक अग्नियाँ पाँच हैं और धातु अग्नियाँ सात हैं। कहा भी गया है—

**भौमाप्याग्नेय वायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।**

**पंचाहारगुणान्स्वान्स्वान् पार्थिवादीन्पचन्ति हि॥** —च० चि० १५।१३

अर्थात् भौम अग्नि, आप्य अग्नि, तेज अग्नि, वायु अग्नि और नाभस अग्नि यह पाँच भौतिक अग्नियाँ हैं। यह आहार पदार्थों में से अपने-अपने पार्थिव आदि सजातीय गुणों को पचाकर अपने-अपने सजातीय भूतों को पोषित करते रहते हैं।

**धातु अग्नियाँ सात हैं**

**सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।**

**यथा स्वमग्निभि पाकं यान्ति किट्ट प्रसादवत्॥** —च० चि० १०।१५

अर्थात् धातु अग्नियाँ सात हैं—रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदाग्नि, अस्थि अग्नि, मज्जाग्नि और शुक्राग्नि। प्रत्येक अग्नि आहार रस को अपनी रासायनिक पाचन क्रिया से दो भागों में विभक्त करती है। सार भाग और किट्ट भाग में। सार भाग से अपनी धातु का निर्माण करके उसको पोषित करती है। इस प्रकार यह धातु अग्नियाँ अपनी परिपाक क्रिया से यथाक्रम रस, रक्तमांस, मेद, अस्थि, मज्जा-शुक्र धातुएँ बनाते हैं। और किट्ट भाग, जो मल होता है, उससे अपने-अपने मन का पोषण होता है। अवशेष मल प्रकृति के द्वारा शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है।

यह उपरोक्त बारह अग्नियाँ जठराग्नि के आश्रित रहती हैं। कहा भी गया है।

**अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः।**

**तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षय वृद्धि क्षयात्मिका॥** —च० चि० १५।३६

अर्थात् अन्न को पचाने वाली जठराग्नि दूसरी सभी बारह अग्नियों से प्रधान अग्नि है। यह मूलाधार अग्नि है। इसी के आश्रित दूसरी सारी अग्नियाँ रहती हैं। जठराग्नि की वृद्धि से उनकी वृद्धि होती है और इसकी कमी से उनकी कमी हो जाती है। इसलिए आयुर्वेद विज्ञान में आदेश हुआ है।

**तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितः।**

**पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः॥** —च० चि० १५।४०

अर्थात् इस जठराग्नि को हिताहार से युक्तिपूर्वक यत्न करके प्रदीप्त रखना चाहिए। इसके ही आधार पर मनुष्य का जीवन और उसका बल वर्ण स्थित है। यदि अग्नि प्रदीप्त है, तो मनुष्य भी जीवित है अन्यथा वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

**जठराग्नि के प्रकार**—पाचक शक्ति के आधार पर बल भेद से जठराग्नि चार प्रकार की होती है। कहा गया है—

**"अग्निषु तु शरीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति तद्यथा—तीक्ष्णो, मन्दः, समो, विषमश्चेति।"**

अर्थात् शरीर में बल के भेद से जठराग्नि चार प्रकार की होती है—तीक्ष्णाग्नि, मन्दाग्नि, समाग्नि और विषमाग्नि।

(१) **तीक्ष्णाग्नि**—यह पित्तला देह प्रकृति वालों को होती है। इसकी पाचक शक्ति बड़ी तेज होती है। तीक्ष्ण अग्नि वाला मनुष्य गरिष्ठ (भारी) भोजन भी पचा सकता है। यदि इस मनुष्य को भोजन रूपी ईंधन न मिले तो यह उसको जला डालती है। यह अपचार से विकृत नहीं हो जाती। परन्तु फिर भी भोजन उतनी ही मात्रा में खाया जाये जिससे भूख तो हटे, पर पेट फटे नहीं। पेट में तनाव न हो जाये।

(२) **मन्दाग्नि**—इस प्रकार की अग्नि श्लेष्मला देह प्रकृति वालों को होती है। यह अपचार से शीघ्र विकृत हो जाती है। ऐसा व्यक्ति लघु (हल्का) भोज्य पदार्थ ही खा सकता है और वह भी दो चार ग्रास कम मात्रा में खाया जाना चाहिए ताकि अच्छी प्रकार से पचकर आहार रस आत्ममात हो सके। मन्दाग्नि वाला मनुष्य गुरु (भारी) भोज्यपदार्थ न खाये या कम मात्रा से खाये।

(३) **विषमाग्नि**—ऐसी अग्नि वातल देह प्रकृति वालों की होती है। कभी अपचार से विकृत हो जाती है और कभी अनपचार से सुधर जाती है। ऐसे व्यक्ति को विषम आहार के सेवन से बचकर रहना चाहिए।

(४) **समाग्नि**—समाग्नि से ही भोजन की पाचन क्रिया सम्यक रूप से होती है। इस प्रकार की अग्नि समदोष देह प्रकृति वालों की होती है। भोजन सम्यक रूप से पचकर इसका आहार रस सम्यक रूप से आत्मसात हो जाता है। इस रस से धातु अग्नियाँ अपनी रासायनिक पाचन क्रियाओं के द्वारा उत्तरोत्तर रस रक्त आदि सात धातुएँ बनाती हैं। और बनाकर उनको पोषित करती हैं। रक्तधातु बनकर इसको प्राकृतवायु अपनी प्राकृत कर्मगति से धमनियों, रक्तवाहिनियों और केशिकाओं में प्रधमन करता हुआ शरीर की सभी धातुओं और संस्थानों यहाँ तक कि प्रत्येक अंग-प्रत्यंग के एक-एक कोष तक यह रस रूपी रक्त पहुँचाता है। वह इस पोषक रस को प्राप्त करके पुष्टि और वृद्धि पाते हैं। कहा गया है—

**आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम्।**
**पक्वः सर्वाशयं पश्चाद्धमनीभिः प्रपद्यते॥** —च० वि० २।१८

अर्थात् आमाशय में भोजन का सम्यक पाक होकर इसका पक्व सार अर्थात् आहार रस धमनियों में भ्रमण करता हुआ समस्त शरीर में पहुँचता है और शरीर के सभी अङ्ग-प्रत्यंगों के कोषों को इस पोषक रस से सींचता है।

**जीवन का मूलाधार जठराग्नि**—इस पोषक रस से शरीर के सभी संस्थान पोषित होते हैं। उनको शक्ति प्राप्त हो जाती है। फलस्वरूप पाचक संस्थान भी पोषित होकर शक्तिमान बन जाता है। वह पुनः भोजन से पोषक रस (आहार रस) बनाने के समर्थ बन जाता है। जिससे समस्त शरीर को पुनः पोषक रस मिलता है। यह पोषण क्रिया नियमपूर्वक चक्रवत् चालू रहती है। इसी से जीवन बना रहता है। शरीर स्वस्थ रहता है इसके साथ-साथ मन भी शक्तिमान बन जाता है। शक्तिमान मन ही प्रसन्न रह सकता है। इस जठराग्नि को प्रदीप्त रखने के लिए आहार रूपी ईंधन मिलते रहना चाहिए क्योंकि जीवन की निर्भरता इसी पर है। कहा गया है—

**बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः।**
**अन्नपानेन्धनैश्चाग्नि ज्वलति व्येति चान्यथा॥** —च० सू० २७।३४२

अर्थात् मनुष्य के शरीर का बल, आरोग्य, आयु और प्राण यह सभी बातें जठराग्नि के आश्रित रहते हैं। इस अग्नि को हिताहार रूपी ईंधन से प्रज्वलित रखना चाहिए अन्यथा यह ठण्डी हो जायेगी। फलस्वरूप मनुष्य भी ठण्डा हो जाएगा।

**आहार की मात्रा अग्निबल और द्रव्य गुण के आधार पर**—इस विषय के प्रसङ्ग में एक बात यहाँ पर लिखनी उपयुक्त होगी कि अग्नि को प्रदीप्त रखने के लिए भोजन का मात्रापूर्वक सेवन किया जाना चाहिए। ताकि भोजन सम्यक रूप से पचकर आत्मसात् हो सके और यह स्वास्थ्यप्रद सिद्ध हो सके। मात्रा के विषय पर आगे भी वर्णन आयेगा। पर यहाँ पर इतना लिखना पर्याप्त होगा कि खाद्यपदार्थों की मात्रा सभी मनुष्यों के लिए एक समान नहीं हो सकती है। इसका एक कारण यह है कि सभी मनुष्यों का अग्नि वल एक समान नहीं होता है। किसी को तीक्ष्ण अग्नि है, किसी को मन्दाग्नि है, कोई विषमाग्नि वाला है। दूसरा कारण यह है कि सभी खाद्य पदार्थों के गुण एक समान नहीं हैं। कोई पदार्थ लघु (हल्का) है कोई गुरु (भारी) होता है। इनके गुणों में भेद होता है। इन कारणों से सभी खाद्य पदार्थों की मात्रा सभी मनुष्यों के लिए एक समान नहीं हो सकती। भोजन की मात्रा प्रत्येक मनुष्य के प्रति उसके अपनी अग्निवल को विचार कर तथा भोज्य पदार्थों की लाघवता और गुरुता के गुणों का विचार करके ही नियुक्त की जा सकती है।

मात्रा पूर्वक आहार के सेवन से ही मनुष्य का स्वास्थ्य बन सकता है। यही प्रदीप्त जठराग्नि के परिपाक से पचकर, इसका आहाररस आत्मसात हो जाता हैं। इसलिए जठराग्नि को हिताहार रूपी ईंधन से प्रज्वलित रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसकी ओर ध्यान रखना चाहिए। नहीं तो उपयुक्त ईंधन न मिलने से जठराग्नि बुझकर शान्त हो जायेगी। फलस्वरूप मनुष्य भी ठण्डा होकर मृत्यु को

प्राप्त हो जाएगा। कहा भी गया है—

**शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।**
**रोगी स्याद्विकृते मूलमग्नि तस्मान्निरुच्यते ॥** —च० चि० १५।४

अर्थात् जठराग्नि के शान्त हो जाने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इसको युक्ति-पूर्वक प्रदीप्त रखने से मनुष्य चिरकाल तक जीवित रह सकता है। यदि यह अग्नि विकृत हो जाये तो मनुष्य रोगी बन जाता है। अतः जठराग्नि जीवन की मूलाधार है। इसको युक्ति से प्रज्ज्वलित रखना चाहिए।

तीसरा अध्याय

# सप्तधातु

## धातुओं के निर्माण में भोजन का महत्त्व

स्वास्थ्य का तीसरा लक्षण समधातु है। मनुष्य जो भोजन खाता है जठराग्नि से उसका पाचन होता है। पाचन क्रिया से पचकर इससे सार प्राप्त होता है। उस सार से रस आदि सात धातु बनती हैं।

यदन्नं देह धात्वोजो बलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः।। —च० चि० १५।५

अर्थात् जठराग्नि से अन्न पचता है। उसके सार से रस आदि धातु बनती हैं और शरीर का ओज, वल और वर्ण पोषित होता है। जो भोजन की पाचन क्रिया के विना नहीं बन सकते थे।

## वातादि दोषों की पोषण क्रिया—कफ का पोषण

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्सस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात्त् कफो भावात्फेन भूत उदीर्यते।। —च० चि० १५।६

अर्थात् खाद्य पदार्थों में जो गुण और रस होते हैं, भोजन खाकर उसकी पहली पाचन क्रिया मुख में होती है। जिसमें कण्ठ और मुख के अङ्ग दाँत, कण्ठ, जीभ और लाला ग्रन्थियाँ आदि भाग लेते हैं। चवाते-चबाते भोजन के गुणों और रसों के साथ मुंह की लाला मिश्रित हो जाती है। उससे मिठास स्वाद लिये फेण रूप कफ उत्पन्न हो जाती है।

## पित्त का पोषण

परंतु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्ल भावतः।
आशयाच्चवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते।। —च० चि० १५।१०

अर्थात् नाभि और हृदय के मध्य में आमाशय रहता है। वहाँ पहुँचकर भोजन की दूसरी पाचन क्रिया आरम्भ होती है। तो पच्यमान अवस्था में यह आमाशय के अम्ल रस के साथ मिलकर अम्लभाव को प्राप्त होता है। इससे पित्त की उत्पत्ति हो जाती है।

## वायु का पोषण

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डित पक्वस्य वायुः स्यात्कटु भावतः।। —च० चि० १५।११

अर्थात् पच्यमान अवस्था को पूर्ण करते हुए पक्वाशय में पहुँचकर इसकी तीसरी पाचनक्रिया होती है। उससे भोजन के गुणों और रसों का सार अंतड़ियों में शोषित होता है, जिससे शरीर का पोषण होता है। यह सार सम्यक प्रकार से आन्त्रों के द्वारा शोषित होकर भोजन का परिपक्व पिण्ड कटु भाव को प्राप्त होकर वायु को उत्पन्न करता है। इस प्रकार से वात, पित्त और कफ की उत्पत्ति भोजन से होती है।

## पृथ्वी आदि भूतों की पोषण क्रिया

"भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वान्पार्थिवादीन्पचयन्ति हि॥
यथास्वं स्वं पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः प्रथक।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृतस्नशः॥

—च० चि० १५।१३-१४

अर्थात् भूताग्नियाँ पाँच प्रकार की हैं—पार्थिव अग्नि, आप्य अग्नि, आग्नेय अग्नि, वायवीय अग्नि और नाभस अग्नि, आहार द्रव्यों में प्रकृति ने गुरु, स्निग्ध आदि बीस गुण आश्रित रखें हैं, जिनसे पंचभूतात्मक शारीरिक अवयवों के गुणों की पोषण-क्रिया होती है। यह पोषण-क्रिया भूताग्नियों के द्वारा होती रहती है। वही अपने-अपने गुणों को पचाकर अपने-अपने भौतिक गुणों का पोषण करती हैं। जैसे गुरु, स्निग्ध आदि भोज्य-पदार्थों के गुणों से पार्थिव अवयवों की पोषण क्रिया हो जाती है, उसी प्रकार दूसरे भूतों का भी पोषण अपने-अपने गुणों द्वारा होता रहता है।

## घ्राण और गन्धादि पाँच इन्द्रियार्थों की पोषण क्रिया

"अन्नमिष्टं ह्युपहितामिष्टैगन्धादिभिः प्रथक।
देहे प्रीणाति गन्धादीन घ्राणादीनीन्द्रियाणि च॥"

--च० चि० १५।१२

अर्थात् मन को प्रिय लगने वाले और शरीर के लिए हितकारी अन्नपदार्थ, जो सुगन्धित मसालों से सुसंस्कृत होते हैं, शुद्ध और शान्त वातावरण में, सुन्दर स्थान पर उपयुक्त सामग्री से युक्त, मनोहर संगीत के साथ जो सेवन किए जाते हैं, उनसे सभी घ्राण आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और उनके गन्धादि सभी विषय, तृप्ति पाकर पोषित होते हैं।

## सप्तधातुओं और मलों का निर्माण और उनका पोषण

"सप्तभिर्देह धातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकंयान्ति किट्ट प्रसादवत्॥"

—च० चि० १५।१५-१७

अर्थात् धातु अग्नियाँ, जठराग्नि की तरह अपनी परिपाक क्रिया से सार और किट्ट

निकालते हुए अपने-अपने धातु बनाते हैं। दूसरे शब्दों में मनुष्य जो भोजन खाता है उसको जठराग्नि पचाकर दो भागों में विभक्त करती है—सार भाग और किट्ट भागों में। सार भाग से धातु बनने आरंभ होते हैं। जिनको बनाने के लिए धातु अग्नियां क्रियाशील हो जाती हैं। यह जठराग्नि की तरह पाचन क्रिया करते हुए, सार और किट्ट भाग पृथक्-पृथक् निकालते हैं और सार भागों से अपने-अपने धातु बनाते जाते हैं।

सबसे पहले रसाग्नि से पाचन क्रिया आरंभ हो जाती है। जो इस सार भाग को पुनः दो भागों में विभक्त कर डालती है–सार भाग और किट्ट भाग में। सार भाग से रस धातु बन जाता है और किट्ट भाग से मल मलों का वर्णन, मल शुद्धि अध्याय में करेंगे। यहाँ पर केवल धातुओं की ही चर्चा होगी।

अब रस धातु की पाचन क्रिया रक्ताग्नि के द्वारा आरम्भ होती है। जो इसको पुनः दो भागों में विभक्त करती है—सार और किट्ट भाग में। सार भाग से रक्त-धातु बन जाती है। और किट्ट भाग से मल। फिर इसी परिपाक क्रम से सभी धातु अग्नियाँ, सार आग से अपने-अपने धातु बनाते जाते हैं और किट्ट भाग पृथक्-पृथक् निकालकर रखते हैं। इस प्रकार रक्त से मांस धातु, मांस से मेद धातु, मेद से अस्थि धातु, अस्थि से मज्जा धातु और मज्जा से शुक्र का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार से सात धातुओं का निर्माण हो जाता है और उनका पोषण भी होता रहता है। कहा भी गया है—

**"रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।**
**अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः॥"** —च० चि० १५।१६

अर्थात् रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र बन जाता है। फिर शुक्र के प्रसाद से गर्भ धारणा सम्भव हो जाती है। स्मरण रहे कि शुक्र धातु सभी शेष धातुओं की सार धातु है। शरीर के बल का आधार इसी शुक्र धातु पर निर्भर है। शुक्र धातु जितनी पुष्ट होगी उतना ही अच्छा है। यह जीवन शक्ति का आधार है। शरीर के स्वास्थ्य का आनन्द वही मनुष्य भोग सकता है जिसका शुक्र पुष्ट हो। यह स्वस्थ-दीर्घ जीवन प्राप्त करने की आधार-शिला है। इसको पुष्ट बनाए रखना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। यह गर्भ धारण के लिए बीज-क्षेत्र-गुण सम्पत्त का एक स्तम्भ है। जिससे हमारा भविष्य उज्ज्वल और अमिट बन सकता है। जिसकी निर्भरता स्वस्थ सन्तति पर होती है। शुक्र धातु की दुर्बलता से रोग उत्पन्न हो जाते हैं और आयु क्षीण होकर मृत्यु भी हो जाती है।

**शुक्र धातु की रक्षा परम कर्त्तव्य**

आहारस्य पर धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयादस्य बहून्रोगान्मरणं वा नियच्छति॥

अर्थात् आहार का परम सार सातवीं धातु शुक्र है। इसको वीर्य भी कहते हैं। इसकी पूर्ण रक्षा करनी चाहिए। इसको अधिक स्त्रीसंग में खर्च न करें या और किसी कारण से नाश न करें। उससे नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं अपितु मृत्यु तक भी हो जाती है।

ब्रह्मचर्य का संरक्षण बाल्यावस्था से ही नितान्त आवश्यक है। विशेषकर दसवें, बारहवें वर्ष की आयु से आगे। इस अवस्था में शरीर की सभी धातुएँ पूर्ण-रूप से परिपक्व नहीं हुई होती हैं, विशेषकर शुक्र धातु।

**नर्ते वै षोडशाद्वर्षात् सप्तत्याः परतो न च।**
**आयुष्कामो नरः स्त्रिभिः संयोगं कर्तुमर्हति॥**

अर्थात् जो मनुष्य दीर्घायु चाहता है उसको सोलह वर्ष की आयु से पहले और सत्तर वर्ष की आयु के पश्चात् स्त्रीसंग नहीं करना चाहिए।

**ब्रह्मचर्य आश्रम**—हमारे पूर्वजों ने मनुष्य जीवन को चार आश्रमों में बाँटा है। मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानकर इसके २५ वर्ष के पहले भाग को ब्रह्मचर्य आश्रम, दूसरे भाग को गृहस्थ आश्रम, तीसरे भाग को वाणप्रस्थ आश्रम और चौथे भाग को संन्यास आश्रम में बाँटा है। इससे पहले ब्रह्मचर्य आश्रम में बालक को विद्या अध्ययन कराया जाता था। प्रत्येक शाखा में विद्याभ्यास कराया जाता था और इसमें उत्तम स्तर अर्थात् आचार्य पद तक शिक्षा दी जाती थी जो आधुनिक पी-एच० डी० डिग्री मानी जाती है। जीविका सम्बन्धी हर प्रकार के औद्योगिक कर्मों की और नाना प्रकार के उत्तम शास्त्रों का शिक्षण उसको अपनी मनोवांछित शाखा में दी जाती थी।

ब्रह्मचर्यआश्रम में सदाचार बढ़ाने की शिक्षा साथ-साथ दी जाती थी। इसके लिए यौगिक शिक्षा क्रम चालू था। उस समय सदाचार बढ़ाने के साथ-साथ जीवात्मा ज्ञान की शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। इसके साथ-साथ आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों पर स्वास्थ्य का संरक्षण और संवर्द्धन भी सिखाया जाता था। योगासन, प्राणायाम और ध्यान धारणा आदि का अभ्यास कराया जाता था। इसमें दन्तधावन से लेकर, तैलाभ्यङ्ग, व्यायाम, योगासन, स्नान, संन्ध्या और प्राणायाम का अभ्यास क्रमपूर्वक अपने-अपने नियुक्त समयों पर कराया जाता था।

खाने, पीने, सोने, जागने और काम करने के समय नियुक्त होते थे। किसी कार्यक्रम की अवहेलना नहीं की जाती थी। ऐसी व्यवस्था होते हुए ब्रह्मचर्य आश्रम की पालना समुचित रूप से की जाती थी। और सम्पूर्ण शिक्षा क्रम उन दिनों विद्यालयों में ही मिला करता था। कितनी सुन्दर, सुशिक्षित और समुन्नत शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी। बालक में पूरे मनुष्यत्व के गुण परिपक्व हो जाते थे। उन दिनों बालक पाठशालाओं से देवरूप जैसा मनुष्य, सदाचार का नमूना बनकर

निकलता था जो अपनी नवयुवक अवस्था से ही अपना भविष्य जीवन, अपने आप मानपूर्वक चलाने के समर्थ बना हुआ होता था। उन दिनों चोरी-चकारी का नाम सुनने को नहीं मिलता था, अत्याचारी, दुराचारी, भ्रष्टाचारी, मार-धाड़, डाके डालने की कोई घटना नहीं होती थी। यदि कदाचित होती भी थी, तो उसको पकड़कर दण्ड दिया जाता था और वातावरण शुद्ध किया जाता था। जब यह सुशिक्षित नवयुवक, गृहस्थ आश्रम में पग रखता था तो अपनी जीवन यात्रा स्वयं अपनी टाँगों पर खड़ा रहकर, निभाने के समर्थ बना हुआ होता था। यदि आज की शिक्षा प्रणाली में वैसी ही व्यवस्था लाई जाये तो इससे समाज और देश का अकथनीय कल्याण हो सकता है।

ब्रह्मचर्य्याश्रम के अन्तिम वर्षों में बालक नवयुवकावस्था में पहुँचा हुआ होता है। उसका वीर्य परिपक्वावस्था को प्राप्त हुआ होता है तो वीर्य की पुष्टि के साथ-साथ कामेच्छा भी पुष्ट होती जाती है और मैथुन क्रिया का समय आरम्भ हो जाता है। एक ओर से कामेच्छा की तीव्रता और दूसरी ओर से सदाचार के भङ्ग होने का भय, एक बड़ी दुष्परिस्थिति खड़ी हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में कामातुर नवयुवक गृहस्थाश्रम धारण कर लेता है और अपनी अर्द्धाङ्गिनी को पाकर अपनी कामेच्छा पूरी करता रहता है।

मैथुन क्रिया से वीर्य का स्खलन होता है। और यह शरीर से बाहर निकल जाता है। मैथुन क्रिया में आनन्द का अनुभव हो जाता है और यह अनुभव उस समय चरम सीमा तक पहुँच जाता है जब वीर्य का स्खलन हो रहा हो। मैथुन क्रिया का यह दो तीन मिनट का समय आनन्दमय होता है। अधिक पुष्ट वीर्य वाला मनुष्य, अधिक आनन्द अधिक समय तक भोग लेता है। हीन वीर्य वाला मनुष्य, थोड़ा आनन्द थोड़े समय तक भोग लेता है। स्त्रीसहवास से प्राप्त आनन्द को विषयानन्द कहते हैं। परमानन्द में मनुष्य दिन-रात बराबर आनन्द मग्न रहता है। यह आनन्द परमात्मा या भगवान की भक्ति करने से प्राप्त होता है। इसका वर्णन आगे आयेगा, यहाँ तो विषयानन्द की बात चल रही है।

यदि मनुष्य अधिक विषयानन्द भोगना चाहे तो उसे वीर्य वर्द्धक पौष्टिक और वृष्य आहार का सेवन करना चाहिए। इसमें शुद्ध दूध, शुद्ध घृत, मांस, मत्स्य, दालें, मक्खन, अण्डा, दही और दूसरे स्निग्ध और मधुर पदार्थ सम्मिलित हैं। इसके लिखने का अभिप्राय यह है कि वृष्य आहार का सेवन किए बिना स्त्रीसहवास से मनुष्य क्षीण हो जाता है। फिर जीवन का स्वाद ही क्या रहा। कामी पुरुष को पौष्टिक आहार सेवन करने की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। फिर भी विषयानन्द भोगने की सीमा उतनी ही उचित है जिससे मनुष्य में निर्बलता आने न पाये। उसकी दिनचर्य्या प्रभावित हो जाये और काम बन्द होकर भूखों न मरना पड़े। स्मरण रहे मैथुन से वीर्य का व्यय होकर निर्बलता आ जाती है।

**वीर्य वर्द्धक पदार्थ**

यत् किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृहणं गुरु।
हर्षणं मनश्चैव सर्वं तद्वृष्यमुच्यते ॥
द्रव्यैरेवं विधैस्तस्माद्भावितः प्रमदां व्रजेत्।
आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ॥
गत्वा स्नात्वा पयः पीत्वा रसं वाऽनुशयीतना।
तथाऽस्याप्यायते भूयः शुक्रं च बलमेव च ॥

—च० चि० २ पाद/३६-३८

अर्थात् वीर्यवर्द्धक पदार्थ यह है—मधुर, चिकना, मोटा करने वाले गुरु पदार्थ और जीवन को बढ़ाने वाले दूध, घी, मांस आदि तथा जो मन में हर्ष उत्पन्न करने वाले हैं। इनके सेवन से वीर्य अर्थात् शुक्रधातु बढ़ता है। ऐसे वीर्यवर्द्धक आहार खाकर स्त्रीसहवास से आनन्द उठाया जा सकता है। स्त्रीसहवास के पश्चात् स्नान करके दूध उबालकर मीठा डालकर पीना चाहिए या मांस रस पीना चाहिए। इससे वीर्य भी पुनः बढ़ता है और बल भी आता है। अतः स्त्रीसहवास के पश्चात् पौष्टिक आहार का तात्कालिक सेवन उपयोगी होता है। इससे मनुष्य क्षीण नहीं होने पाता।

आजकल प्रेम, विलासिता और काम वासना सम्बन्धी पुस्तकों और कथाओं की बहुत कुछ चर्चा हो रही है। इनसे नवयुवक और नवयुवतियाँ ही नहीं अपितु बालक और बालिकाएँ भी प्रभावित होती चली जा रही हैं। इसका मूल कारण यह है कि बच्चों को देखभाल के बिना खुल्लमखुल्ला स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है और वह अज्ञानावस्था में कुसंगति में फँग जाते हैं। ऐसी कच्ची अवस्था में यदि अज्ञानवश, कुसंग से एक बार वीर्य स्खलन हो जाता है तो उस क्षणभंगुर विषयानन्द के अनुभव से, बालक प्रभावित हो जाता है और कुसंगति में फँसा ही पड़ा रहता है। वीर्य स्खलन के नये-नये ढंग भी इसी कारण निकल आये हैं हस्तक्रिया और बालमैथुन इसी के रूपान्तर हैं। कच्ची अवस्था में इन कुक्रियाओं के परिणामस्वरूप वीर्य में पतलापन आ जाता है, जिसके कारण यह अपने आप हर्ष के बिना ही मूत्र के साथ स्रवित होता रहता है। या स्वप्नदोष हो जाता है। दोनों कारणों से शरीर में निर्बलता और निकम्मापन आ जाता है। कई ध्वजभङ्ग के ग्रस्त भी हो जाते हैं। ऐसे बच्चों को कुसंग से दूर रखकर सुधारा जा सकता है।

गृहस्थ अपनी धर्मपत्नी के साथ सहवास से अपनी कामेच्छा पूरी कर सकता है, परंतु अविवाहित युवक परस्त्रीगमन नहीं कर सकता। यह सदाचार के विरुद्ध है। कहा भी है—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।।

अर्थात् —पण्डित या बुद्धिमान वह मनुष्य है जो दूसरी स्त्री को माता के समान, दूसरे के द्रव्य (धन) को मिट्टी के समान और दूसरे जीव को अपने समान मानता है।

ऐसे अविवाहित युवकों को, अपने समान युवतियों के साथ विवाह करके गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिए और अपनी कामेच्छा पूरी करनी चाहिए। ब्रह्मचर्य आश्रम के दो-तीन वर्ष आगे पीछे, विवाह करना उचित है। परंतु आज-कल की कुरीतियों, विशेष करके दहेज के कारण, यह विवाह से वञ्चित रहते हैं। धन के अभाव के कारण विवाह स्थगित करना पड़ता है। धनराशि बनाने के लिए इन्हें अधेड़ आयु तक अविवाहित रहना पड़ता है। इनमें निराशा और उत्साह हीनता छा जाती है। कभी-कभी भयंकर घटनाएँ भी देखने और सुनने में आती हैं। यदि धनराशि सम्भव भी हो गई तो अधेड़ आयु में दम्पति जीवन का आनन्द उठाने का समय अर्द्धसमाप्ति पर पहुँच गया होता है। ऐसी अवस्था में यदि सन्तानोत्पत्ति हो भी जाती है तो उनके फलने और फूलने के समय तक, सन्तानोत्पादक जीवित हो या न हो, कुछ कहा नहीं जा सकता। इसलिए अधेड़ आयु में होने वाला विवाह दोनों, स्त्री और पुरुष को सुखदायक सिद्ध नहीं होता।

दहेज ने समाज में घुन लगाया है। इसको खोखला और निर्बल बनाया है। जितना शीघ्र इसको समाप्त किया जाए उतना ही अच्छा है। इस शुभ कार्य के लिए नवयुवक और नवयुवतियों को, स्वयं क्षेत्र में निकलकर काम करना चाहिए और दहेज का अस्तित्व संसार में नष्ट करना चाहिए। सभी घराने लड़की वाले हैं और लड़के वाले भी। इसलिए यह सभी का मिला-जुला काम है। यदि दृढ़-संकल्प होकर पुरुषार्थ से आप काम करेंगे तो कार्य सफलता में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

हमारे पूर्वज धन के वल पर विवाह नहीं करते थे। उनके पास धन कोई वस्तु नहीं थी। वह योग्यता के आधार पर विवाह रचाते थे। योग्यता किसी भी उद्योग में या विद्या आदि में होनी चाहिए थी। जिससे वह अपनी टाँगों पर खड़ा रहने के समर्थ होता ! क्योंकि उसी योग्यता के आधार पर जीवन-निर्वाह सम्भव था। यह विवाह कार्य स्वयंवर की प्रथा पर चालू थी। एक साधारण रीति के अनुसार निमन्त्रित व्यक्ति एकत्रित हो जाते थे। सब मित्र और बांधव एक मण्डप पर (उ० भा०) आकर एक सभा का उद्घाटन करते थे जिसमें कन्या अपने मनपसन्द वर के गले में फूल माला डालती थी। बस विवाह का कार्य सम्पन्न हो जाता था। इसमें एक सरल रीति से अग्नि के सन्निधान में दुल्हा और दूल्हन दोनों शपथ उठाते थे कि वे आजीवन एक दूसरे के अर्द्ध शरीर बनकर प्रेम से ग्रहस्थ जीवन चलाते रहेंगे। उपस्थित सज्जनों का अन्न जल से आदर सत्कार किया जाता था। दूल्हा अपनी

दुल्हन के साथ अपने घर लौट जाता था। कितनी सुन्दर, सस्ती तथा सुशिक्षित विवाह प्रथा थी। यदि आज भी इस प्रथा को जीवित कर दिया जाता है तो यह समाज का एक प्रशंसनीय कार्य माना जाएगा, जिससे समाज में नया जीवन और नया उत्साह भर जाएगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि दम्पति जीवन तभी अपनाया जा सकता था जब युवक ब्रह्मचर्याश्रम से पूरा मनुष्य बनकर निकला हुआ होता था। उसमें अपने टाँगों पर खड़ा रहने की शक्ति का विकास हुआ होता था। आज हम इस ब्रह्मचर्य का नाम सुनकर इसका हास्य उड़ाते हैं। आज सदाचार बनाने वाले और शारीरिक और मानसिक शक्ति का विकास कराने वाले इस आश्रम का हास्य उड़ाएँ, कितना लज्जास्पद और महान पतन है यह!

हम देखते हैं कि आज सारा संसार अशान्ति के वातावरण में फंसा हुआ है। कहीं युद्ध के षड्यन्त्र चल रहे हैं। कहीं दुर्भिक्ष पीड़ित लोग मर रहे हैं। कहीं अधिकार की तृष्णा से हमारे समाज-सुधारक, खून के प्यासे कुत्ते बन गए हैं। भ्रष्टाचार, दुराचार, अत्याचार, ईर्ष्या, घृणा, मारधाड़, चोरी और डाका डालना यह एक साधारण दिनचर्या बनी हुई है। साधारण मनुष्य का सही मार्ग पर चलना एक समस्या बन गई है।

चाहिए तो यह था कि विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ संसार में मानव जाति का भी कल्याण हो जाता। उनका जीवन अधिक सुखी बन जाता। परंतु ऐसा कुछ भी देखने में नहीं आता। यहाँ तो मनुष्यत्व का दिवाला निकल रहा है और इसका पतन हो रहा है। चन्द्रमा की यात्रा के पश्चात्, अब शून्य में बस्ती बनाने की योजना बनाई जा रही है। क्या विज्ञान की इस उन्नति के साथ-साथ मनुष्य को भी कुछ लाभ पहुँचने की आशा है? या उसका अस्तित्व संसार से मिटाने के लिए यह काम हो रहा है। बड़ा कठिन समय उपस्थित हो गया है। अब समय आ गया है मिल-जुलकर काम करने का, विज्ञान की इस दौड़ को, विश्व कल्याण और विश्व उन्नति की दिशा में मोड़ देने का ताकि इससे शान्ति का वातावरण स्थापित होकर मानव समाज का कल्याण हो सके। यही सबों का कर्त्तव्यकर्म बनना चाहिए।

### धातुओं की वृद्धि और ह्रास का कारण

"धातवः पुनः शरीराः समानगुणैः समानगुण भूयिष्ठैर्वाऽपि आहार विकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धि प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुण भूयिष्ठैर्वाऽप्याहारैरभ्यस्य मानैः"। —च० श० ६।९

अर्थात् शरीर के धातु, समान गुण वाले आहार से या समान गुण भूयिष्ठ आहार से वृद्धि पाते हैं। और विपरीत गुण वाले आहार या विपरीत गुण भूयिष्ठ आहार के सेवन से, ह्रास को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् क्षीण हो जाते हैं।

इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार से है।

समान गुण वाले खाद्यपदार्थ दो प्रकार के होते हैं—सजातीय एवं विजातीय।

(१) सजातीय समान गुण वाले खाद्यपदार्थ : यह वह खाद्यपदार्थ हैं जो एक ही जाति के साथ सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरण के लिए जैसे मांस धातु की वृद्धि के लिए मांस खाना चाहिए। यह एक ही जाति का खाद्यपदार्थ है। समान गुण-वान होने से मांसवर्द्धक है। कहा भी गया है—'मासांत् मासं वर्द्धते' अर्थात् मांस से मांस बढ़ता है।

(२) विजातीय समान गुण वाले खाद्यपदार्थ या समान गुण भूयिष्ठ आहार : जहाँ पर मांस की वृद्धि के लिए मांस न मिले या मिलने में कोई रुकावट हो वहाँ पर, उसी के गुणों के समान दूसरी जातियों के भोज्य पदार्थों को मिलाकर, प्रयोग में लाकर काम में लाया जा सकता है। इसको विजातीय समान गुण आहार कहते हैं। ऐसी दशा में मांस के स्थान पर, मांस के समान गुण वाले भोज्य पदार्थ सेवन किये जा सकते है। जैसे दालें, पनीर, अण्डा, दूध आदि-आदि जो गुणों में परस्पर एक समान हों। दोनों के गुण मधुर, स्निग्ध और गुरुआदि हैं। विजातीय समान गुण वाले खाद्यपदार्थों के दो-चार द्रव्यों को मिलाकर सेवन किया जा सकता है। इससे सजातीय समान गुण वाला आहार बन सकता है। इसी को समान गुण भूयिष्ठ आहार कहते हैं।

विपरीत गुण वाले आहार या इसी प्रकार विपरीत गुण भूयिष्ठ आहार के प्रयोग से, शरीर के धातु क्षीण हो जाते हैं। स्वास्थ्य में विकृति आ जाती है। और दीर्घ जीवन का स्वप्न अधूरा रह जाता है।

## हमारे खाद्यपदार्थ

प्रकृति ने जीवधारियों को जीवित रखने के लिए नाना प्रकार के खाद्यपदार्थ उत्पन्न किये हैं जिनको खाकर वह जीवित रहते हैं। इनको प्राप्त करने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य के जन्म से पहले उसको जीवित रखने के लिए, प्रकृति ने इन खाद्यपदार्थों को पृथ्वी पर उत्पन्न कर रखा हैं। ठीक उसी प्रकार से, जैसे जातक के जन्म लेने से पहले उसको जीवित रखने के लिए, उसकी माता के स्तनों में दूध उतर आता है। यह खाद्यपदार्थ हमें जंगम औद्भिद और खनिज द्रव्यों से प्राप्त हो जाते हैं। इन द्रव्यों के आश्रित बीस गुण और छः रस रहते हैं। इनके प्रयोग से मनुष्य जीवित रहता है। इन ही में कुछ उपयोगी द्रव्यों को चुन लिया जाता है जिनसे समयोग भोजन तैयार किया जाता है। इससे स्वास्थ्य ठीक अवस्था में रखा जा सकता है।

खाद्यपदार्थों के बहुत वर्ग पाये जाते हैं। उनमें कुछ उपयोगी वर्ग नीचे लिखे जाते हैं—

(१) **शूकधान्य वर्ग**—यह अन्न वर्ग है। इसमें विविध प्रकार के अन्नद्रव्य

पाये जाते हैं। जैसे चावल, गेहूँ, जौ, बाजरा और मक्की आदि-आदि।

शाली को कूटने से छिलका पृथक् किया जाता है और चावल बनाया जाता है। चावलों को अधिक श्वेतरंग लाने के लिए पुनः कूटना नहीं चाहिए। इससे इसके प्राकृति गुणों में हीनता आ जाती है। चावल को पकाकर भात बनाया जाता है। पकाते हुए इसका पानी बाहर निकलना नहीं चाहिए। इससे भी यह गुणहीन हो जाता है।

गेहूँ को पीसकर आटा बनाया जाता है। आटे को रोटियाँ बनाकर प्रयोग में लाई जाती हैं। आटे से चोकर नहीं निकालना चाहिए। इससे आटे के गुणों में हीनता आ जाती है। चोकरहीन आटे की रोटी विबन्धकारक भी होती है।

अन्न मनुष्य के जीवन का आधार है। इसी से शरीर में शक्ति और गरमी आ जाती है। इसका प्रयोग दिन में दोबार, दिन के भोजन और शाम के भोजन में किया जाना चाहिए शाम का भोजन, दिन के भोजन से लघु होना चाहिए।

(२) **शमी धान्य वर्ग**—इस वर्ग में नाना प्रकार की दालें आती हैं जैसे मूंग, मसूर, मोठ, माट, मट्टर, अरहर, राजमा और चना आदि-आदि। यह वर्द्धन कारक और पौष्टिक खाद्य पदार्थ हैं। बालकों और युवकों के लिए अधिक लाभ-दायक खाने का पदार्थ है। अधिक आयुष्मान मनुष्यों को इसका प्रयोग कम करना चाहिए। वृद्धों को तो इसका सेवन छोड़ ही देना चाहिए या बहुत कम सेवन करना चाहिए।

दालों को छिलकों के सहित पकाना चाहिए ताकि इनमें विद्यमान प्रकृतिक गुण कम न हो जायें। पकाते हुए इनमें मिर्च, मसाला और नमक डालना चाहिए। घी या तेल डालकर इसको स्निग्ध किया जाना चाहिए। यह गाढ़ी तैयार करनी चाहिए। दाल पकाकर घल जानी चाहिए। फिर यह स्वादिष्ट भी बनती है और थोड़ी मात्रा में खाने से तृप्ता देती है। दाल का प्रयोग दिन के भोजन के साथ ही अच्छा रहता है। रात के भोजन के साथ इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए या थोड़ा ही करना चाहिए।

(३) **शाकवर्ग**—इस वर्ग में नाना प्रकार की तरकारियाँ सम्मिलित हैं—

(i) **पत्रल तरकारी**—इसमें पालक, कड़म, गोभी, मेथी, चौलाई, लूनी, मूली का साग, शलगम का साग, बथुआ, सरसों का साग, कासनी हन्द का साग, जंगली हन्द का साग और पुदीना आदि सम्मिलित हैं। पत्रल तरकारियों में प्रकृतिक गुण अधिक पाये जाते हैं। यह पुरीष भेदक अर्थात् विबन्ध हर होते हैं। अपनी आवश्यकता के अनुसार एक या अधिक तरकारियाँ मिलाकर साफ करके शुद्ध जल से धोकर धीमी आँच पर ढक्कन लगाकर, पकाते हुए स्विन्न करना चाहिए ताकि यह घल जायें। तरकारियाँ ताजा हों, सड़ी-गली न हों। पकाते हुए नमक, मिर्च, मसाला डालकर और घी या तेल से स्निग्ध करके तैयार करनी

चाहिएँ। मिर्च, मसाले और घी, तेल के संस्कार से यह सुखपूर्वक पच जाते हैं और विबन्ध भी नहीं होने पाता। कई भाजियाँ और तरकारियाँ अधिक वायुकारक और अधिक गुरु होती हैं। उनको पहले स्विन्न करके, निचोड़कर ताजे जल से पकाया जाता है। इस विधि से इनमें लघुत्व आ जाता है जिससे जठराग्नि पर पचाने का दबाव कम हो जाता है फिर इनको मिर्च, मसाला, नमक और घृत या तेल से संस्कृत करके बनाना चाहिए।

(ii) **फल भाजी**—इसमें लम्बा कद्दू, गोल कद्दू, बैंगन, टमाटर, लोभिया, सेम, हरा मटर, फूलगोभी, खीरा, ककड़ी, भिण्डी, टिण्डा, करेला, तुरेला, हरीमिर्च, घिया, तोरी, गांठ गोभी और अन्य कई प्रकार की भाजियाँ सम्मिलित हैं। अपनी अवश्यकता के अनुसार इनको पृथक्-पृथक् या दो तीन मिलाकर पकाने से, यह अधिक स्वादिष्ट बन जाती हैं। स्वादिष्ट पदार्थ रुचिकारक होता है। जो सुखपूर्वक पच भी जाता है। मिलीजुली भाजी कई प्रकार की बनाई जा सकती हैं जैसे—मटर बैंगन, मटर टमाटर, मटर बैंगन टमाटर, सेम बैंगन टमाटर, कद्दू, बैंगन टमाटर आदि-आदि, इनको भी नमक, मिर्च, मसाले और घृत तेल से संस्कृत करके तैयार किया जाता है।

(iii) **कन्द भाजी**—इनमें प्याज, मूली, शलगम, गाजर, आलू, नदरू, चुकन्दर, शक्करकन्द, जिमीकन्द आदि सम्मिलित हैं इनकी भाजियाँ भी उपरोक्त विधि से बनाई जाती हैं। जैसे—आलू नदरु, आलू नदरु मूली, शलगम नदरु, आलू टमाटर बैंगन आदि-आदि इनको भी उपरोक्त विधि से नमक, मिर्च, मसाला और घी-तेल डालकर तैयार किया जाता है!

स्मरण रहे जिस प्रकार की तरकारी पकानी हो वह ताजा और साफ होनी चाहिए, सड़ी गली न हो। स्वच्छ जल से धोकर स्वच्छ बरतन में ढक्कन लगाकर, धीमी आँच से पकानी चाहिए ताकि इनके प्राकृतिक गुण नष्ट न हों।

जिन तरकारियों के छिलके मोटे या सख्त नहीं हैं उनको छिलकों के सहित पकाना चाहिए। ऐसा करने से उनके प्राकृतिक गुणों में कमी नहीं आती है।

मिर्च, मसाला और नमक डालने से यह सुखपूर्वक पच जाती हैं क्योंकि इससे अग्नि दीप्त हो जाती है। मसाले के लिए सोंठ, हरी मिर्च, धनिया, सौंफ, जीरा, हल्दी, बड़ी इलायची और काली मिर्च डाली जाती हैं।

तरकारियों की रुक्षता और वायु दोष की अधिकता निवारण के लिए इनको घृत या तेल से संस्कृत करना चाहिए। इससे रुक्षता दूर हो जाती है और वायु का अनुलोम भी हो जाता है जिससे विबन्ध नहीं होने पाता।

बासी भाजियों का सेवन नहीं किया जाना चाहिए। इससे विकार उत्पन्न हो सकते हैं।

(४) **फल वर्ग**—इस वर्ग में विविध प्रकार के फल पाये जाते हैं—

(i) **रसदार फल**—जैसे नींबू, नारङ्गी, अंगूर, अनार, अनन्नास, टमाटर और गन्ना आदि।

(ii) **गूदेदार फल**—जैसे खरबूजा, पपीता, आम, केला, खजूर शहतूत, जामुन, चीकू आदि-आदि।

(iii) **सख्त फल**—सेब, नाशपाती, खोबानी, खीरा, ककड़ी, अमरूद, आड़ू, बिही, गिलास आदि-आदि।

(iv) **शुष्क फल**—इसमें किशमिश, मुनक्का, अखरोट, काजू, पिस्ता, जलगोजा, मूंगफली, नारियल आदि-आदि सम्मिलित हैं।

सब प्रकार के फल रक्तशोधक, स्वास्थ्यवर्द्धक, बल और वर्ण कारक होते हैं। फलों का प्रयोग भोजन के स्थान पर किया जाना चाहिए। और ऐसा करते हुए एक समय पर एक ही प्रकार का फल खाना चाहिए। यदि कई प्रकार के फल खाने अभिप्रेत हों तो चार-चार घंटे के अन्तर से खाने चाहिएँ।

मृदु छिलकेदार फलों को छिलकों के सहित खाना चाहिए। छिलकों में प्राकृतिक गुण विद्यमान रहते हैं।

कई प्रकार के फलों को फलाहार के स्थान पर भोजन के साथ प्रयोग किया जा सकता है। इनके अभ्यास से आशातीत लाभ मिलता है।

नींबू, अनार, संगतरा और तरबूजा का रस तथा किशमिश का निकाला हुआ रस, रोगावस्था में उपवास के दिनों में प्रयोग किया जा सकता है।

गिरिदार फलों को गूदेदार या सख्त फलों के साथ एक समय के भोजन के तौर पर प्रयोग किया जा सकता है या दो तीन गिरीदार फल भोजन के ऊपर खाये जा सकते हैं।

केले को भूख दूर करने के लिए तथा दुर्बलता निवारण के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए।

(५) **स्नेह वर्ग**—इस वर्ग में घी, तेल, वसा, चर्बी, मज्जा और मक्खन आदि आते हैं। इनमें घी सबसे उत्तम है। स्नेह, शक्तिदायक तथा उष्णता उत्पादक और पौष्टिक खाद्य पदार्थ है। रुक्षता को हटाकर वायु को शान्त करता है कहा भी गया है—

**"स्नेहोऽनिलं हान्ति मृदु करोति देहं मलानां विनिहन्ति सङ्गम्।"**

—च० सि० १।७

अर्थात् स्नेह वायु को नष्ट करता है, शरीर को मृदु और लचकदार बनाता है, मलों के विबन्धों को खोलता है। तेल और घृत का प्रयोग कई प्रकार के पकवान बनाने में, चपातियों को चोपड़ने में और दाल-भाजियों को स्निग्ध करने में किया जाता है। इसके अतिरिक्त तेल का प्रयोग शरीर के अभ्यङ्ग और नस्य के लिए किया जाता है। इससे शरीर का बल और वर्ण बढ़ जाता है। यह और लचकदार

बन जाता है।

पित्त प्रधान प्रकृति वालों के लिए घृत और बात और कफ प्रधान वालों के लिए तेल का प्रयोग लाभदायक रहता है। जहाँ पर शुद्ध घी मिलना असम्भव हो वहाँ पर शुद्ध तेल का प्रयोग ही अच्छ रहता है।

स्नेह का प्रयोग मात्रा पूर्वक ही करना चाहिए। २५-३० ग्राम स्नेह का प्रयोग चर्बी बढ़ाता है और मोटापा उत्पन्न करता है। जो अच्छे स्वास्थ्य का चिह्न नहीं है।

दालों और भाजियों को पकाते हुए सदा घृत या तेल से संस्कृत करना चाहिए। ईससे वह रोचक बनकर पच जाते हैं और वायु का अनुलोमन करके विबन्ध खोलते हैं।

(६) **मांस वर्ग**—इस वर्ग में भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्रामीण, जाङ्गल और जलचर आदि पशु-पक्षियों का मांस सम्मिलित है। जैसे—भेड़, बकरी, मुर्गा, मृग और मत्स्यादि।

**मांस के गुण**— मांस अत्यन्त पौष्टिक खाद्य पदार्थ है। मांस रस शरीर की दुर्बलता को शीघ्रतापूर्वक दूर करता है। चरक संहिता में आदेश हुआ है—

**"प्रीणनः सर्वभूतानां हृद्यो मांस रसः परं। शुष्यतां व्याधिमुक्तानां।**
**कृशानां क्षीनरेतसां बलर्वणार्थिनां चैव रसं विद्याद्यथाऽमृतम् ।।"**

—च० सू० २७।३१२-१३

अर्थात् मांस-रस परम तृप्तिकारक और हृद्य है। सूखे क्षयरोगियों, रोगमुक्त हुए दुर्बल मनुष्यों, क्षीण शुक्र वाले व्यक्तियों के लिए तथा बल और वर्ण चाहने वालों के लिए मांस रस अमृत के समान है। स्मरण रहे कि यह उत्कृष्ट गुण, उसी मांस रस के हैं जो स्वस्थ पशु पक्षियों का होता है। दुर्बल और विकारयुक्त मांस भक्षण से शरीर विकार ग्रस्त हो जाता है। कहा भी गया है—

**मृतं कृशं चातिमेद्य वृद्धं बालं विषैर्हतम्। अगोचरभृतं व्यालसूदितं**
**मांसमुत्सृजेत्। अतोऽन्यतः हितम्**·········।। —च० सू० २७।३११

अर्थात् जो मांस दुर्बल हो, सूखा हुआ विकारयुक्त हो, अधिक चर्बी वाला हो, वृद्ध हो या बच्चा हो, स्वयं मरा हुआ हो, दूसरे देश में पले हुए दुर्बल पशु का मांस, विष खिलाकर मारे हुए या शिकारी पशु या सर्प से मारे गये पशु-पक्षी का मांस हो तो ऐसा विकारयुक्त मांस खाने के योग्य नहीं होता है।

दोष रहित स्वस्थ मांस का मिलना बड़ा कठिन होता है। यद्यपि कहीं-कहीं स्वस्थ पशु मिलते भी हैं, पर उनका रक्त भय के कारण मारे जाने के समय पर विषाक्त हो जाता है। उनका सेवन भी विकार ही उत्पन्न कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में माँस रस का सेवन बड़ी सावधानी से करना चाहिए और जहाँ पर माँस रस का सेवन करने की आवश्यकता ही हो तो ऐसी दशा में मांस की पहली

उबाल का रस फेंकना चाहिए। नया ताजा जल डालकर माँस रस तैयार करके प्रयोग करना चाहिए! अथवा मांस के स्थान पर समानगुण भूयिष्ट अर्थात् विजातीय समान गुण वाले खाद्य पदार्थों का सेवन किया जा सकता है। तो मांस के स्थान पर मटर, दाल, दूध, दही, मक्खन, अण्डा आदि प्रयोग में लाकर लाभ उठाया जा सकता है। यदि यह मिलावट के बिना शुद्ध प्राप्त हो सकें तो यह अधिक लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

(७) **दुग्ध वर्ग**—इस वर्ग में विविध पशुओं के दूध सम्मिलित हैं। जैसे—गाय, भैंस, बकरी, ऊँटनी, सूरनी आदि के। इनमें गाय का दूध प्रशस्त है। दूध पौष्टिक खाद्य पदार्थ है। इसको भोजन के स्थान पर लाभ के साथ प्रयोग किया जा सकता है। कहा भी गया है—

**"प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम्।"** —च० सू० २७।२१८

अर्थात् शरीर को जीवित रखने वाले खाद्य पदार्थों में यह सबसे उत्तम है तथा आयु को बढ़ाने वाला यह रसायन भी है! दूध को एक उबाल लाकर सुरक्षित रखकर प्रयोग करना चाहिए अधिक उबालने से इसके प्राकृतिक गुण क्षीण हो जाते हैं। दूध को फलों के साथ पीना चाहिए। पाव भर दूध को पाव भर फल के साथ सेवन करने से भोजन से कहीं अधिक लाभ मिल सकता है। फलों में केला, सेव या आम इसके साथ उपयुक्त रहता है। इन फलों को मट्ठे के साथ या दही के साथ मिलाकर सेवन करने से भी यही लाभ मिलता है। यदि प्रातः के खाने में और अपराह्न के खाने में भी चाय और रोटी के स्थान पर इसी प्रकार के फलाहार को प्रयोग किया जाये तो मनुष्य स्वस्थ-दीर्घ जीवन-लक्ष्य को प्राप्त करने का अधिकारी बन सकता है इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके साथ दोनों समय के भोजन में, शाकाहार या फलाहार का प्रयोग साथ-साथ होते रहना चाहिए! इसका वर्णन आगे आयेगा।

**दहि अर्थात् दही**—दूध को जमाकर दही बनायी जाती है। यह भी दूध के सदृश्य पौष्टिक और बलदायक है। कहा भी गया है—

**रोचन दीपनं दृष्यं स्नेहनं बलवर्धनम्।**
**पाकेऽम्लमुष्णं वातघ्नं मङ्गल्यं बृहणं दधि॥** —च० सू० २७।२१५

अर्थात् दही रुचिकारक, दीपक, शक्तिदायक, स्नेहन कारक, बलवर्द्धक, वात-नाशक, प्रसन्नताकारक और पौष्टिक है। इसका थोड़ा-थोड़ा प्रयोग भोजन के साथ लाभ के साथ किया जा सकता है। इसको फलों के साथ भी प्रयोग करके लाभ उठाया जा सकता है।

**मक्खन**—यह दही को मथकर निकाला जाता है। यह भी पौष्टिक पदार्थ है। पित्त प्रकृति वालों के लिए विशेष करके लाभदायक है।

**घृत**—मक्खन को गरम करके घी बनाया जाता है। यह स्नेह वर्ग में सबसे

उत्तम स्नेह है।

**मट्ठा**—दही को जल के साथ मथनी से मथकर मक्खन निकालकर, मट्ठा बनाया जाता है। यह दूध और दही से लघु होता है। यह भी पौष्टिक है। इसको भी प्रातः और अपराह्न के हल्के भोजन के साथ दूध या दही की तरह फलों के साथ प्रयोग किया जा सकता है। स्मरण रहे कोई भी तरल पदार्थ प्रयोग किया जाये, जैसे दूध, दही, मट्ठा, फलरस और जलपान भी, इनके पचने में थोड़ा-बहुत समय अवश्य लगता है। कम से कम दो-ढाई घण्टे का समय इनके पचने में लग जाता है। इसलिए बीच में कोई और पदार्थ नहीं खाना चाहिए।

**जल पान**—प्यास लगने पर ही जल पान करना चाहिए और तृप्त होकर अपनी इच्छा के अनुकूल जल पीना चाहिए। दिन में कई बार जल पान किया जा सकता है। इससे रक्त में पतलापन बना रहता है और मलमूत्र भी खुल जाता है। उष्णकाल में स्वेद के अधिक आने से जल पान भी अधिक किया जा सकता है। नींबूरस मिश्रित जल पान अधिक गुणकारी है। यह पित्त को शान्त रखकर शरीर स्वस्थ रखता है।

स्मरण रहे कि भोजन के साथ कोई भी तरल पदार्थ अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। जैसे भाजियों की तरी, दालें, दूध, दही, मट्ठा या जल आदि। ऐसा करने से पेट तन जाता है। जठराग्नि पर पाचन क्रिया का दबाव अधिक पड़ जाता है। अग्नि मन्द हो सकती है। जिससे अपच, अतिसार, वमन आदि विकार उत्पन्न हो सकते हैं। व्यायाम, श्रम कार्य और व्यवाय के पश्चात् जल के स्थान पर दूध, मांस रस या किसी पौष्टिक तरल आहार का सेवन लाभदायक रहता है। ऐसा करने से वायु शान्त रहती है क्योंकि थकावट के कारण इसके कुपित होने का भय बना रहता है। भोजन के दो-एक घण्टे के पश्चात् जल पान यथेष्ट रूप से किया जा सकता है।

पीने का जल ताजा, शुद्ध, स्वच्छ और शीतल होना चाहिए। इसमें कोई गन्ध और मिलावट नहीं होनी चाहिए। ऐसे ही शुद्ध जल का प्रयोग रोटी, चावल, दाल और भाजियाँ पकाने में तथा पीने और नहाने (स्नान करने) में और सभी कामों में प्रयोग करना चाहिए। हाँ बरसात में जब नदी-नालों में गन्दा पानी बहता है तो जल को निथारकर प्रयोग में लाना चाहिए। जब हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में विशेषकर ठण्डे देशों में जब यह पानी बर्फ के समान ठण्डा हो जाता है उन दिनों में पानी को उबालकर ही प्रयोग किया जाना चाहिए। ऐसा करने से स्वास्थ्य ठीक बना रहता है।

उपरोक्त खाद्य पदार्थों के वर्गों के अतिरिक्त इनके और भी कई वर्ग हैं। परन्तु यहाँ पर उन ही वर्गों को लिखा गया है जो हमारी जीवन-यात्रा में नित्य-प्रति काम आने वाले हैं और इसको सुखपूर्वक चलाने में सहायक हैं। यहाँ पर

सभी खाद्य द्रव्यों का उल्लेख असंगत भी है और अनावश्यक भी।

शाकाहार—हरी तरकारियों और फलों को भोजन के स्थान पर प्रयोग करने का रिवाज, प्राचीनकाल से चला आ रहा है। हमारे पूर्वज इनके जीवन-प्रद गुणों को जानते थे। वे अधिकतर शाकाहार या फलाहार का ही सेवन किया करते थे। उनका स्वास्थ्य हमारे स्वास्थ्य से कहीं अधिक अच्छा था। वह बड़े आयुष्मान होते थे और शक्तिमान भी। इसका कारण यह था कि वह प्राकृतिक गुणों और रसों से भरपूर शाक वर्ग और फल वर्ग के आहार द्रव्यों का प्रयोग, भोजन के साथ या उसके स्थान पर किया करते थे। इसके साथ-साथ दूध, दही, मक्खन, घृत और मट्ठे का सेवन भी अपनी इच्छानुकूल किया करते थे। उन दिनों हरे-भरे वनों और विशाल घास क्षेत्रों की कोई कमी नहीं थी। पशुपालन उनकी परम्परागत जीवन वृत्ति थी। इसलिए उनके घरों में मानों दूध की नदियाँ वहती रहती थीं। इसके अतिरिक्त वह महाबुद्धिमान हुआ करते थे। उन्होंने ही विविध प्रकार के धार्मिक, दार्शनिक और आयुर्वेदिक शास्त्र लिखकर अपना नाम बनाकर अमर रखा। उन शास्त्रों की लोकमान्यता आज भी सुप्रसिद्ध है। उन्होंने ही द्रव्यों के आश्रित बीस गुणों और षट्रसों को आविष्कृत किया है। मनुष्य का आहार यही षड्साश्रयी द्रव्य हैं। इन्हीं आहार-द्रव्यों के सेवन से इसको बल, वर्ण और ओज प्राप्त हो जाता है। शाक वर्ग और फल वर्ग के आहार द्रव्य इन प्राकृतिक रसों और गुणों से, विशेष रूप में मालामाल और भरपूर रहते हैं। इसकी खोज उन्होंने ही की थी और यही कारण है कि वह इनका प्रयोग पकाने के बिना, प्राकृतिक रूप में ही किया करते थे। समय वीतने के साथ-साथ वह इनको शाकाहार या फलाहार के रूप में भोजन के साथ प्रयोग करने लगे। भोजन के साथ शाकाहार का एक भाग हुआ करता था। इसके प्रयोग से वह न केवल स्वस्थ ही रहा करते थे अपितु इससे उनके स्वास्थ्य का संरक्षण और संवर्द्धन भी होता था जिससे उनको दीर्घायु भी प्राप्त हो जाती थी। हमें भी उनका अनुकरण करके स्वस्थ-दीर्घ जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए इसको प्रयोग में लाना चाहिए।

## सब्ज शाकाहार या फलाहार बनाने की विधि

शाकवर्ग की कई तरकारियों में बहुत-से गुण पाये जाते हैं जैसे टमाटर, गाजर, प्याज, खीरा, ककड़ी, मूली, मूली की पत्ती, प्याज की पत्ती, पालक की पत्ती, फूल-गोभी, पुदीने की पत्ती, चुकन्दर आदि। इनमें से एक-दो पत्र शाक, एक-दो कन्द शाक और एक-दो फल शाक लेकर, शुद्ध जल से धोकर साफ कर लेते हैं, फिर कतरकर छोटे-छोटे टुकड़े बना लेते हैं। यदि यह ३०० ग्राम भर हों तो इसमें तीन-चार हरी मिर्च के छोटे-छोटे टुकड़े मिला लेते हैं। दो-तीन नींबुओं का रस निचोड़कर इसमें मिला लेते हैं। ऊपर से थोड़ा नमक छिड़कते हैं। बस शाकाहार बनकर तैयार हो गया। गुण—यह शाकाहार रक्तशोधक, विबन्धहर, स्वास्थ्यवर्द्धक और

बलदायक है। कच्चे शाक में प्राकृतिक गुण और रस भरपूर मान में विद्यमान रहते हैं। पकाने से इनमें हीनता आ जाती है। इसलिए कच्चा शाकाहार अधिक गुणकारी और स्वास्थ्यवर्द्धक है। भोजन के साथ इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। विशेषकर दिन के भोजन के साथ। इसकी मात्रा युवक के लिए पाव भर पर्याप्त हो सकती है। शाम के भोजन के साथ थोड़ा बहुत खाया जा सकता है। इसी प्रकार सब्ज पके फलों को कतरकर फलाहार बनाकर भोजन के साथ अथवा उसके स्थान पर खाया जा सकता है।

शाकाहार के स्थान पर फलाहार का प्रयोग भी हो सकता है। सेव, आम, अमरूद, केला, खरबूजा, नाशपाती आदि फलों का भोजन के साथ या अन्त में सेवन किया जा सकता है। इनको पृथक्-पृथक् या मिलाकर छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर दही के साथ मिलाकर या उसके विना ही सेवन किया जा सकता है।

**समयोग भोजन के प्रकार**

समयोग भोजन दो प्रकार का होता है—(१) समयोग शाकाहारी भोजन, (२) समयोग मांसाहारी भोजन।

**(१) समयोग शाकाहारी भोजन = सात्विक भोजन**—एक युवक के लिए एक समय का भोजन—एक अन्नवर्ग में से २५० ग्राम भर चावल या आटे का पकाया हुआ भात या रोटी; शमीधान्य वर्ग में से ६० ग्राम भर दाल कोई सी पकाई हुई; शाकवर्ग में से पत्रल शाक, कन्द शाक और फल शाक की मिली-जुली दो तीन भाजियाँ; ३०० ग्राम भर दही और शाकाहार २०० ग्राम भर। स्मरण रहे कि दाल और भाजियाँ थोड़े से नमक, मिर्च-मसाले और घी या तेल से संस्कृत हों। घी या तेल की मात्रा ३० ग्राम तक हो। यह भोजन पौष्टिक, बलवर्द्धक, बुद्धि को तेज करने वाली और वर्ण कारक है। इसको सात्विक भोजन भी कहते हैं। यह योगाभ्यासियों के लिए उत्तम रसायन है।

**(२) समयोग मांसाहारी भोजन—राजसिक भोजन**—यह भी समयोग शाकाहारी भोजन के समान बनता है। भेद केवल इतना है कि इसमें दाल के स्थान पर मांस, मछली और अण्डे का भी प्रयोग किया जाता है। यह पौष्टिक और बलवर्द्धक भोजन है। कहा भी गया है—

**"मांसं बृंहणं बलवर्द्धनम्।"** —च० सू० २७।३१२

अर्थात् मांस पौष्टिक और बलवर्द्धक है।

इसको राजसिक भोजन भी कहते हैं।

इसके अतिरिक्त एक और प्रकार का भोजन होता है जो उपरोक्त दोनों प्रकार के भोजनों के विरुद्ध होता है। ऐसा भोजन सड़े, गले, कच्चे, जले, गन्दे और बासी भोज्य पदार्थों से बनता है। यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। इसको सेवन नहीं करना चाहिए। इसको **तामसिक भोजन** कहते हैं।

हिताहार—भोजन का विषय बड़ा जटिल है। नित्य अपनी प्रकृति के अनुकूल भोजन के लिए खाद्य पदार्थों को चुन लेना बुद्धि का एक विषय है। क्योंकि जीवन की स्थिति इसी अन्न पर है। कहा भी गया है—

न रागान्नाप्य विज्ञानादाहारानुप योजयेत।
परीक्ष्य हितमश्नीयाद्देहो ह्याहारसम्भवः॥ —च० सू० ११।४१

अर्थात् लालच में आकर या बिना सोचे समझे अज्ञान से आहार का सेवन न करें। किन्तु अच्छे प्रकार से सभी बातों की परीक्षा करके, उसी प्रकार के खाद्यपदार्थों की राशि से बने हुए आहार का सेवन किया जाना चाहिए जो शरीर के लिए हितकारी हो, जिससे पृथ्वी आदि पाँच महाभूतों, रसादि सात धातुओं, वातादि तीन दोषों, सभी मलों, ज्ञानेन्द्रियों और उनके विषयों का पोषण समावस्था से होता रहे। क्योंकि शरीर हिताहार से ही जीवित रहता है, यह शरीर का आधार है।

भोजन खाने का अभिप्राय यह होता है कि भूख की निवृत्ति हो जाये और उच्चकोटि के स्वास्थ्य का संवर्द्धन होता रहे ताकि स्वस्थ-दीर्घ-जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सहायक सिद्ध हो सके। यह लक्ष्य हिताहार के सेवन से प्राप्त हो सकता है। हिताहार के कुछ नियम हैं। इसका अपना विधि-विधान है। उसके अनुकूल नियमित मन से इसको सेवन करना पड़ता है। तभी तो सफल मानव जीवन का लक्ष्य पूरा हो सकता है। वह नियम क्या हैं? उनको जानने के लिए आगे प्रकाश डाला जायेगा।

## हिताहार का विधि-विधान

"तत्रखल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति।
तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोप्योक्तृष्टमानि॥
—च० वि० २।२४

अर्थात् हिताहित आहार के आठ आयतन (हेतु) होते हैं। प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग संस्था और उपयोक्ता! इन आयतनों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। क्योंकि हमारे खाने-पीने का अभ्यास ऐसा बिगड़ गया है कि हम बिना सोचे समझे कोई भी आहार कर बैठते हैं, चाहे वह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक ही क्यों न हो। यही एक बड़ा करण है कि आये दिन रोगों की संख्या में वृद्धि होती चली जा रही है। स्वास्थ्य का स्तर दिन प्रतिदिन घटता ही चला जा रहा है। हम अपनी नासमझी से रोगों का आवाहन स्वयं करते हैं। यदि हम अब भी सँभल जायें और अपने खान-पान में सुधार करें, हिताहार को अपनाये तो हमारा स्वास्थ्य सुधर सकता है इसमें कोई सन्देह नहीं।

(१) **प्रकृति**—प्रकृति ने द्रव्यों के आश्रित गुण और रस रखे हैं। इन ही के सदुपयोग से हम स्वस्थ रह सकते हैं और दीर्घजीवन पा सकते हैं। इनके सदुपयोग से हम रोगमुक्ति भी पा सकते हैं। बात केवल इतनी है कि हम इनको

प्राकृतिक नियमों के अनुसार उपयोग में लायें।

रोगावस्था में दोषों के गुणों के विपरीत गुण वाली औषधियों से उपचार करके दोषों का शमन हो जाता है फिर स्वास्थ्यलाभ हो जाता है। यही विधि वातल, पित्तल और श्लेष्मल प्रकृति वालों के लिए भी होती है। उनको भी अपनी-अपनी प्रकृति के विपरीत गुण वाले आहार द्रव्यों के प्रयोग से स्वास्थ्यलाभ मिलने का आदेश हुआ है। समान गुण वाले आहार द्रव्यों से बना हुआ भोजन उनके लिए हानिकारक होता है। क्योंकि इनसे दोषों की वृद्धि होगी, शमन नहीं होगा। सम-दोष प्रकृति वाले स्वस्थ मनुष्यों के लिए मिला-जुला षट्रस सम्पन्न समयोग भोजन लाभदायक रहता है। क्योंकि इससे सभी दोषों का पोषण समावस्था से होता रहता है, जिससे स्वास्थ्य बना रहता है। इसके अतिरिक्त द्रव्यों के प्राकृतिक गुणों में यह भी देखना होता है कि क्या यह लघु है या गुरु। लघु द्रव्य शीघ्र पच जाता है और स्वास्थ्य के लिए लाभकारी रहता है, जबकि गुरु द्रव्य के देर से पच जाने में भी आशङ्का बनी रहती है। और कभी-कभी यह स्वास्थ्य के लिए हानि कारक बन जाता है। यह तो हुआ हिताहित आहार के विधि विधान का प्रकृति आयतन।

(२) **करण**—द्रव्यों के प्राकृत गुणों को बदलकर दूसरे गुणों से भरने की क्रिया को संस्कार कहते हैं। संस्कार के द्वारा गुणान्तरधान की प्रक्रिया को करण कहते हैं। करण के द्वारा शीत को उष्ण और उष्ण को शीत, रुक्ष को स्निग्ध और स्निग्ध को रुक्ष, लघु को गुरु और गुरु को लघु बनाया जा सकता है। इस प्रकार प्रकृति के प्रतिकूल गुणों को गुणान्तर धान से अनुकूल गुणों में बदलकर सेवन योग्य बनाया जाता है। जैसे आलू भारी (गुरु) है। इसको लघु बनाने के लिए गरम जल में उबालकर स्विन्न कर लिया जाता है। फिर छिलका उतारकर नये जल में तेल, मिर्च और मसाला डालकर पकाया जाता है। इस प्रक्रिया से इसमें लघुत्व आ जाता है। मूली शीत है। इसको कूटकर स्वरस निचोड़ लिया जाता है फिर मिर्च-मसाला आदि डालकर पकाया जाता है। इस संस्कार से इसका शीतत्व घटकर उष्णत्व बढ़ जाता है। इसी प्रकार रुक्ष गुण को घी तेल से मिश्रित करके स्निग्ध गुण से भर दिया जाता है। इस प्रकार करण के द्वारा द्रव्यों में गुणांतरधान करके उनको अपनी प्रकृति के अनुकूल लाभकारक बनाया जाता है, जिससे स्वास्थ्य ठीक बना रहता है।

(३) **संयोग**—दो या अधिक द्रव्यों को एक साथ मिलाकर प्रयोग करने को संयोग कहते हैं। संयोग ऐसा होना चाहिए जिससे शरीर में कोई विकार उत्पन्न न हो जाये प्रत्युत शरीर का पोषण यथोचित रूप से होता रहे। कई प्रकार के संयोग स्वास्थ्य को हानि भी पहुँचा सकते हैं। जैसे दूध और मछली एक साथ मिलाकर प्रयोग करने से कुष्ठ रोग उत्पन्न हो जाता है। कई विरुद्ध भोजन जो

रस का मिथ्या योग कहलाते हैं, स्वास्थ्य के लिए लाभदायक नहीं होते हैं। इनका वर्णन आगे भी आएगा। इसी प्रकार दूध को किसी भी प्रकार के मांस के साथ या किसी भी दाल के साथ और किसी भी प्रकार के अम्लद्रव्य के साथ प्रयोग नहीं करना चाहिए। इनसे लाभ के स्थान पर हानि ही पहुँचती है। इनके संयोग से शरीर में कुछ ऐसे रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे विषैले पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं जो स्वास्थ्य को बिगाड़ डालते हैं। ऐसे संयोगों को अपने आहार में स्थान नहीं देना चाहिए। यह विरुद्ध संयोग स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।

(४) **राशि**—भोजन बनाने में प्रयोग होनेवाले बहुत प्रकार के आहार-अवयव होते हैं। जैसे आटा, चावल, दाल, दूध, दही, घी, तेल, भाजी, तरकारी, मांस, मत्स्य, अण्डा, मसाला आदि-आदि। इन अवयवों की अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न मात्रा होती है। जैसे चावल २०० ग्राम, आटा २०० ग्राम, दाल ५० ग्राम, घी २० ग्राम, भाजी २०० ग्राम, तरकारी २०० ग्राम, मांस २०० ग्राम इत्यादि-इत्यादि। अवयवों की अपनी-अपनी मात्रा को परिग्रह कहते हैं। इनमें से कई अवयवों को मिलाकर जो भोजन पिण्ड बनता है उसको सर्वग्रह कहते हैं। सर्वग्रह से, मिले-जुले बने आहार अवयवों के बने हुए पिण्ड का मान ग्रहण होता है। इन दोनों प्रकार के सर्वग्रह और परिग्रह आहार की मात्रा और अमात्रा का निश्चय करना राशि कहलाता है। मात्रा पूर्वक सेवन करने से लाभ होता है और अमात्रा अर्थात् अति मात्रा या हीनमात्रा से भोजन या खाद्यद्रव्यों का सेवन, स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।

(५) **देश**—भोजन के प्रयोग के सम्बन्ध में देश का विचार भी रखना पड़ता है। देश के विषय में, जैसा कि पहले लिखा गया है यह जाङ्गल, अनूप और समभेद से तीन प्रकार का होता है। यह क्रम से वात-पित्त, कफ और समदोष प्रधान देश हैं। इनकी जलवायु क्रम से उष्णरुक्ष, शीत स्निग्ध और समगुण प्रधान है। मनुष्य जिस देश में निवास करता हो, उस देश की जलवायु को ध्यान में रखते हुए, उसके विपरीत गुण वाले आहार और औषधि अवयवों को प्रयोग करने से उसे स्वास्थ्य लाभ रहता है। इसको देशसात्म्य आहार कहते हैं। जैसे जाङ्गल देश में शीतस्निग्ध गुण प्रधान, अनूप देश में उष्णरुक्ष गुण प्रधान और समदेश में समगुण प्रधान आहार और औषधियों का प्रयोग लाभदायक रहता है। इसको छोड़कर और कोई प्रयोग हानिकारक होता है। यह देश का आयतन कहलाता है।

(६) **काल**—आहार प्रयोग के सम्बन्ध में काल का भी ध्यान रखना पड़ता है। काल से दो प्रकार का काल ग्रहण होता है। एक काल से दिन, रात, ऋतु और वर्ष आदि ग्रहण होते हैं। दूसरे काल से मनुष्य की अवस्था विशेष—बाल्य, यौवन और वृद्ध का ग्रहण होता है। दोनों प्रकार के कालों में दोषों के अपने-

अपने संचय और प्रकोप काल होते हैं जैसे दिन और रात्रि के आदि, मध्य और अन्तिम भोगों में कफ, पित्त और बात का काल होता है। और वसन्त, शरद और वर्षा ऋतुओं में क्रम से कफ, पित्त और वात का प्रकोपकाल होता है। इन कालों में तत्तत् दोषजनित व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए इन कालों में तत्तत् दोष के गुणों के विपरीत गुण वाले आहार और औषधियों का प्रयोग करना लाभकारी रहता है। अन्यथा करना हानिकारक रहता है। इसको ऋतुसात्म्य आहार कहते हैं।

मनुष्य के बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था में क्रम से कफ, पित्त और वायु के काल होते हैं। इन अवस्थाओं में तत्तत् दोष के गुणों के विपरीत गुण वाले आहार का प्रयोग हितकर रहता है। मनुष्य रोगों के आक्रमण से मुक्त रहकर स्वस्थ बना रहता है। इसलिए भोजन के सम्बन्ध में काल का ध्यान रखना आवश्यक होता है। यह काल का आयतन कहलाता है।

(७) **उपयोग संस्था**—भोजन उपयोग करने के कुछ नियम होते हैं। उनका पालन करने से स्वास्थ्य बना रहता है। जैसे भूख लगने पर भोजन करना चाहिए यह एक नियम है। इसका पालन करने से भोजन सुखपूर्वक पच जाता है और पाचक रस बनकर शरीर का पोषण होता है जिससे मनुष्य का स्वास्थ्य बना रहता है। यदि कोई मनुष्य इस नियम पर न चले तो भोजन का पाचन न होकर अजीर्ण हो जायेगा और स्वास्थ्य बिगड़ जायेगा। इसी प्रकार और भी कई नियम हैं और उनका पालन करना स्वास्थ्य के लिए हितकारी रहता है। नियमों को भंग करने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। इन नियमों का वर्णन आगे आयेगा। यह उपयोगसंस्था का आयतन है।

(८) **उपयोक्ता**—आहार सेवन करनेवाला उपयोक्ता कहलाता है। उसको किसी विशेष आहार द्रव्य के सेवन का अभ्यास होता है। यह आहार द्रव्य उसका ओकसात्म्य बना होता है। चाहे यह सेवन करने के योग्य हो या न हो। इसके सेवन के बिना उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता। ओकसात्म्य आहार में द्रव्यों की श्रेणी में से कोई द्रव्य आ सकता है। मादक द्रव्य भी इस श्रेणी में आ सकते हैं। यह उपयोक्ता प्रकार का आयतन कहलाता है।

**उपयोग संस्था की व्याख्या**

अब भोजन सेवन करने के नियमों अर्थात् उपयोग संस्था का वर्णन करेंगे।

**"उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितमजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीतात्मानमाभिसमीक्ष्य सम्यक।"**

—च० वि० १।३५

अर्थात् भोजन ताजा पकाया हुआ उष्ण खाना चाहिए। घृत, तेल से स्निग्ध किया हुआ होना चाहिए। मात्रा पूर्वक खाना चाहिए। जीर्ण होने पर ही समय पर

खाना चाहिए। वीर्य के अविरुद्ध खाना चाहिए। शुभ पवित्र स्थान पर खाना चाहिए। शुभ पवित्र पात्रों में बना हुआ खाना चाहिए। अधिक शीघ्रता से या अधिक शनैः शनैः या बातें करते हुए या हँसते हुए नहीं खाना चाहिए। ध्यान से मन लगाकर खाना चाहिए। अपनी प्रकृति और ओकसात्म्य को देखकर खाना चाहिए। यह हैं नियम भोजन सेवन के। यहाँ पर इनका विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे।

(१) **उष्णं भुञ्जीयात्**— भोजन ताजा पकाया हुआ खाना चाहिए जो गरम हो। ठण्डा नहीं होना चाहिए। उष्ण भोजन से अग्नि प्रदीप्त हो जाती है जिससे भोजन शीघ्र पच जाता है। उष्णता से वायु का अनुलोमन हो जाता है और कफ भी कम हो जाता है।

(२) **स्निग्धमश्नीयात्**—भोजन के साथ स्नेह पदार्थ खाने चाहिएँ। इसमें आयुर्वेदिक दृष्टि से स्निग्ध गुण प्रधान द्रव्यों में सब प्रकार की चिकनाई वाले पदार्थ आते हैं। जैसे घी, तेल, चर्बी, मांस, दूध, मक्खन आदि। यह अग्नि को दीप्त करते हैं, वायु का अनुलोमन करते हैं, वर्ण और बल को बढ़ाते हैं, शरीर को मोटा करके दृढ़ता लाते हैं। कहा भी गया है—

**स्नेहोऽनिलं हन्ति मृदु करोति। देहं मलानां विनिहन्ति सङ्गम ॥**

अर्थात् चिकनाई वायु को शान्त करती है, शरीर को मृदु (नर्म) करती है और मलों का विबन्ध हटाती है।

(३) **मात्रापूर्वकमश्नीयात्**—भोजन समय पर मात्रापूर्वक खाना चाहिए। कई भोज्य पदार्थ लघु होते हैं और कई गुरु। लघु द्रव्य वायु और अग्नि प्रधान होते हैं जो जठराग्नि को प्रदीप्त करते हैं। यदि यह मात्रा में कुछ अधिक भी खाये जाएँ तो अधिक गड़बड़ न करके पच ही जाते हैं। परन्तु गुरु द्रव्य पृथ्वी और जल गुण प्रधान होते हैं। उनके प्रयोग से जठराग्नि मन्द हो जाती है। इसलिए गुरु पदार्थ मात्रा में कुछ कम खाने चाहिएँ।

**गुरुणामल्पमादेयं लघूनां तृप्तिरिष्यते।**
**मात्रा द्रव्याण्यपेक्षन्ते मात्रा चाग्निमपेक्षते ॥** —च० सू० २७।३४१

अर्थात् आहार की मात्रा भोज्य द्रव्यों के लघु और गुरु गुणों पर आधारित है और अग्नि के बल पर भी। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए लघु पदार्थ पूरी मात्रा में खाया जा सकता है। परन्तु गुरु पदार्थ मात्रा से कुछ कम ही खाना चाहिए ताकि पेट हल्का रहे। भोजन तो भूख हटाने के लिए करना चाहिए, पेट भरने के लिए नहीं।

(४) **जीर्णे अश्नीयात्**—भूख लगने पर भोजन खाना चाहिए। लालच में आकर भोजन न खायें। इससे अपच हो जाता है। भूख लगने के लक्षण यह हैं —पेट में लघुता आई होती है, मलमूत्र खुलकर आ जाता है समय पर भूख

लग जाती है और अग्नि दीप्त हुई होती है।

(५) **इष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्**—भोजन ऐसे शुभ वातावरण में सेवन किया जाये जहाँ पर वहाँ की सामग्री पर दृष्टि डालने से और खिलाने के ढंग से मन प्रसन्न हो जाए। इसमें स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना होता है। जो भोजन सम्वन्धी प्रत्येक विभाग में होनी आवश्यक है। इसमें सभी भोज्य द्रव्यों से लेकर, रसोई घर और वहाँ का सामान, पात्र, तख्ते आदि तथा पकाने वाला रसोइया भी, स्वच्छ और साफ होना चाहिए।

(६) **नातिद्रुतमश्नीयात्**— भोजन चबा-चबाकर खाना चाहिए ताकि भोजन अच्छे प्रकार से शीघ्र पच जाए और यदि भोजन में कोई दोष, बाल, रेती आदि पड़ी हो उसको निकाल लिया जाए।

(७) **आत्मानभिसीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक्**—अपनी प्रकृति को देखकर जिन भोज्य पदार्थों के सेवन से आपका स्वास्थ्य ठीक रहता है उनका सेवन करना चाहिए। उष्ण प्रकृति वाला शीत गुण प्रधान और शीत प्रकृति वाला उष्ण गुण प्रधान भोज्य पदार्थों के सेवन से स्वस्थ रह सकता है।

## विरुद्ध आहार

(८) **वीर्याविरुद्धमश्नीयात्**—,वीर्य विरुद्ध आहार का सेवन न करें। इससे रक्त विकार के रोग जैसे कुष्ठ, विसर्प आदि हो जाते हैं। जैसे :

(क) सब प्रकार की मछलियों को दूध के साथ नहीं खाना चाहिए। यह महाअभिष्यन्दि आहार है। स्रोतों को बन्द करता है। इन दोनों का परस्पर अन्तर कम से कम २४ घंटे का होना चाहिए ताकि पहला खाया सम्यक रूप से आतमसात हुआ हो और तज्जनित मल का निकास भी हुआ हो।

(ख) वीर्य दो प्रकार का होता है–शीतवीर्य और उष्णवीर्य। शीतवीर्य वाले द्रव्य को उष्णवीर्य वाले भोज्य द्रव्य के साथ प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसका ध्यान रखना चाहिए।

इसके अतिरिक्त बहुत प्रकार के विरुद्ध आहार हैं, विरुद्ध आहारों की सूची पाठकों के ज्ञान के लिए नीचे लिखी जाती है।

(१) **संयोग विरुद्ध**—सब प्रकार के हरे या सूखे अम्ल पदार्थों का दूध के साथ सेवन न करें। और दालों को भी दूध के साथ प्रयोग नहीं करना चाहिए। सब प्रकार के मांस को दूध, मूली, माष, तिल, गुड़ और नदरु के साथ प्रयोग न करें।

(२) **परिहार विरुद्ध**—घी के ऊपर शीत अन्नपान और मधु के ऊपर उष्ण जल पान नहीं करना चाहिए।

(३) **मात्रा विरुद्ध**—मधु और घी को समभाग में लेकर खाना ठीक नहीं। इसी प्रकार गुरु भोजन मात्रा से अधिक खाना और लघु भोजन मात्रा से कम

खाना भी ठीक नहीं।

(४) **अग्नि विरुद्ध**—तीक्ष्णाग्नि में हीन मात्रा, मन्दाग्नि में अति मात्रा, विषमाग्नि में विरुद्ध मात्रा और समाग्नि में असम मात्रा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(५) **कोष्ठविरुद्ध**—क्रूर कोष्ठ वाले को मन्द वीर्य वाला भेदन द्रव्य और और मृदु कोष्ठ वाले को तीक्ष्ण भदेन द्रव्य अति मात्रा में देना ठीक नहीं।

(६) **अवस्था विरुद्ध**—श्रम व व्यायाम करने वाले को वात प्रकोपक अन्न पान नहीं देना चाहिए तथा निद्रालु और आलसी को कफ प्रकोपक अन्नपान नहीं देना चाहिए।

(७) **क्रम विरुद्ध**—मलमूत्र विसर्जन के बिना भोजन करना, भूख के बिना भोजन करना, अति भूख की दशा में भोजन न करना ठीक नहीं।

(८) **सात्म्य विरुद्ध**—वातलादि देहप्रकृति वालों द्वारा अपने-अपने दोषों के विपरीत गुणों के अनुकूल आहार न करना सात्म्य विरुद्ध कहलाता है।

(९) **देश विरुद्ध**—अनूप देश में शीत और स्निग्ध पदार्थों का सेवन, जाङ्गल देश में रुक्ष और उष्ण पदार्थों का सेवन और समदेश में विषम पदार्थों का सेवन देश विरुद्ध आहार कहलाता है।

(१०) **काल विरुद्ध**—ऋतुओं के विरुद्ध अन्नपान का सेवन करना। जैसे शीत काल अर्थात् हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में शीत और रुक्ष के विपरीत उष्ण स्निग्ध पदार्थों का सेवन करना चाहिए। तथा उष्णकाल में उष्ण और तीक्ष्ण पदार्थों के विपरीत शीत और मृदु पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

(११) **पाक विरुद्ध**—पकाया हुआ अन्न, जो कच्चा ही रहा हो या जल गया हो अथवा विषैली लकड़ी से पकाया गया हो, वह सेवन करने के योग्य नहीं होता है।

(१२) **हृद्विरुद्ध**—मैला, कुचैला, गन्दा अन्न, जो हृदय को प्रिय न लगे और मन में विकार उत्पन्न करे, ऐसा अन्न वर्जित है।

(१३) **संपद्विरुद्ध**—जो अन्न स्वादहीन और रसहीर्न हो, वह वर्जित है।

(१४) **संस्कार विरुद्ध**—जो अन्न घी, तेल, मिर्च, मसाला और नमक के बिना पकाया गया हो, वह वर्जित है।

उपरोक्त विरुद्धाहार स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं इसलिए यह सेवन करने योग्य नहीं हैं।

(ix) **सप्ताह में एक दिन का उपवास**—इससे आशातीत लाभ मिलता है। ऐसा करने से गत छः दिनों में मिथ्याहार विहार और अपथ्य से संचित हुआ मल शुद्ध हो जाता है और शरीर में उत्पन्न हुई सम्पूर्ण विकृति दूर हो जाती है। उपवास के दिन सम्भव हो तो केवल जलपान पर रहना चाहिए, नहीं तो पावभर

दूध के साथ कोई मीठा फल या फलाहार दिन में एक बार सेवन करना चाहिए। ऐसा करने से जठराग्नि पाचन क्रिया से निवृत्त होकर, दोषों के पाचन की ओर अर्थात् विकारों को शुद्ध करने में लग जाती है। इससे शरीर शुद्ध हो जाता है और स्वास्थ्य का संवर्द्धन हो जाता है। स्मरण रहे कि इस दिन विबन्ध न रहने पाये। इसकी ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए। विबन्ध की दशा में पहले ही दिन, रात को कोई लाभकारी विबन्धहर औषधि का सेवन कर लेना चाहिए ताकि इस दिन मलशुद्धि हो जाए। ऐसा करने से उपवास से पूरा लाभ प्राप्त हो जाता है।

स्वस्थ दीर्घ जीवन अभिलाषी को विबन्ध कभी और किसी दिन भी नहीं रहना चाहिए। प्राकृत जीवन में इसका कोई स्थान नहीं है। हिताहार के सेवन से विबन्ध तो रह नहीं सकता। परन्तु यदि कोई विबन्धात्मक प्रकृति वाला है तो उस दशा में विबन्धहर औषधि का प्रयोग सेवन करने में कोई दोष नहीं है। जैसे हरीतकी आदि का प्रयोग।

(x) **भोजन करके थोड़ा-सा मनोरंजन और विश्राम**—भोजन खाकर थोड़ा-सा पदगमन करके, घड़ी भर बायें करवट से लेटकर विश्राम कर लेना चाहिए। और मन को प्रिय लगने वाली इन्द्रियार्थों के सेवन में मनोरंजन करना चाहिए। इससे अन्न का अच्छे प्रकार से परिपाक होने से सहायता मिलती है।

(xi) **हिताहार से दीर्घायु की प्राप्ति**—हिताहार से धातुओं और मलों का निर्माण और पोषण समावस्था से होता रहता है। कारण कि अग्नि भी समावस्था में रहकर अन्न की परिपाक क्रिया सम्यक रूप से होकर शुद्ध आहार रस का निर्माण हो जाता है और दोष भी समावस्था में रहकर स्वास्थ्य का संरक्षण और संवर्द्धन होता रहता है। शरीर के स्वास्थ्य के साथ-साथ मन और आत्मा भी प्रसन्न रहते हैं। फलस्वरूप स्वस्थ-दीर्घ-जीवन का लक्ष्य प्राप्त हो जाता है। कहा भी गया है—

**"षड्त्रिंशत सहस्राणि रात्रीणां हित भोजनः।**
**जीवत्यनातुरो जन्तुर्जितात्मा सम्मतः सतां॥"** —च० सू० २७।३४८

अर्थात् जिस मनुष्य का मन नियमन में होकर बुद्धि के संकेतों पर चलता हो और हिताहार का सेवन करने वाला हो, वह ३६००० रात्रियों अर्थात् १०० वर्ष तक जीवित रहता है।

→ अ० मा०  शुभमऽस्तु। शुभमऽस्तु!

चौथा अध्याय

# मल शुद्धि

## शुद्धि स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य

जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिए दोषों, धातुओं, जठराग्नि की समावस्था होनी आवश्यक है। उसी प्रकार मलों के निर्माण और निकास की क्रियायें भी समावस्था में होनी आवश्यक हैं। स्वस्थ रहना और स्वस्थ रहकर दीर्घजीवी बनना, इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति शुद्धि पर निर्भर है। जन्म से मरण पर्यन्त जीवन का एक-एक क्षण शुद्धि की परिस्थिति में यदि गुजरता रहे तो स्वास्थ्य और दीर्घजीवन, इन दोनों बातों को प्राप्त करने में सहायता मिल सकती है।

**शरीर की बाहरी शुद्धि**—शरीर की बाहरी शुद्धि के लिए मनुष्य को सदा यत्नशील रहना चाहिए। जहाँ यह स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है वहाँ यह मनुष्य की सभा में और समाज में मान, प्रतिष्ठा और गौरवता भी बढ़ाता है।

प्रातःकाल बिस्तरे से उठकर सबसे प्रथम मलमूत्र त्याग करके शौच से निवृत हो जाना चाहिए। इस बात का ध्यान रखा जाये कि नित्य मलमूत्र का त्याग खुल-कर होता है। इससे मलाशय और मूत्राशय साफ हो जाता है, जिससे शरीर में लाघवता और स्फूर्ति आ जाती है। विबन्ध अनेक रोगों की जननी है इसलिए विबन्ध नहीं रहना चाहिए। विबन्ध की दशा में कोई उपयोगी विबन्धहर औषधि रात को सोने के समय पर प्रयोग की जा सकती है। इसके लिए ऋतु हरीतकी का प्रयोग उपयोगी है विशेषकर शीत प्रकृति वालों के लिए। उष्ण प्रकृति वालों के लिए सत इसबगोल १० ग्राम को २५-३० ग्राम मक्खन के साथ मिलाकर प्रयोग में लाया जा सकता है। मात्रा में न्यूनाधिकता यथाआवश्यकता की जा सकती है। इसके अतिरिक्त प्रातःकाल गिलास भर शीतल जल का प्रयोग भी विबन्ध खोलने में सहायक होता है।

शौच से निवृत्त होकर व्यायाम और तैलाभ्यंग के पश्चात् स्नान करना चाहिए। शीतल जल का स्नान नाड़ी संस्थान को शक्तिमान बनाता है। शरीर में स्फूर्ति और ताजगी लाता है। हाँ, शीतग्रस्त देशों में और शीत ऋतुओं में वातकफ शीतप्रकृति वाले मनुष्यों के लिए स्नान के लिए कोष्ण जल का प्रयोग सुखावह होता है।

**उबटन या साबुन**—शरीर का मल साफ करने के लिए अहानिकर मलशोधक

उबटन या साबुन का प्रयोग किया जा सकता है। चरक संहिता में आदेश भी हुआ है—

"दौर्गन्ध्यं गौरवं तन्द्रां कण्डूमलमरोचकम्।

स्वेदबीभत्सतां हन्ति शरीर परिमार्जनम्॥" —च० सू० ५।९३

अर्थात् उबटन (साबुन) मलने से शरीर पर से स्वेद की दुर्गन्धि, भारीपन, कण्डू, मल और अरुचि दूर हो जाती है।

**स्नान के गुण** चरक संहिता में इस प्रकार से कहे गये हैं—

"पवित्रं वृष्यमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहं।

शरीर बलसंधानं स्नानमोजस्करं परम्॥ —च० सू० ५।९४

अर्थात् स्नान से शरीर की शुद्धि हो जाती है। स्वेद का जमा हुआ मल और थकावट दूर हो जाती है। यह वल, ओज, कान्ति और आयुवर्द्धक है।

**निर्मल वस्त्र के गुण**—स्नान करके स्वच्छ तौलिए से शरीर को रगड़कर शुष्क कर लेना चाहिए और शुद्ध धुले हुए वस्त्र धारण कर लेने चाहिएँ।

"काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम्।

श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम्॥" —च० सू० ५।९५

अर्थात् स्वच्छ वस्त्र धारण करने से मनुष्य में मनुष्यत्व आ जाता है। वह सभा में आदर पाता है। प्रसन्न मुख रहता है। रोगों से सुरक्षित रहकर आयु बढ़ाता है।

शरीर के अंग-प्रत्यंगों की शुद्धि के साथ-साथ, धारण किये जाने वाले वस्त्रों की शुद्धि, विस्तर की शुद्धि, भोजन सम्बन्धी सभी खाये पिये जाने वाले भोज्य पदार्थों की शुद्धि भी स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। इसके साथ-साथ पाकालय, स्नानालय, मूत्रालय, शौचालय, निवासगृह, दुकान, कार्यालय तथा अन्य सभी स्थान और गृह हवादार होने चाहिएँ जिनके साथ काम पड़ने का सम्पर्क रहता हो। आस-पास के स्थान आँगन, प्राँगण और गलियाँ स्वच्छ और साफ़ होने चाहिएँ। गन्दे जल का निकास विधिवत् होता हो। ऐसे स्वच्छ वातावरण में जीवन के दिन व्यतीत करते रहने से शरीर स्वस्थ रह सकता है और मन भी प्रसन्न रह सकता है।

## शरीर की भीतरी शुद्धि

मनुष्य अपनी जीवन यात्रा चलाने के लिए प्रतिदिन आहार का सेवन करता रहता है। इससे शरीर में मल बनते रहते हैं। इन मलों का प्रतिदिन शरीर से बाहर निकल जाना नितान्त आवश्यक है। यदि यह मल शरीर के भीतर ही पड़े रहें तो उनसे सड़ांध उत्पन्न हो जायेगी जिससे स्वास्थ्य बिगड़कर विकारग्रस्त हो जायेगा।

**मलों का निर्माण**—मनुष्य जो भोजन सेवन करता है जठराग्नि उसको पचाकर दो भाग बनाती है। एक सार भाग होता है दूसरा मल भाग। सार भाग से सात

धातुओं का निर्माण हो जाता है, जिनको सात धातु अग्नियाँ, अपनी परिपाक क्रिया से निर्माण करती हैं। धातु अग्नियों की परिपाक विधि भी जठराग्नि की परिपाक विधि के समान होती है, जो भोजन को पचाकर किट्ट और प्रसाद भाग निकाल लेती है। प्रत्येक धातु अग्नि अपनी पाचन क्रिया से सार और किट्ट भाग निकालती रहती है। सार भाग से अपनी धातु निर्माण कर लेती है, और किट्ट भाग को पृथक् निकालकर रख लेती है। मलों का यह निर्माण क्रम तब तक बराबर चालू रहता है जब तक सभी सातों धातुओं का निर्माण पूर्ण नहीं हो जाता। धातुओं के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला गया है, यहाँ पर केवल मलों के विषय पर कुछ चर्चा करेंगे।

मलों के विषय में चरक संहिता का आदेश इस प्रकार से हुआ है—

**"तत्राहार प्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्त श्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजनन मलाः केशश्मश्रू लोमनखादयश्चावयवाः पुश्यन्त्यि।** —च० सू० २८।४

अर्थात् जठराग्नि के परिपाक से, आहार से, प्रसाद और किट्ट बनता है। प्रसाद को आहार रस कहते हैं, किट्ट को मल कहते हैं। आहार रस आंत्रों की लसीका ग्रन्थियों से शोषित होकर धातुओं के निर्माण में काम आता है। रस के शोषित होने पर पीछे जो शुष्क पिण्ड बच जाता है, वह किट्ट कहलाता है। इस किट्ट से स्वेद; मूत्र; पुरीष; वात; कफ; कान; नाक और आँखों का मल; लोम कूप; मेडू का मल; केश; दाढ़ी; मूंछ; बाल और नाखून आदि मलों का निर्माण होता है। धातु अग्नियों के द्वारा इन मलों का निर्माण क्रम, इस प्रकार से चरक संहिता में आदेश हुआ है—

**"किट्टमन्नस्यविण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।**
**पित्तं मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः।**
**स्यात्किट्टं केशलोमास्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम्।**
**प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवं विधच्छंतः॥**
**परस्परोपसंस्तम्भा धातु स्नेह परम्परा।"**

—च० चि० १५/१८-१९

अर्थात् आहार रस से जो किट्ट भाग बनता है उसके घने भाग से पुरीष बनता है और पतले भाग से मूत्र। रसाग्नि के परिपाक से रसधातु के निर्माण के साथ उसका मल, कफ बन जाता है। तब यह मधुर पाकावस्था में होता है। इसी प्रकार रक्त धातु के निर्माण के साथ पित्त बन जाता है। तब यह अम्ल पाकावस्था में होता है। वायु की उत्पत्ति पक्काशय से होती है। जब जठराग्नि से भुक्त आहार का शुष्क पिण्ड बन जाता है उस समय यह कटुपाक अवस्था में होता है। मांस धातु के निर्माण के साथ-साथ कर्णगुहाओं और नासागुहाओं के मलों का निर्माण होता है

और मेद धातु के निर्माण के साथ-साथ स्वेद मल का निर्माण होता है। अस्थि धातु के निर्माण के साथ उसके मल से नाखून, केश, दाढ़ी, मूँछ और लोम; मज्जा धातु के निर्माण के साथ उसका मल, आँखों और त्वचा का स्निग्ध मल बनता है।

मलों का निर्माण शरीर के स्वास्थ्य के लिए वहुत आवश्यक है। यह अपने उपस्नेह से धातुओं के उपस्नेह के साथ मिलकर शरीर को धारण करते हैं। इन मलों के उपस्नेह से शरीर के सभी अंग-प्रत्यङ्ग अपनी-अपनी क्रियायें यथावत करते रहते हैं। जिससे स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है। मलों का, समावस्था से निर्माण होना, स्वास्थ्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना धातुओं का होता है।

**मलों की निकास क्रिया**—मलों के निर्माण और निकास की साम्यावस्था के चालू रहने पर मनुष्य का स्वास्थ्य निर्भर करता है। इनके निर्माण या निकास में कोई विषमता आ जाने से स्वास्थ्य के बिगड़ जाने का भय बना रहता है। प्रकृति इस सन्तुलन को बनाये रखने के लिए स्वयं क्रियाशील रहती है। शरीर की रचना ही ऐसी है कि इसके सभी छोटे-बड़े अंग-प्रत्यङ्ग, शुद्धि के काम में लगे रहते हैं। जिस किसी मल का संचय, जब कभी शरीर में हो जाता है तो प्रकृति के द्वारा शरीर में वेग उत्पन्न हो जाते हैं और मलों का निकास होने लगता है। ऐसे समय पर प्रकृति की सहायता करके वेगों को रोकना नहीं चाहिए। उनको चलने देना चाहिए, अन्यथा विकार उत्पन्न हो सकते हैं। मलों का निकास क्रम निम्न विधियों से होता है—

(१) पुरीष का निकास समय आने पर वेग उठते हैं। फिर इसका निकास गुदा मार्ग से हो जाता है।

(२) मूत्र के निकास का समय जब निकट आ जाता है तब वेग उठने आरम्भ हो जाते हैं और मूत्रेन्द्रिय के द्वारा मूत्राशय में संचित हुए मूत्र का निकास हो जाता है।

(३) अपानवायु का निकास भी गुदा मार्ग से हो जाता है।

(४) निःश्वास वायु का निकास नासारन्ध्रों के द्वारा होता रहता है जिसके साथ, शरीर में बने हुए वायवीय मल पदार्थों का भी निकास हो जाता है, जिनका निर्माण धातुओं के कोषों की निर्माण-क्रिया से होता रहता है और इनका निर्माण जीवित शरीर में होने वाली गतियों के कारणों से भी होता रहता है। इन मल पदार्थों को, रक्त अपने परिभ्रमण में, शिराओं के द्वारा फेफड़ों में पहुँचाता है जहाँ से इनका निकास निःश्वास वायु के साथ होता रहता है।

(५) स्वेद का निकास त्वचा से स्वेदरन्ध्रों के द्वारा होता रहता है। इसका निर्माण त्वचा में स्थित स्वेद-ग्रन्थियों के यन्त्रों के द्वारा वायवीय मल पदार्थों से होता है। स्वेद के निकास के समय पर शीतल-जलपान, शीतल वायु सेवन या शीत-गुण प्रधान द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए। ऐसा करना प्रकृति के विरुद्ध

है। इससे स्वेद का निकास रुक जाता है, इससे मल संचय होकर विकार उत्पन्न होते हैं।

(६) कान, नाक, आँख, मुख, दाँत और कण्ठ तथा त्वचा पर बना हुआ मल (उपस्नेह) स्नान करते हुए विधिपूर्वक साफ किया जाना चाहिए।

प्रकृति एक ओर से शरीर को धारण करने के लिए धातुओं और मलों का निर्माण करती रहती है, दूसरी ओर से शरीर को शुद्ध रखने के लिए मलों के निकास कोभी चालू रखती है, ताकि मल समावस्था में रहकर स्वास्थ्य को बनाये रख सके अन्यथा मलों के संचित होने से शरीर, विकारग्रस्त हो सकता है। मनुष्य को अपने स्वास्थ्य संवर्द्धन के लिए प्राकृत जीवन-प्रणाली के विधि-विधान का पालन करना चाहिए।

**विकारों की उत्पत्ति मलों के संचय से**—मलों के निर्माण और उनके निकास की समावस्था को बनाये रखने के लिए प्रकृति क्रियाशील रहती है। इसके द्वारा मलों की निकासक्रिया चालू रहकर इनका संचय शरीर में नहीं होने पाता। यदि ऐसा न होता तो शरीर में मलसंचय से विषैले पदार्थ बनकर स्वास्थ्य बिगड़ जाता, क्योंकि मलों का संचय होने से दोषों का सन्तुलन बिगड़ जाता, वातादि दोष वृद्धि पाकर विषमावस्था को प्राप्त होकर विकार उत्पन्न कर डालते हैं।

विकारों के उत्पन्न होने में मलों का संचय ही मूल कारण होता है, इससे कोई भी विकार उत्पन्न हो सकता है, जैसे ज्वर, वमन, अतिसार, प्रवाहिका, प्रतिष्याय, पीनस, कास, श्वास, मूत्रविकार, उदरशूल, वृक्कशूल, कटिशूल, सिरश्शूल, सन्धिशूल और रक्त-विकार आदि कई प्रकार के विकार जिनमें दाह, शूल और जलन हो।

## लंघन का महत्त्व

मनुष्य प्रज्ञापराध के कारण मिथ्याहार-विहार करता रहता है। हिताहार के विधि-विधान के विरुद्ध आचरण करने से प्रकृति की अपनी सामान्य शोध-क्रिया में बाधा पड़ जाती है। शरीर में मलों का निकास नहीं हो पाता, मलों का संचय होने लगता है, मलसंचय से विकार उत्पन्न हो जाता है। अब प्रकृति स्वास्थ्य को सुधारने के लिए अपनी 'विशेष-शोध-क्रिया' चालू करती है, विकार की उत्पत्ति, प्रकृति की विशेष-शोध-क्रिया कहलाती है, चाहे कोई भी विकार उत्पन्न हुआ हो। प्रकृति इस विशेष शोध-क्रिया को चालू करने से, मलों का संचय शरीर से बाहर निकालने में समर्थ हो जाती है, जिससे स्वास्थ्य लाभ हो जाता है।

प्रकृति यह विशेष शोध-क्रिया का काम, जठराग्नि को सौंपती है। वह संचित हुए मलों को जलाने अथवा उनको शुद्ध करने में या शरीर से बाहर निकालने में जुट जाती है। इस अवधि में भूख लगनी बन्द हो जाती है या कम लगती है। ऐसी अवस्था में गुरु या ठोस भोजन बन्द रखा जाता है, हलका अर्थात् लघु-तरल-आहार

दिया जाता है। भूख न होने की दशा में ठोस भोजन नहीं दिया जाता। ऐसा करने से प्रकृति को अपनी 'विशेष-शोध-क्रिया' का काम चलाने में सहायता मिलती है। इससे जठराग्नि को भोजन की पाचन क्रिया से छुटकारा मिलता है और वह अपनी पूर्ण शक्ति के साथ 'विशेष-शोध-क्रिया' के काम में लग जाती है। इससे शरीर का मलसंचय दो-तीन दिनों में ही दूर हो जाता है। मल, मूत्र और स्वेद खुल जाते हैं, वायु का अनुलोम हो जाता है, भूख और प्यास लगनी आरम्भ हो जाती है और शरीर में लाघवता आ जाती है तथा विकार शान्त हो जाता है। ठोस भोजन को बंद रखना ही लंघन कहलाता है।

लघु-तरल आहार—जब रोगी दुर्बल हो, बाल हो, वृद्ध हो, गर्भिणीस्त्री अथवा वातरोग से पीड़ित हो तो उसे लंघन नहीं कराना चाहिए, उसको लघु-तरल आहार देते रहना चाहिए, जिससे उसका बल बना रहे। इसके लिए रोगी को साबूदाना, डबल रोटी, मूंग की पतली खिचड़ी, मटर सूप, चने का सूप, गलूकोज जल, नींबू जल, उबला हुआ दूध, दूध मिश्रित जल, दूध मिलाकर बनाई हुई चाय, दही में तीन भाग जल डालकर दही की बनी हुई लस्सी; दालचीनी, तुलसी पत्रादि की बनी हुई चाय; नारंगी, अनार, तरबूज या किशमिश इनमें से किसी एक फल का निकाला हुआ रस; इनमें से कोई भी तरल-आहार जो दोषों के विपरीत गुणों से युक्त हो, दिया जा सकता है अर्थात् उष्णकृत विकारों में शीतगुण प्रधान और शीतकृत विकारों में उष्णगुण प्रधान तरल आहार। इसी प्रकार अन्य लघु तरल पदार्थ भी दिये जा सकते हैं। स्मरण रहे कि कोई भी तरलाहार बनाने के लिए उबालकर ठंडा किया हुआ अथवा कोष्ण जल प्रयोग में लाना चाहिए।

विकार के आरम्भ होने पर यह भी देख लेना चाहिए कि इसका कारण क्या है? यदि इसका कारण किसी प्रकार का मलसंचय है, तो उसको हटाना चाहिए। जैसे यदि पुरीष विबन्ध है तो बस्ति कर्म या विबन्ध-हर औषधि खिलाकर विबन्ध खोलना चाहिए। यदि कारण स्वेद का अवरोध है तो स्वेदल औषधि देकर और अन्य प्रयोगों से काम लेकर स्वेद लाना चाहिए। इसी प्रकार मूत्र के अवरोध या मूत्र के निकास की कमी में, मूत्रल द्रव्यों का प्रयोग करके मूत्र खोलना चाहिए। ऐसा करने से विकारों के शमन में प्रकृति को सहायता मिलती है और विकार शीघ्र शान्त हो जाते हैं।

### उपवास का महत्त्व

सबल रोगियों को उपवास से डरना नहीं चाहिए। यह स्वास्थ्य के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि भोजन। आप देखते हैं कि हम सब दिन में कई बार खाना खाते हैं, जिससे पाचन संस्थान पर पाचन क्रिया का भार बहुत कुछ पड़ता। इस कार्यभार से इसके छोटे बड़े अंग थक जाते हैं। थकावट दूर करने के लिए विश्राम चाहिए। विश्राम से ही काम करने की नई

शक्ति आ जाती है। इसलिए उपवास से पाचन संस्थान को विश्राम मिलकर इनके अङ्गों और प्रत्यङ्गों में शक्ति आ जाती है और यह अपना काम चालू रखने के समर्थ बनते हैं। उपवास प्रकृति के नियमों के अनुकूल है।

इसमें सन्देह नहीं कि भोजन जीवन का आधार है। भोजन से ही शरीर में जीवन शक्ति आ जाती है। पर यह भी तो है कि भोजन के हेर-फेर से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी दशा में उपवास ही वह अस्त्र है जो रोगों को मार भगा सकता है। उपवास स्वास्थ्य के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए तथा स्वस्थ-दीर्घ जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक विश्वस्त उपाय है। अतः उपवास पर रहने का अभ्यास करना प्रत्येक मनुष्य के लिए अत्यंत आवश्यक है। उपवास को हर्ष से स्वीकार करना चाहिए।

हमारे मान्य पूर्वज, उपवास बड़े हर्ष के साथ रखा करते थे। वह एकादशी, पूर्णिमा, अमावस्था, संक्रान्ति, अष्टमी आदि व्रतों पर उपवास पर रहा करते थे। कई जलपान पर ही रहते थे कई फलाहार का सेवन करते थे, कई दुग्धपान या लस्सी पीकर उपवास रखा करते थे और स्वस्थ-दीर्घ जीवन पाते थे। हमें भी उनका अनुकरण करके उपवास रखने का अभ्यास करना चाहिए और स्वस्थ-दीर्घ जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर लेना चाहिए। स्मरण रहे कि एक दिन के उपवास से एक सप्ताह का संग्रह हुआ मल शुद्ध हो जाता है। यदि यह अभ्यास नियम से रखा जाय तो मनुष्य रोगों से मुक्त रहकर स्वस्थ-दीर्घ जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने में सफल रह सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

## पाँचवाँ अध्याय

# विश्राम

### विश्राम के गुण

**त्रय उपस्तम्भा इत्याहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति। —च० सू० ११।३५**

अर्थात् शरीर के धारक तीन स्तम्भ हैं—१. आहार, २. स्वप्न, ३. ब्रह्मचर्य। आहार और ब्रह्मचर्य्य का वर्णन इस पुस्तक में पीछे आया है, यहाँ विश्राम के विषय पर प्रकाश डालेंगे।

मनुष्य को अपनी जीवन-यात्रा चलाने के लिए कुछ न कुछ काम करना ही पड़ता है। यदि काम न किया जाय तो दाम कहाँ से मिलेगा। संसार में जीवित रहने के लिए भोजन, कपड़ा और मकान चाहिए। बच्चों को इसके अतिरिक्त, शिक्षण और प्रशिक्षण मिलना चाहिए और भी कई प्रकार भी आवश्यकतायें होती हैं। इन सब वातों को पूरा करने के लिए काम करना पड़ता है ताकि धन का उपार्जन हो सके।

कई कामों को करने में शारीरिक शक्ति अधिक लगानी पड़ती है और कई कामों में मस्तिष्क शक्ति। जैसे खेतों और कारखानों में काम करने के लिए शारीरिक शक्ति अधिक लगानी पड़ती है और लिखाई-पढ़ाई तथा सोच-विचार का काम करने के लिए मस्तिष्क को अधिक काम करना पड़ता है। परन्तु किसी भी प्रकार का काम हो, उसको करने से शरीर के अंग-प्रत्यंग थक जाते हैं और कोष टूटते-फूटते रहते हैं। थकावट के कारण मनुष्य काम करने में अशक्त हो जाता है तनाव उत्पन्न होने का प्रधान कारण थकावट होती है जो अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करने से हो जाती है। जब तक थकावट दूर न की जाये तब तक मनुष्य अगले दिन काम करने के योग्य नहीं बनता। इसलिए मनुष्य को थकावट दूर करने के लिए विश्राम करना पड़ता है।

**निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलं।**
**वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च॥ —च० सू० २१।३६**

अर्थात् विधिपूर्वक नींद करने से मनुष्य को सुख, पुष्टि, बल, पुंसत्व शक्ति, ज्ञान और जीवन प्राप्त होता है। यदि निद्रा न की जाये या अविधि से की जाये तो इससे दुःख, तनाव, कमजोरी, बलहीनता, पुंसत्व शक्ति का अभाव, अज्ञान और मृत्यु तक भी हो सकती है।

विश्राम से ही शरीर की टूटी-फूटी सेलों की मरम्मत हो जाती है। इसमें

पुनः काम करने की शक्ति आ जाती है। विश्राम थकावट को दूर करने के लिए एक अमोघ अस्त्र है।

**विश्राम के प्रकार**—विश्राम दो प्रकार के होते हैं—(१) हल्का विश्राम, (२) पूर्ण विश्राम अर्थात् निद्रा।

**१. हल्का विश्राम**—शारीरिक और मानसिक काम करने से थकावट तो होती है पर कभी-कभी काम करने के बिना ही मनुष्य बड़ी थकावट अनुभव करता है। यह थकावट उसको मानसिक परेशानियों के कारण होती है। मानसिक परेशानियाँ जीवन को निःस्वाद बना देती हैं। मनुष्य का मन किसी भी छोटे या बड़े काम को करना नहीं चाहता। सारा काम उसको भार जैसा मालूम होता है। उसका शरीर भारी, कमर टूटी और थकी हुई मालूम होती है। वह एक छोटा-सा काम करने के भी अशक्त होता है। यह थकावट उसको शारीरिक या मानसिक कार्य करने के विना ही अनुभव होती है। ऐसी अवस्था में मन का भार हल्का करने के लिए हल्का विश्राम लेना चाहिए। यह बात पाठकों को स्मरण रखनी चाहिए कि मन के उतार-चढ़ावों के कारण जब कभी काम करने में दिल न लगता हो और शरीर में थकावट जैसी मालूम होती हो तो ऐसी अवस्था में हल्का विश्राम लेना एक बड़े काम की वस्तु है। परन्तु निद्रा नहीं करनी चाहिए क्योंकि दिन में निद्रा करना वर्जित है। हल्का विश्राम दिन में कई बार भी लिया जा सकता है।

**रात्रौ जागरणं रुक्षं स्निग्धं प्रस्वप्नं दिवा।**
**अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीन प्रचलायितम्॥** —च० सू० २१।५०

अर्थात् रात्रि में जागरण करने से रुक्षता बढ़ती है। दिन में निद्रा करने से स्निग्धता बढ़ती है। रुक्षता बढ़ने से वायु की वृद्धि हो जाती है और स्निग्धता बढ़ने से कफ की वृद्धि हो जाती है। इसलिए शरीर की थकावट को दूर करने के लिए आसन पर बैठे-बैठे हल्का विश्राम कर लेना चाहिए।

**हल्का विश्राम लेने की विधि**—कमरे के बीच में एक सपाट और सख्त स्थान पर चादर को चार तहों में मोड़कर बिछा दें। इस पर पीठ के बल सीधे लेट जाएँ। टाँगों और हाथों को फैलाकर पृथ्वी के सपाट रखें। सिर, ग्रीवा, धड़, दोनों टाँगों, दोनों बाहुओं और अंगुलियों को भी ढीला करके सीधे लेट जाएं। आँखों को ढीला करके बन्द रखें। कोई भी अंग दबा हुआ न रहे। ऐसी अवस्था में २०-२५ मिनट रहकर हल्का विश्राम लेने से शरीर की सारी थकावट दूर हो जायेगी। यदि कुछ निद्रा भी आ जाये तो आने दीजिएगा। कोई हानि नहीं होगी। ऐसा हल्का विश्राम लेने से, शरीर काम करने के योग्य हो जाता है। मन तनाव-शून्य हो जाता है। इसमें ताजगी आ जाती है। हल्का विश्राम कहीं भी बैठे-बैठे आराम कुर्सी पर भी शरीर को ढीला करके लिया जा सकता है।

(२) **पूर्ण विश्राम या निद्रा**—दिन-भर के छोटे-बड़े, हल्के, कठिन, भारी

दिमागी और शारीरिक भिन्न-भिन्न कामों के करने से, शरीर के अंग-प्रत्यंग और कलपुर्जों के कोष थक जाते हैं और टूटते-फूटते रहते हैं। और मनुष्य का शरीर थककर चूर-चूर हो जाता है। वह इस थकावट को दूर करना चाहता है ताकि अगले दिन भी काम करने के योग्य बन सके। ऐसी अवस्था में वह पूर्ण विश्राम या निद्रा करना चाहता है। निद्रा से सारी थकावट दूर हो जाती है। शरीर के टूटे-फूटे सेलों की मरम्मत हो जाती है। मरे हुए कोषों का निकास वायवीय मल पदार्थ के रूप में निःश्वास वायु के साथ होता रहता है। उनके स्थानों पर नये कोष बनते रहते हैं। इस सारी क्रिया से शरीर में नई शक्ति आ जाती है।

**निद्रा का विधि विधान**—प्रकृति ने मनुष्य जीवन को सुखी बनाने के लिए दिन और रात का क्रम बनाया है। दिन काम करने के लिए और रात्रि निद्रा के लिए बनाई है। इसके विपरीत काम करना प्रकृति के विरुद्ध है, इसलिए हानिकारक भी है। निद्रा के लिए ठीक समय रात के १० बजे से प्रातः ४-५ बजे तक सर्वोत्तम समय है—

**"अकाले अति प्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता।**
**सुखायुषी पराकुर्यात् कालरात्रिरिवापरा॥"** —च० सू० २१।३७

१. अर्थात् अकाल में निद्रा नहीं करनी चाहिए यह निषिद्ध है जैसे दिन में। यह निद्रा का मिथ्या योग है।

२. नियुक्त समय से अधिक समय तक निद्रा नहीं करनी चाहिए। यह निद्रा का अतियोग कहलाता है।

३. निद्रा न करना भी प्रकृति के विरुद्ध है। यह भी ठीक नहीं। इसको निद्रा का अयोग कहते हैं। अर्थात् निद्रा का मिथ्यायोग, अतियोग और अयोग वर्जित है।

**"मेदस्विनः स्नेहनित्याः श्लेमष्लाः श्लेष्मरोगिणः।**
**दूषीविषर्ताश्चैव दिवा न शयीरन् कदाचन॥"** —च० सू० २१।४५

अर्थात् जो मनुष्य मोटी चर्बी वाले हैं, जो घी, तेल का प्रयोग अधिक करने वाले हैं, जो श्लेष्मला देह प्रकृति वाले हैं, जो कफ रोगी हैं और दूषी विष पीड़ित हैं उन्हें दिन में सोना नहीं चाहिए। और भी—

**"ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वप्नात् प्रकुप्यतः।**
**श्लेष्मपित्ते दिवास्वप्नस्तस्मात्तेषु न शस्यते॥"** —च० सू० २१।४४

ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुओं में दिन को सोना नहीं चाहिए क्योंकि इनमें सोने से कफ और पित्त प्रकुपित होते हैं।

**"ग्रीष्मे त्वादान रूक्षाणां वर्धमाने च मारुते।**
**रात्रीणां चाति संक्षेपाद्दिवा स्वप्नः प्रशस्यते॥"**

अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में आदान काल की बढ़ती हुई रूक्षता से उत्पन्न वायु के कारण

और रात्रि छोटी होने के कारण, दिन में थोड़ा-बहुत विश्राम करना उचित है।

एक युवक के लिए प्रतिदिन छः घण्टे का विश्राम करना उपयुक्त है। बच्चों के लिए कुछ अधिक समय की आवश्यकता रहती है। बच्चा जितना छोटा होगा उतने ही अधिक विश्राम की उसको आवश्यकता रहती है।

मनुष्य को चाहिए कि वह रात के १०-११ बजे से प्रातःकाल के ४-५ बजे तक, छः घंटों की निद्रा करने का अभ्यास रखे, ४-५ बजे प्रातः का समय आने पर, यत्नपूर्वक बिस्तर को छोड़ देना चाहिए और उठ खड़ा होना चाहिए। शौच आदि से निवृत्त होकर दन्त धावन करें। शुद्ध जल से कुल्लियाँ करके और कण्ठ को साफ करके हाथ, पावों और मुँह का प्रक्षालन करें। इसके पश्चात् इस समय को सदुपयोग में लायें।

विद्यार्थी इस समय को विद्याअभ्यास में लगायें। योगाभ्यासी इस समय को योगाभ्यास, प्राणायाम और ध्यानादि या पूजापाठ में लगा सकते हैं। गृहस्थ और सर्वसाधारण जनता परमात्मा की वन्दना के पश्चात् अपने जीविका सम्बन्धी कर्मों में लगकर, लाभ उठा सकते हैं। इस अमूल्य समय को नींद में गंवाना, सारे दिन को व्यर्थ करने के बराबर है। इस समय पर किए हुए सभी काम सफल हो जाते हैं। इस अमूल्य समय से लाभ उठायें।

छठा अध्याय

# व्यायाम

## व्यायाम के गुण

व्यायाम से शरीर के अंग-प्रत्यंग और सम्पूर्ण कोष जागृत होकर गतिशील हो जाते हैं। उनमें जीवन आ जाता है। गति ही प्रगति का कारण बनती है। शुद्ध और ताजा हवादार क्षेत्र या कमरे में किया जाने वाला व्यायाम, मनुष्य को स्वास्थ्य प्रदान करता है और उसकी आयु को दीर्घ बनाता है। शरीर के भीतर जो मैले पदार्थ संग्रह हुए होते हैं उनका जलीय-मलपदार्थ भाग स्वेद के रूप में, स्वेद रन्ध्रों के द्वारा त्वचा के मार्ग से बाहर निकलता है। और दूसरा वायवीय-मलपदार्थ भाग का निकास, निःश्वास वायु के साथ होता रहता है।

आजकल के सभ्य जगत् में लोगों का आकर्षण, व्यायाम की ओर बढ़ता जा रहा है। और इसके द्वारा एक देश का दूसरे देश के साथ सम्बन्ध बढ़ाने का एक मार्ग निकल आया है। जिसके कारण व्यायाम को संसार में बढ़ावा मिल रहा है। व्यायाम से न केवल शरीर ही स्वस्थ रहता है अपितु मन और आत्मा भी स्वस्थ रहते हैं। अतः मनुष्य को चाहिए कि व्यायाम को अपने जीवन का अंग बनाएं।

**व्यायाम के प्रकार**—व्यायाम कई प्रकार के होते हैं। साधारण पदयात्रा से लेकर योगासन और प्राणायाम भी व्यायाम के अन्तर्गत हैं। इनमें पदयात्रा, दौड़ना, बैठकें निकालना, दंड पीलना, अनेक प्रकार की मुड़ने वाली कसरतें, अनेक प्रकार के खेलकूद, बड़े-बड़े खेल जैसे फुटबाल, क्रिकेट, हॉकी, वॉलीबाल, बैडमिण्टन, कबड्डी, टेनिस, घुड़दौड़, तैरना, फिसलना, योगासन और प्रणायाम सम्मिलित हैं। इन सभी प्रकार के व्यायामों से शरीर में बल आता है।

**"लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं दुःखसहिष्णुता।**
**दोषक्षयोऽग्नि वृद्धिश्च व्यायामादुपजायते॥"** —च० सू० ७।३२

अर्थात् व्यायाम से शरीर में हल्कापन, काम करने की शक्ति और शरीर की मजबूती आ जाती है। कष्टों को सहन करने की शक्ति, दोषों अर्थात् मलों का नाश और जठराग्नि की वृद्धि हो जाती है। मोटापा दूर हो जाता है।

**तेल अभ्यंग**— व्यायाम करने से पहले शरीर पर तेल का अभ्यंग, सिर से लेकर पैर तक, सारे शरीर पर करना चाहिए, विशेष करके मेरुदण्ड पर और सभी मुड़ने वाले जोड़ों पर। अभ्यंग से यह जोड़ लचकदार बन जाते हैं। स्वस्थ

व दीर्घ जीवन के लिए जोड़ों का लचकदार होना आवश्यक है। नाड़ी संस्थान दृढ़ बन जाता है। त्वचा कोमल और सुन्दर और सारा शरीर सुडौल और शक्तिमान बन जाता है।

"तथा शरीरमभ्यङ्गात् दृढं सुत्वक च जायते।
प्रशान्त मारुताबाधं क्लेश व्यायामसंसहम्॥" —च० सू० ७।८६

अर्थात् तेल के अभ्यङ्ग से शरीर दृढ़ हो जाता है, त्वचा कोमल बन जाती है, वायु पीड़ा शान्त हो जाती है और सख्त काम करने की सहनशक्ति आ जाती है।

**नस्य**—तेल का नस्य (नसवार) लेना चाहिए। इसको दोनों नासारन्ध्रों में सूंघकर चढ़ाना चाहिए। इससे नाक की झिल्ली दृढ़ बन जाती है और मनुष्य बार-बार के प्रतिष्याय के आक्रमणों से सुरक्षित रहता है। आँखों की ज्योति को बढ़ाती है। नस्य से सिर, आँख, कान, नाक और गले (कण्ठ) की वातनाड़ियाँ दृढ़ बनती हैं। वह रोगाक्रमणों से सुरक्षित रहते हैं। इसके सेवन से अकाल में सिर के बाल नहीं पकते। चरक सू० अ० ५, श्लो० ५७-६२ में इसको स्पष्ट किया गया है।

तेल का आश्चोतन कर्ण गुहाओं में करना चाहिए। इससे कर्णपटल स्वस्थ, कोमल और लचकदार रहते हैं और कर्ण रोगों से मनुष्य सुरक्षित रहता है।

तेल का अभ्यंग सिर पर और दोनों पैरों के तलवों पर करना चाहिए इससे पैरों का फटना और उनकी रुक्षता दूर हो जाती है, आँखों की ज्योति भी बढ़ती है।

इस प्रकार तेल के अभ्यंग में अनेक गुण हैं। इसको सारे शरीर पर रगड़-रगड़ कर मलना चाहिए ताकि तोला दो तोला भर तेल, त्वचा में समावेश हो जाये। तभी तो तैलाभ्यं का यथार्थ लाभ मिल सकता है। तैलाभ्यंग समाप्त होने पर व्यायाम आरम्भ करना चाहिए।

**कसरतें और आसन**—व्यायाम को मुड़ने वाली कसरतों से आरम्भ करना चाहिए। जैसे ग्रीवा की मुड़ने वाली जोड़ों की कसरतों से; बाहुओं में अंगुलियों, कलाई, कुहनी और कन्धे की मुड़ने वाली जोड़ों की कसरतें; टाँगों के टखने, घुटने और वक्षण की मुड़ने वाली जोड़ों की कसरतें; तथा कमर को आगे, पीछे, दाईं और बाईं ओर मोड़ने वाली कसरतें। इसके पश्चात् बैठकें निकालना, दण्ड पीलना, दौड़ना और कुश्ती करने की करसतें करनी चाहिएं। योगासन में शीर्षासन, सर्वाङ्गासन, पश्चिमोत्तान आसन और मत्स्यासन बहुत उपयोगी आसन हैं। आसनों का वर्णन आगे आया है। योगासनों के अभ्यास से मनुष्य में नई जीवन-शक्ति उजागर हो जाती है। इनका अभ्यास बहुत लाभकारी रहता है।

**प्राणायाम**—यह प्राणवायु का व्यायाम है। यह मनुष्य को प्राणशक्ति

प्रदान करता है इसलिए अत्यन्त उपयोगी है। खुले, ताजा और साफ हवादार कमरे या क्षेत्र में खड़े-खड़े या आसन पर बैठकर, इसका अभ्यास किया जा सकता है। वायु को दोनों नासारन्ध्रों से अन्दर खींचकर धीरे-धीरे, १० सेकण्ड तक दोनों फेफड़ों में भर दिया जाता है। इस भरे हुए प्राणवायु को ४० सेकण्ड तक, दोनों फेफड़ों में बन्द रखा जाता है। फिर धीरे-धीरे २० सेकण्ड तक, इस भरे हुए प्राणवायु को, दोनों नासारन्ध्रों से बाहर निकाल दिया जाता है। इस क्रिया का अभ्यास ५ से १५ मिनट तक दिन में दो-चार बार, प्रातः एवं सायं, यथाशक्ति किया जा सकता है। इसको प्राणायाम कहते हैं। विशेष जानकारी आगे दी गई है।

**व्यायाम के नियम**—कारखानों और खेतों में दिन भर काम करने वाले कामगार लोगों के लिए व्यायाम करना आवश्यक नहीं क्योंकि उनका काम ही व्यायाम के समान है। ऐसे व्यक्तियों को व्यायाम के स्थान पर, कुछ लघु पौष्टिक आहार खाना चाहिए ताकि उनकी थकावट दूर होकर अगले दिन वह काम करने के समर्थ बन सकें। हाँ, जो लोग लिखाई-पढ़ाई का काम करने वाले हैं जैसे विद्यार्थी और कार्यालयों के लेखक तथा जुलाहे, दरजी, नाई, वाणिज और घर की चार दीवारों के अन्दर काम करने वाले नौकर-चाकर और महिलाएँ, यह सभी लोग व्यायाम करके स्वास्थ्य लाभ उठा सकते हैं। इनके लिए व्यायाम की अत्यन्त आवश्यकता है।

व्यायाम की समाप्ति पर थोड़ा विश्राम करना चाहिए ताकि पसीना ठण्डा हो जाये और थकावट भी दूर हो। थकावट के दूर होने पर स्नान करना चाहिए। थकावट दूर करते हुए दन्तधावन करना चाहिए। दाँतों को साफ करने के लिए कई प्रकार की विधियां हैं—दातून, दन्तमंजन और दाँतों का पेस्ट। इनमें से किसी को भी प्रयोग किया जा सकता है। स्मरण रहे कि अपनी मनचाही विधि से सफाई करते हुए, मसूढ़ों पर कोई व्रण न हो पायें और किसी प्रकार की हानि न पहुँचे।

स्नान करने की विधि पीछे लिखी जा चुकी है। उसके अनुसार स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण करके, दस मिनट के लिए परमात्मा की वन्दना, आसन पर बैठ कर करनी चाहिए। इससे मन में शान्ति आ जाती है।

व्यायाम खुली वायु वाले कमरे या क्षेत्र में करना चाहिए। व्यायाम प्रतिदिन प्रातः समय पर करना चाहिए। बीच में छोड़-छोड़कर व्यायाम करने से कोई लाभ नहीं पहुँचता। व्यायाम से स्वेद निकल आने पर, शरीर का भीतरीय मल बाहर निकल आता है और शरीर स्वस्थ रहता है। व्यायाम के पश्चात् लघु-पौष्टिक आहार करना चाहिए।

**व्यायाम के अयोग्य व्यक्ति**

"अतिव्यवायभाराध्व कर्मभिश्चाति कर्शिताः ।
क्रोधशोकभयायासैः क्रान्ता ये चापि मानवाः ।।
बालवृद्ध प्रवाताश्च ये चोच्चैर्बहुभाषकाः ।
ते वर्जयेयुर्व्यायामं क्षुधितास्तृषताश्च ये ।।" —च० सू० ५।३५

अर्थात् जो लोग भूख और प्यास से पीड़ित हैं। काम करते हुए कमजोर हुए हैं, बाल या वृद्ध हैं, कामगार, बोझ उठाकर चलने वाले हैं और स्त्रीसंग से थके माँदे रहते हैं, ऐसे व्यक्तियों को व्यायाम नहीं करना चाहिए।

## सातवाँ अध्याय

# मनोविज्ञान

### मन की प्रधानता

सृष्टि की रचना का वर्णन भारत के प्राचीन संस्कृत साहित्य में विस्तार से आया है। इसमें प्रकृति और पुरुष से उत्पन्न जड़ और चेतन सृष्टि की चर्चा आई है। चेतन सृष्टि के वर्णन में पुरुष की चर्चा बहुत विस्तार से आई है, आयुर्वेद विज्ञान इसी का एक मुख्य ग्रंथ है। इसमें जीवात्मा और इसके सहयोगी मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रिय आदि अंगों का विवेचन विस्तार से आया है। इसमें मनुष्य के सुखी और दुःखी जीवन तथा हितकारी और अहितकारी जीवन का बोध कराया गया है। आयुर्वेद विज्ञान में शारीरिक और मानसिक रोगों की विस्तृत व्याख्या की गई है और उनसे मुक्ति पाने की चिकित्सा भी विस्तार से प्रकाशित की गई है।

ईश्वर के मन की ईक्षण से यह संसार बना है, तो इस सिद्धान्त के अनुसार संसार का निर्माण मन की कल्पना से हुआ है। जिस कारण से जो वस्तु बनती है, उसका प्रभाव उस वस्तु पर अवश्य पड़ता है। शास्त्रकारों ने इस सिद्धान्त को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है, कि कारण के अनुरूप कार्य बनते रहते हैं। **'कारणानुरूपं कार्यं भवति।'** इसलिए यह कहा जा सकता है कि संसार की रचना मन से से हुई है अतः मन ही संसार है।

आयुर्वेद में मन की प्रभुता को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। आधुनिक भौतिकवाद के कारण मनुष्य का ध्यान मन की ओर हटकर स्थूल शरीर की ओर चला गया है। परिणामस्वरूप स्वास्थ्य के संरक्षण और संवर्द्धन में बहुत-सी त्रुटियाँ कर बैठता है। स्वास्थ्य और सदाचार का स्तर दिन-प्रतिदिन घिरता जा रहा है। जीवन दुःखों का घर बना हुआ है। स्वस्थ-दीर्घ जीवन की प्राप्ति तब तक कदापि सम्भव नहीं हो सकती, जब तक न मन की महानता, इसकी प्रभुता और शक्तिमानता को एक कण्ठ होकर स्वीकार किया जाए और तदनुसार आचरण किया जाए। आयुर्वेद जीवन विज्ञान में जितना ध्यान पंचभौतिक शारीरिक स्वास्थ्य की ओर दिया गया है, उससे कहीं अधिक मन के स्वास्थ्य पर दिलाता है। शरीर और मन दोनों के स्वस्थ होने से ही मनुष्य पूर्णरूप से स्वस्थ माना जा सकता है अन्यथा नहीं। मन की प्रधानता के सम्बन्ध में महर्षि चरक का प्रमाण—

**"सत्वात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।**
**लोकस्तिष्ठति संयोगत्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥"**

अर्थात् सत्त्व (मन), आत्मा और शरीर सृष्टि के तीन आधारभूत स्तम्भ हैं। इनके संयोग से संसार के सम्पूर्ण व्यवहार का ढाँचा प्रतिष्ठित है। इस सिद्धान्त के आधार पर सत्त्व अर्थात् मन का वर्णन सर्वप्रथम आया है, इससे मन की प्रधानता विदित हो जाती है। वास्तव में यह संसार मन का ही खेल-तमाशा है, मन से ही सब कुछ है परन्तु मन होना चाहिए—सत्त्वगुण प्रधान मन। यही मन स्वस्थ और सुखी जीवन का प्रथम स्तम्भ माना गया है, रज और तम प्रधान मन नहीं हो सकता। सत्त्वगुण प्रधान मन ही स्वास्थ्य का स्तम्भ माना जा सकता है और यही शान्त और प्रसन्न रह सकता है। रज और तम प्रधान दूषित मन से प्रज्ञापराध होता है जो आयुर्वेद विज्ञान के अनुसार सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों का मूलकारण है।

मन को अष्टांगयोग साधना से सुधाकर रज और तम दोषों से मुक्त करके सत्त्वप्रधान बनाया जाता है, ऐसा शुद्धमन ही बुद्धि के नियन्त्रण में रहकर काम करते हुए मनुष्य को उन्नति के शिखर तक पहुँचा सकता है, मनुष्य में मनुष्यत्व लाता है। मनुष्य का जीवन-मरण, मान-अवमान, यश-अपयश, सुख-दुःख, लाभ-हानि, आलस्य-उद्योग और हर्ष शोकादि सभी बातें मन के आधीन हैं। यह मनुष्य का कर्ता-धर्ता है। मन को अनुशासन में रखने के लिए अष्टांगयोग की शिक्षा, विद्यारम्भ के साथ-साथ बाल्यावस्था से ही मिलती रहनी चाहिए तभी तो उनके आहार-विहार और आचार-विचार में सुधार लाया जा सकता है। ऐसे शिक्षित जातक ही मनुष्यत्व से मालामाल होंगे, वही अपने सुख-ऐश्वर्य सम्पन्न स्वस्थ-दीर्घ जीवन के साथ-साथ अपने परिवार, अपने समाज और अपने देश तथा विश्व को सुखी और उन्नत बना सकते हैं।

**मन की उत्पत्ति**

मन की उत्पत्ति आदिकाल में सृष्टि रचना-प्रक्रिया में त्रिगुणात्मक अहंकार से हुई है और मानव शरीर में गर्भ-धारण के अवसर पर शुक्र और रज के मेलक काल पर जीवात्मा के संक्रमण के साथ मन का सम्बन्ध शरीर के साथ हो जाता है।

मन में तीन गुण रहते हैं–सत्त्व, रज और तम। गर्भ के विकास के साथ-साथ मन का विकास भी होता रहता है और मन के गुणों का विकास भी। इसके अतिरिक्त मन के भाव गर्भ में आते रहते हैं। और धीरे-धीरे इनका प्रभाव भी बढ़ता जाता है। यह भाव कई प्रकार के होते हैं जैसे—इच्छा, द्वेष, काम, क्रोध, भय, लोभ, आलस्य, चंचलता, शीलादि। इस प्रकार से मानसिक प्रवृतियाँ और मानसिक भाव गर्भ में आ जाते हैं।

शुक्रशोणित के मेलक काल पर दम्पति के शारीरिक दोषों की अर्थात् वात, पित्त और कफ दोषों की स्थिति के अनुसार, गर्भ की प्रकृति का निर्माण हो जाता

है और इसी आधार पर मानव की समदोष अथवा वातल, पित्तल वा श्लेष्मल प्रकृतियों का गठन हो जाता है, फिकर कालान्तर पर इन प्रकृतियों के अनुसार उसमें लक्षण भी उत्पन्न होते जाते हैं।

जन्म के पश्चात् ज्यों-ज्यों जातक बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वह अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से काम लेना आरम्भ करता है। मन का विकास भी बढ़ता जाता है और बुद्धि भी विकसित होने लगती है। बुद्धि के विकास से वह सभी बातों का निर्णय करने लगता है। इसी के साथ अहंकार भी उत्पन्न होने लगता है, इसके फलस्वरूप जातक कोई काम करना मानता है, कोई नहीं मानता। इसी प्रकार मन की बढ़त के साथ-साथ चित्त का विकास भी होने लगता है। इस प्रकार मन के विकास के साथ-साथ बुद्धि, अहंकार और चित्त भी विकसित होकर पूर्णरूप से अन्तःकरण अस्तित्व में आ जाता है। मन वास्तव में एक है, परन्तु वृत्ति भेद से यह उसके भिन्न-भिन्न नाम हैं।

**मानसिक शरीर**

चरक महर्षि का वक्तव्य—

**शरीरेन्द्रिय सत्वात्मसंयोगी धारि जीवितम्।**
**नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥** —च० सू० अ० १।४२

अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को जीवन (शरीर) कहते हैं। इस संयोग का नाम आयु है इस सूत्र से यह विदित हो जाता है कि आयु की बनावट शरीर + मन + आत्मा के संयोग से हुई है। इस प्रकार स्वरूप भेद से यह तीन प्रकार का है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर।

स्थूल शरीर को श्री गीताजी में क्षेत्र कहा गया है, यह आधार है मानसिक-शरीर का। मानसिक (सूक्ष्म) शरीर संयुक्त रूप से स्थूल शरीर के साथ रहता है। जीवात्मा का निवास मानसिक शरीर में रहता है, क्योंकि मन आधार है जीवात्मा का, इन दोनों का परस्पर निकट सम्बन्ध रहता है। जीवात्मा स्थूल शरीर रूपी क्षेत्र का अधिपति है, यही वास्तविक पुरुष है। जो मन के साथ इस क्षेत्र में वास करती है। इसको श्री गीताजी में क्षेत्रज्ञ कहा गया है। श्री गीताजी का आदेश—

**'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।**
**एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥'** —श्री गीता अ० १३।१

अर्थात् हे अर्जुन! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और इस क्षेत्र के जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्रज्ञ ही को जीवात्मा कहते हैं। यह परमात्मा का अंश है, जो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है तथा जीवन शक्ति का भण्डार है।

मानसिक शरीर आध्यात्मिक द्रव्यों से बना हुआ है। यह द्रव्य सूक्ष्म होते हैं और आँखों से दष्टिगोचर नहीं होते। सूक्ष्म में शक्ति वास करती है। श्री गीताजी

का आदेश—

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरेन्द्रियेभ्यो परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धे परतस्तु सः ॥' —श्री गीता० ३।४२

अर्थात् शरीर से इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) सूक्ष्म हैं, ज्ञानेन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से भी सूक्ष्म जीवात्मा है। जिस प्रकार मानव शरीर की वास्तविकता गीता में स्थूल से सूक्ष्म होती हुई दिखाई गयी है; ठीक इसी के सदृश संसार की वास्तविकता भी दिखाई गई है। ब्रह्माण्ड भी स्थूल और खर पृथ्वी से आरम्भ होता है, फिर उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर मण्डलों से होता हुआ चला गया है। यह पृथ्वीमण्डल से क्रमपूर्वक सूर्यमण्डल, विद्युतमण्डल, प्रकाशमण्डल से होते हुए सूक्ष्मतम परमात्मा दिखाकर सिद्ध किया गया है। जो सर्वशक्तिमान है, उसी से सभी को शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस वास्तविकता को समझने में कठिनाई नहीं हो सकती कि शक्ति का वास सूक्ष्म में है, स्थूल में नहीं। हम देखते भी हैं कि यह सूक्ष्म बातनाड़ी ही है, जो भारी वस्तु उठा सकती है, स्थूल मांसपेशी उठा नहीं सकती। बातनाड़ी यह शक्ति अपने से सूक्ष्मतर मन से लाती है, मन बुद्धि से और बुद्धि अपने से सूक्ष्मतर जीवात्मा से प्राप्त कर लेती है। जीवात्मा को यह शक्ति, परमात्मा से प्राप्त हो जाती है, जो सर्वशक्तिमान है।

मन की शक्ति शरीर और इन्द्रियों से उत्कृष्टतर है। अतः यह शरीर और इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने में समर्थ है। इन्द्रियाँ मन के सम्पर्क से विषय ग्रहण करती हैं; विषय को मन लेकर इसकी कल्पना मस्तिष्क के कार्यालय में कराके, विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। फिर इस ज्ञान का निश्चयात्मक निर्णय करने के लिए बुद्धि प्रवृत्त हो जाती है, बुद्धि के द्वारा यह ज्ञान जीवात्मा को प्राप्त हो जाता है। स्थूल शरीर में कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा सम्पूर्ण व्यवहार, मन या मानसिक शरीर के सहयोग से चलता रहता है। इसका ज्ञान मन के द्वारा ही जीवात्मा को प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा साक्षीरूप से शरीर में रहती है जो मन के द्वारा शरीर का व्यापार चला रही है।

मन के भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार इसके भिन्न-भिन्न नाम हैं। यह मानसिक शरीर मन की ही भिन्न-भिन्न वृत्तियों से बना है। मन जब विषयों का निर्णय करने लगता है, तब उसको बुद्धि कहते हैं। जब यह विषयों का चिन्तन करने लगता है, तब यह चित्त कहलाता है। जब इसमें अहम् भाव उत्पन्न हो जाता है तब इसको अहंकार कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को अन्तःकरण कहते हैं। यही मानसिक शरीर कहलाता है। केवल मन शब्द से भी मानसिक शरीर का बोध होता है।

मानसिक (सूक्ष्म) शरीर प्रत्येक पुरुष के स्थूल शरीर के साथ संयुक्त रूप से जुड़ा रहता है, केवल मोक्ष मिलने पर ही, यह उससे प्रथक हो जाता है। तब

तक प्रत्येक जन्म और मृत्यु के अवसर पर स्थूल शरीर बदलता रहता है। सूक्ष्म-शरीर (मन सहित जीवात्मा) अपने पूर्वकर्मों के अनुसार, कर्मफलों को भोगने के लिए नये स्थूल शरीर को धारण करके जन्म लेती है।

**'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि ग्रहणाति नरोपराणि।**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यऽन्यानि संयाति नवानि देहि ।।"**

—श्री गीता जी अ० २।२२

अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण कर लेती है।

कठोपनिषद् में मानसिक शरीर के स्वरूप का वर्णन निम्न वल्ली में किया गया है—

**"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।**
**बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।**
**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयां तेषु गोचरान्।**
**आत्मेन्द्रिय मनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।"** —कठो० वल्ली ३।३

अर्थात् शरीर को एक रथ समझ लें, बुद्धि इसकी सारथि है, मन इसकी लगाम है, इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं, विषय और वासनायें इसके मार्ग हैं। इस रथ में बैठकर सवारी करने वाला जीवात्मा है। यही जीवात्मा भोक्ता अर्थात् पुरुष है। इस वास्तविकता का ज्ञान हो जाने पर सभी मनुष्य एक समान हैं, इनमें कोई भेद नहीं चाहे वह किसी धर्म, क्षेत्र, भाषा या वेष से सम्बन्ध रखते हैं। सभी आपस में भाई-भाई हैं।

## सूक्ष्मशरीर का स्वरूप और सर्वधर्मसमभाव वाद

प्राचीन भारत का साहित्य संस्कृत भाषा में उपलब्ध है, जिसमें वेद, उपनिषद्, रामायण और महाभारत आदि अनेक आप्तग्रन्थ सम्मिलित हैं। इनमें प्रकृति, पुरुष, परमात्मा और सृष्टि रचना आदि के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा आई है। भारतीय संस्कृति के सभी पहलुओं की रूपरेखा पर इस साहित्य की छाप अंकित है, जो अध्यात्मविद्या का ज्ञान भण्डार भी है। यह संस्कृति संसार के उतार-चढ़ावों के साथ-साथ अपने में सभी पहलुओं और भिन्न-भिन्न जाति, धर्म, वर्ण और सम्प्रदाय-वादों को समाती हुई गौरवतापूर्वक आगे बढ़ती हुई चली आ रही है, जबकि इसकी समकालीन संस्कृतियाँ अपना अस्तित्व ही खो बैठी।

कठोपनिद् का ऊपर लिखित सारगर्भित सूत्र भारतीय संस्कृति की एक कड़ी है। इसी प्रकार के अन्य आप्तग्रन्थों के सूत्रों से यह फली-फूली है। इन सूत्रों से हमें यही शिक्षा मिलती है कि संसार में सभी मनुष्य एक समान हैं चाहे वह किसी

भी वर्ण अथवा धर्म से सम्बन्ध रखता हो। यह सूत्र हमें सर्वधर्मसमभाव वाद की शिक्षा दे रहे हैं। यही हमारी भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। हमें इस शिक्षा को धारण करके साथ-साथ इसके आधार मूलभूत भारतीय संस्कृति की रक्षा तन, मन और धन से करनी चाहिए।

'सर्वधर्मसमभाव वाद' सभी धर्मावलम्बी वर्गों में समानता लाता है, यह समानता फलस्वरूप एकता लाकर उन्नति का कारण बन जाती है। इसको बढ़ावा देना समय की पुकार है। महर्षि चरक का आदेश है—

**'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धि कारणम्।**

**ह्रास हेतु विशेषस्तु**······················ —च० सू० १।४४

अर्थात् जहाँ-जहाँ भावों में समानता होती है, वहाँ एकता, अखण्डता आकर वृद्धि अर्थात् उन्नति का कारण बन जाती है। विशेषता अर्थात् असमानता आ जाने से ह्रास अर्थात् अवनति हो जाती है।

भारत में विविध प्रकार के धर्मावलम्बी रहते हैं। सभी एक परमात्मा की उपासना करते हैं। यहाँ तक इन सभी में एक समानता है, जो एकता का कारण होकर उन्नति और वृद्धि ला सकती है। परन्तु यदि धर्म परिवर्तन, प्रचार या किसी और कारण से एक धर्म की विशेषता, दूसरे धर्म के ऊपर दिखाई जाती है तो इस प्रकार के विपरीत भावों के प्रचार से, असमानता आती है और विरोधात्मक भावों से शत्रुता बढ़ जाती है। शत्रुता उत्पन्न होकर पृथकता का कारण बन जाती है। भारत एक स्वतन्त्र देश है। स्वतन्त्रता का अर्थ धर्म-प्रचार नहीं। इसका अर्थ है अपने-अपने धर्मों का स्वतन्त्रता से पालन करना और परस्पर प्रेम-भाव से मिल-जुलकर रहना। धर्म-परिवर्तन प्रचार से स्वतन्त्रता का खण्डन हो जाता है। इससे दिमागी गुलामी आ जाती है, जो राजनीतिक गुलामी से अधिक विनाशकारी है। यह मनुष्य को अपने पूर्वजों की संस्कृति से निकालकर, दूसरी विरोधी संस्कृति में धकेल देती है। और उसमें ढालकर, पहली संस्कृति का प्राणघातक शत्रु बना देती है। इसलिए धर्म परिवर्तन प्रचार झगड़े और अशान्ति लाता है। देश का बँटवारा धर्म परिवर्तन प्रचार का ही स्वरूप है। भारत जैसे बहुसंख्यक धर्मावलम्बी देश पर से, यह आपदा तुरन्त हटाई जानी चाहिए। इस गरीब देश को अपने पूर्वजों की संस्कृति में ही पड़ा रहने दीजिये। सभी धर्मावलम्बी परमात्मा की ही सन्तान हैं। सभी भ्रातृभाव से मिल-जुलकर, एकता से रहकर उन्नत हो सकते हैं। गुण-धर्म की समानता प्रत्येक क्षेत्र में वृद्धि, उन्नति और एकता लाती हैं।

इसी प्रकार यदि पिता और पुत्र, पति और पत्नी, बहन और भाई, मनुष्य और मनुष्य में गुण-धर्म या भाव एक समान हों, तो यह उनकी एकता और उन्नति का कारण बन जाती है। विपरीत भाव या विपरीत विचारधारायें हों अर्थात् एक व्यक्ति उत्तर की ओर जा रहा हो और दूसरा दक्षिण की ओर तो इनका समागम

कहाँ होगा ? इनमें तो आकाश और पाताल का अन्तर है। इनकी एकता नहीं हो सकती। इनकी पृथकता अवश्यम्भावी है।

प्राचीन वैदिक धर्म का साहित्य संस्कृत भाषा में अपनी आध्यात्मिक विद्या से मालामाल है। इसके प्रसाद से यह भारतीय संस्कृति गत सहस्रों वर्षों से जीवित रहती हुई चली आ रही है। इस अध्यात्मविद्या के प्रचार और प्रसार से समाज में समानता और एकता और उन्नति लाई जा सकती है।

**मन के प्राकृतिक गुण**

मन की उत्पत्ति के विषय पर पीछे लिखा गया है कि इसकी उत्पत्ति त्रिगुणात्मक अहंकार से हुई है। अहंकार, महत्त (बुद्धि) से उत्पन्न हुआ है और महत्त की उत्पत्ति मूल प्रकृति से हुई है। मूल प्रकृति में स्वकीय तीन गुण रहते हैं—सत्त्व, रज और तम। सम्पूर्ण जगत इन तीन गुणों से व्याप्त है।

इस सम्बन्ध में सुश्रुताचार्य का आदेश है—

**"कारणानुरूपं कार्यमितिकृत्वा सर्वमेवैते विशेषाः सत्त्वरजतमोमया भवन्ति।"** अर्थात् कारण के अनुरूप कार्य बनते हैं, इस न्याय के अनुसार यह सम्पूर्ण विशेष अर्थात् मूल प्रकृति से उत्पन्न सभी चेतन और अचेतन द्रव्य जगत त्रिगुणात्मक है अतः मन भी त्रिगुणात्मक है। इसमें तीन गुण रहते हैं—सत्त्व, रज और तम।

**त्रिगुणों का अन्तर्भाव पंच महाभूतों में**

१. तत्र सत्त्वबहुलमाकाशम्—सत्त्वगुण प्रधान आकाश है।

२. रजोवहुलोवायुः—रजोगुण प्रधान वायु है।

३. सत्त्वरजोवहुलोऽग्नि—सत्त्व और रज प्रधान अग्नि है।

४. सत्त्वतमो बहुला आपः—सत्त्व और तम प्रधान जल है।

५. तमो बहुला पृथ्वी—तम प्रधान पृथ्वी है।

**पंचभूतात्मक त्रिगुणों का अन्तर्भाव त्रिदोष में**

(१) रजो बहुलो वायु—रजोगुण प्रधान वायु है।

(२) सत्त्वबहुलं पित्तम्—सत्त्वगुण प्रधान पित्त है।

(३) तमो बहुला श्लेष्मा—तमोगुण प्रधान कफ है।

**पंचभूतों का त्रिदोष में अन्तर्भाव**

१. आकाश मारुताभ्यां वातः—आकाश और वायु से वात उत्पन्न होता है।

२. आग्नेयं पित्तम्—अग्नि से पित्त उत्पन्न होता है।

३. अम्भः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा—जल और पृथ्वी से कफ उत्पन्न होता है।

पीछे यह स्पष्ट किया गया है कि मानव शरीर पाच-महाभूतों और चेतनधातु के संयोग से बना है। इन महाभूतों की उत्पत्ति मूल प्रकृति से हुई है जिसमें तीन गुण—सत, रज और तम रहते हैं। अतः मानव मन भी त्रिगुणात्मक होता है।

**सात्त्विक मन के लक्षण**

**'आनृशंस्यं सविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्मं आस्तिक्यम् ।**
**ज्ञानं बुद्धिमेधा स्मृतिरभिसगश्च ।'** —सुश्रुत श० १।१६

अर्थात् दयाभाव, बाँटकर खानेवाला, सहनशक्ति, सच्चाई, धर्म, ज्ञान, आस्तिकता, बुद्धि, मेधा, स्मृति और अनासक्ति, यह सब सात्त्विक मन के लक्षण हैं।

**राजस मन के लक्षण**

**"राजसास्तु दुःखबहुलताटनशीलता धृतिरहंकार आनृतिकत्वम् अकारुण्यं दम्भौ मानो हर्षः कामः क्रोधश्च ।"** —सु० श० १।१६

अर्थात् दुःख की अधिकता, भ्रमण की प्रवृत्ति, अधीरता, अहंकार, असत्य बोलने की प्रवृत्ति, क्रूरता, दम्भ, मान, हर्ष और क्रोध—यह राजस मन के लक्षण हैं।

**तामस मन के लक्षण**

**"तामसास्तु विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वं अकर्मशीलता निद्रालुश्चेति ।"** —सु० श० १।१६

अर्थात् मानसिक उद्विग्नता, नास्तिक्यभाव, अधर्म की ओर प्रवृत्ति, बुद्धि का निरोध, अज्ञान, मूढ़ता, काम न करने की प्रवृत्ति और निद्रालुता, यह तामस मन के लक्षण हैं।

संक्षेप में त्रिगुणों के कर्म निम्न प्रकार से कहे गये हैं—

**"सत्त्वं प्रकाशकं विद्धि रजश्चापि प्रवर्तकम् ।**
**तमो नियामकं प्रोक्तं अन्योन्यमिथुनप्रियम् ॥"** —काश्यप सं० २८

अर्थात् सत्त्व का विशेष गुण ज्ञान कराना, रज का विशेष गुण कर्म कराना और तम का विशेष गुण सत्त्व और रज को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होने से रोकना है।

प्राकृत त्रिगुणों के लक्षणों के अनुसार मन, समय के प्रत्येक क्षण में किसी न किसी काम में लगा रहता है। परन्तु यह गुण क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं इसलिए मन की दशा भी बदलती रहती है। जिस गुण का प्रभाव मन पर होता है, उसी के अनुसार यह कर्म में प्रेरित होता है। इस प्रकार कभी सात्त्विक कर्मों में लगा रहता है, कभी राजसिक कर्मों में और कभी तामसिक कर्मों में। स्मरण रहे। कि एक समय में एक ही गुण का विशेष प्रभाव मन पर रहता है, शेष गुणों का प्रभाव गौण रूप में होता है। यही कारण है कि मन भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मों की ओर प्रवृत्त हो जाता है, कर्मों की प्रवृत्ति के अनुसार आचरण बन जाता है। यही प्रकृति कहलाती है। सात्त्विक गुण की बहुलता से सात्त्विक प्रकृति बनती है, राजसिक गुण की बहुलता से राजसिक प्रकृति और तामसिक गुण की बहुलता से तामसिक प्रकृति बनती है।

सत्त्व गुण की वृत्ति शान्त होती है जैसे उदारता, क्षमा, वैराग्यादि, इसलिए

यह दोषरहित शुद्ध गुण है। रज की वृत्ति घोर होती है, जैसे काम, क्रोध, लोभ, राग आदि। यह दोषयुक्त गुण है। तम की वृत्ति मूढ़ होती है, जैसे सम्मोह, भय, आलस्य आदि। यह भी दोषयुक्त गुण है।

सत्त्व की वृत्ति रज और तम की दोषयुक्त वृत्तियों के कारण आवृत्त रहती है। यह प्रकृति का नियम है। यही कारण है कि षड्धातु संज्ञक पुरुष, जो पाँच महाभूतों और जीवात्मा के संयोग से बना है, इसमें जीवात्मा का आनन्दरूप स्वभाव का भाग, रज और तम की अधिकता के कारण उसी तरह ढका रहता है जैसे मेघों से आच्छादित आकाश होने के कारण, सूर्य छिपा रहता है। चूँकि सत्त्वगुण निर्दोषगुण है, इसके प्रभाव से मन अच्छे कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है और मन को शान्त वनाने में सहायता करता है। रज और तम दोषयुक्त कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। यह मन को अशान्त बनाते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को सात्त्विक वनाने में यत्नशील रहे, जिससे उसका जीवन स्वस्थ, शान्त और सुखी वन सके। इससे मनुष्य को प्रज्ञापराध नहीं होता। वह रोगों से सुरक्षित रहता है। यह स्वस्थ-दीर्घ-जीवन की आधारशिला है और सफल मानव-जीवन प्राप्त करने की कुन्जी है।

**मानव प्रकृति का निर्माण**—आयुर्वेदाचार्यों का मत है कि मानव प्रकृति के निर्माण का आधार पूर्वजन्म के कर्मों के साथ-साथ गर्भादानकाल पर क्षेत्र-बीज-गुणसम्पत पर निर्भर होता है, जिसका वर्णन पहले अध्याय में आया है। ऐसे अवसर पर शारीरिक दोषों अर्थात् वात, पित्त और कफ तथा मानसिक गुणों सत्त्व, रज और तम, इन दोनों की जैसी स्थिति होगी, वैसी ही प्रकृति का निर्माण होगा। प्रकृति निर्माण के सम्वन्ध में सुश्रुताचार्य का मत है—

**'शुक्र शोणित संयोगे यो भवेत् दोषोत्कटः प्रकृतिर्जायते तेन।'**

अर्थात् वीर्य और रज के मिलनकाल पर, जिस दोष की वहुलता होगी, उसी दोष की प्रकृति वन जायेगी। इस सिद्धान्त के अनुसार वात दोष की बहुलता पर वातिक प्रकृति वनेगी, पित्त दोष की वहुलता पर पैत्तिक प्रकृति बनेगी और कफ दोष की वहुलता पर श्लेष्मिक प्रकृति का निर्माण होगा। दो-दो दोषों की वहुलता पर द्वन्द्वज प्रकृति, जैसे वात-पैत्तिक, वात-श्लैष्मिक और पित्त-श्लैष्मिक प्रकृति बन जायेगी। यदि उस अवसर पर तीनों दोषों की समावस्था होगी, तो समदोष प्रकृति वन जायेगी। प्रकृति निर्माण पर महर्षि चरक का आदेश है—

**"समपित्तानिलकफाः केचिदगर्भादिमानवः।**
**दृश्यन्ते वातलाः केचित्पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा।**
**तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः॥"**—च० सू० ७।३९-४०

अर्थात् कई मानव गर्भाधान के समय से ही समदोष प्रकृति वाले दिखाई देते हैं, कई वातिक, कई पैत्तिक और कई श्लैष्मिक देह प्रकृति वाले दिखाई देते हैं। इनमें

समदोष प्रकृति वाले सदा स्वस्थ रहते हैं। शेष वातल आदि प्रकृति वाले सदा रोगी रहते हैं।

## मन की चंचलता

मन चंचल है और स्वभाव से ही चंचल है। यह क्षणभर भी विश्राम से नहीं रहता, किसी न किसी विषय में फँसा रहता है। इस सम्वन्ध में श्री अर्जुन ने भी, भगवान श्रीकृष्ण से श्री गीताजी में प्रश्न किया है—

**'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवत्‌दृढ़ं।**
**तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥'** —गीता अ० ६।३४

अर्थात् हे कृष्ण ! मन अति चंचल है, मनमानी चलाने वाला अति बलवान है। इसको नियन्त्रण में लाना, वायु के समान एक कठिन काम है, ऐसी मेरी मान्यता है। श्रीकृष्णजी ने इसको स्वीकार भी किया।

मन में जो चंचलता पाई जाती है, वह किसी बाहरी कारण से नहीं, किन्तु मन के ही अपने मानस व्यापार से पाई जाती है, जिसके चार प्रधान कारण हैं—

(१) मन के विषय, (२) मन के गुण, (३) मन के दोष, (४) त्रिगुणात्मक मन का स्वभाव।

**(१) मन के विषय**

**"चिन्त्यं विचार्य्यं ऊह्यं च ध्येयं साङ्कल्प्यमेवच।**
**यत् किञ्चित् मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥"** —च० श० १।२०

(क) **चिन्त्यं**—किसी विषय की कर्त्तव्यता वा अकर्त्तव्यता के रूप में चिन्तन करना।

(ख) **विचार्य्यं**—किसी विषय का ग्राह्य या अग्राह्य के रूप में विचार करना।

(ग) **ऊह्यं**—किसी विषय का सम्भावित वा असम्भावित होने के रूप में तर्क करना।

(घ) **ध्येयं**—किसी विषय के प्रति भावनात्मक रूप में निश्चय का होना, यह उद्देश्य कहलाता है।

(ङ) **साङ्कल्प्यं**—किसी विषय की गुण व दोष के रूप में कल्पना करना।

इसके अतिरिक्त अन्य सब विषय, जो मन के द्वारा जाने जा सकते हैं वह भी मन के विषय कहलाते हैं। इन भिन्न-भिन्न विषयों में लगा रहने के कारण मन चंचल बना रहता है।

**(२) मन के गुण**

**"अणुत्वं च एकत्वं च द्वौगुणौ मनसौ स्मृतौ।"** —च० श० १।१९

अर्थात् अणुत्व और एकत्व मन के दो गुण हैं। अणु का अर्थ है अत्यन्त सूक्ष्मतम

कण, जिसका दूसरा भाग नहीं हो सकता, इसके कारण अत्यन्त लघु और चंचल। अणु होने के कारण मन किसी भी अवयव में आवश्यकता के अनुसार किसी भी समय पहुँच सकता है। इसमें काल और स्थान की कोई बाधा नहीं। अणु का सम-विभाग करना अत्यन्त कठिन है। उदाहरण के लिए, सौ हरे कोमल पत्तों को एक दूसरे के ऊपर परत करके एक ढेर में रखिये, सुंई एक साथ में ही इन सब पत्तों को, एक धक्के से ही छेद कर सकती है। जिस प्रकार सुंई का, एक पत्र से दूसरे पत्र में छेद करने के समय का विभाजन करना असम्भव होगा, उसी प्रकार मन के वेग का समय-विभाजन करना महाकठिन है। दूसरे शब्दों में मन का गतिवेग, प्रकाश से भी अधिक है।

एकत्वं का अर्थ है एक काल में एक ही काम करना अथवा एक समय पर एक ही इन्द्रिय का ज्ञान होना, अथवा इन्द्रिय के साथ एकत्व कर लेना, अथवा एक पुरुष में एक मन का होना। मन जब एक काम में लगा रहता है, तो उसका ध्यान दूसरे काम की ओर नहीं जाता, चाहे वहाँ पर कोई भयंकर दुर्घटना ही क्यों न हो रही हो। ऐसी बात एकत्व गुण के कारण होती है। परन्तु लगता ऐसा है कि यह एक काल में नहीं होता, भिन्न-भिन्न कालों में होता है और सभी इन्द्रियों के साथ एक साथ मिलकर होता है। अणुत्वं और एकत्वं के कारण ऐसा मालूम होना स्वाभाविक ही है। मन क्षणमात्र के लिए भी स्थिर नहीं रहता। इसकी चंचलता का यह भी एक कारण है।

**(३) मन के दोष**

**"रजस्तमश्च मनसौ दोषौ।"** —चरकसंहिता

अर्थात् रज और तम मन के दो दोष हैं। मन में जो भाँति-भाँति के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, उनका मूल कारण मन के दोष हैं। इन दोषों के कारण पुरुष राग-द्वेषात्मक सकाम कर्मों में दिन-रात लगा रहता है। मन में दोषयुक्त मलिन विचार उत्पन्न होते रहते हैं जो मनुष्य को अवनति की ओर ले जाकर पतन का कारण बन जाते हैं। जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चित्तोद्वेग, भय और हर्षादि। इनसे मन अशान्त और चंचल बना रहता है। मन की चंचलता का यह भी एक प्रधान कारण है।

**(४) मन का त्रिगुणात्मक स्वभाव**—मन में तीन प्राकृत गुण रहते हैं—सत्त्व, रज और तम। इनके प्रभाव से मनुष्य किसी न किसी काम में लगा रहता है। यह गुण क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं। एक समय पर एक गुण का प्रभाव मन पर विशेष रूप से रहता है, तदनुसार कार्य में प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसे समय पर शेष गुणों का प्रभाव गौण रूप में होता है। गुणों के क्षण-क्षण में बदलते रहने से मन की दशा भी बदलती रहती हैं मन भिन्न-भिन्न कार्यों की ओर क्षण-क्षण में प्रवृत्त होता रहता है। इससे मन चंचल बना रहता है।

उपर्युक्त चार कारणों से मन चंचल बना रहता है। चंचलता की भरमार से मन का दर्पण धुंधला बन जाता है, जैसे लहरों की भरमार से समुद्र की सतह धुँधली बन जाती है और साफ दिखाई नहीं देती। चंचलता के प्रागलभ्य से यह बुद्धि को भी अपने साथ घसीटकर ले जाता है, जैसे समुद्र में वायु अपनी शक्तिमान चालों से नौका को, जहाँ चाहे वहाँ ले जा सकता है, चाहे नौका डूब ही क्यों न जाए। मन के वशीभूत रहने से मनुष्य सुखी नहीं रह सकता। अनियन्त्रित मन किसी भी समय, कहीं पर भी, कोई न कोई उपद्रव मचा सकता है। इससे मनुष्य की उन्नति तो दूर रही, उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता है।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है कि मन में तीन गुण रहते हैं, उनमें सत्त्वगुण पवित्र होता है। निर्दोष होने के कारण मन शुद्ध रहता है। परिणामस्वरूप मन में शुद्ध विचार उत्पन्न होते रहते हैं, जो गुणवान और लाभदायक होते हैं। परन्तु मन दिन रात इन्द्रियों के संचालन में लगा रहता है। इन्द्रियों के सम्पर्क से मन में रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि हो जाती है और सत्त्वगुण घट जाता है, मन पवित्रता खोकर दूषित हो जाता है। अपवित्र मन को मानस कहते हैं, मानस ही रज और तम की बहुलता से चंचल बन जाता है।

मनुष्य के रोगग्रस्त होने का कारण भी मन की यही चंचल वृत्ति है। स्वास्थ्य पर इसका अनिष्ट प्रभाव पड़ता है, इसके कारण मनुष्य अपथ्य कर बैठता है। जो द्रव्य सेवन के लिए निषिद्ध होता है, उसी का सेवन कर डालता है। जो काम अप्रशस्त होता है, वही कर डालता है। जो नियम सेवन करने योग्य हैं, उनकी अवहेलना कराता है, यहाँ तक कि मन अपनी मनमानी से रोगाक्रान्त होने पर भी पथ्य पर रहना नहीं चाहता। पथ्य से रोगमुक्ति शीघ्र हो सकती थी, परन्तु इसके विरुद्ध रोगावस्था में भी अपथ्य कराके, साध्यरोग को असाध्यावस्था में ले जाता है। इस प्रकार रोग बढ़ता ही चला जाता है, हटने का नाम नहीं लेता। यही कारण है कि रोगियों की संख्या बढ़ती चली जा रही है। ऐसे आचरण से स्वस्थ-दीर्घ जीवन का स्वप्न पूरा नहीं हो सकता।

परमशक्तिमान परमात्मा ने मनुष्य के बचाव और उन्नति के लिए मन के साथ और भी अधिक शक्तिमान तत्त्व उत्पन्न कर रखे हैं, जिनकी सहायता से मन को अपनी मनमानी करने से रोका जा सकता है। वह शक्तियाँ हैं बुद्धि और जीवात्मा की। मन को बुद्धि से सुधारा जा सकता है और इसको नियमन में लाया जा सकता है, जैसे घोड़े को सारथि सुधाकर नियमन में ला सकता है और आवश्यकतानुसार अपना मनचाहा काम बना सकता है। बुद्धिमान मनुष्य ऐसा ही करते हैं। वह मन को बुद्धि के नियमन में लाकर अपना जीवन सुखी और उन्नत बनाते हैं। यदि ऐसी व्यवस्था न होती, तो मन अपने उपद्रवों से सुखी जीवन की आशा ही समाप्त कर डालता। सुधाया हुआ मन नियमबद्ध रह सकता है, मिथ्या-

आहार-विहार नहीं करा सकता है। फलस्वरूप मनुष्य रोगों से निर्मुक्त रह सकता है। स्थिर मन रोगों की रामबाण औषधि है। सुधाये हुए मन से मनुष्य का आचार-विचार सुधर जाता है मनुष्य सदाचारी बन जाता, वह अपने सदाचार पालन से परोपकारी बन जाता है और स्वयं भी प्रनन्नचित्त रहता है।

**दो प्रकार के करण**

शरीर में दो प्रकार के करण हैं। इनकी सहायता से मन शरीर का सम्पूर्ण व्यवहार धर्म चला रहा है। यह हैं वाह्य करण और आभ्यन्तरिक करण।

**बाह्य करण**—बाह्यकरण में दस इन्द्रियाँ होती हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियाँ कान, त्वक, चक्षु, रसना और नाक हैं। इनके विषय क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। कर्मेन्द्रियाँ हाथ, पाँव, गुदा, उपस्थ और वाक् हैं। बाह्यकरण की सहायता से मन सम्पूर्ण काम करता है, विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है और आत्मा की वृत्ति लाता है। इसलिए मन साधन अर्थात् करण है आत्मा का।

**आभ्यन्तरिक करण**—मन की वृत्तियों के स्वरूप में अन्तर होता है, इसलिए वृत्तियों की दृष्टि से मन के चार नाम हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। मन में मनन, बुद्धि में निर्णय, अहंकार में अपना पराया भाव और चित्त में सुख-दुःख आदि का चिन्तन होता है। इसी का नाम अन्तःकरण है, इसको मानस चतुष्ट्य भी कहते हैं। सम्पूर्ण अन्तःकरण को मन शब्द से ग्रहण भी किया जाता है और मन को अन्तःकरण से। मन के अधीन दोनों प्रकार के बाह्य और आभ्यन्तरिक-करणों की क्रियायें रहती हैं, अतः मन भी एक इन्द्रिय है, इसी कारण मन को उभयेन्द्रिय, अतीन्द्रिय अथवा अन्तर-इन्द्रिय भी कहते हैं। अन्तरेन्द्रिय होने के कारण इसको अन्तःकरण कहा जाता है, क्योंकि इन्द्रिय द्वारा ग्रहीत विषय को यह मन, अन्तर्गत भाव से आत्मा को पहुँचाता है और अन्तर्गत भाव से ही आत्मा का मिलाप परमात्मा से भी कराता है। अन्तःकरण को द्वारी या द्वार-रक्षक कहते हैं। यह भूत, भविष्यत और वर्तमान के तीनों कालों में काम करता है। आभ्यन्तरिक व्यवहार की सिद्धि के सभी साधनों को अन्तःकरण कहते हैं। इनमें आध्यात्मिक द्रव्य भी सम्मिलित हैं।

**अध्यात्मिक द्रव्य—**

**"मनो मनोर्था बुद्धिरात्मा च इत्यध्तात्म द्रव्य गुण संग्रहः।"**

—च० सू० ८।१३

अर्थात् मन, मनोरथ, बुद्धि और आत्मा यह अध्यात्म द्रव्य कहलाते हैं। मानसिक शरीर इन ही अध्यात्मिक द्रव्यों से बना है।

**मन के लक्षण**

महर्षि चरक का आदेश—

**"लक्षणं मनसो ज्ञानं ज्ञानस्याभावो भाव एव च।**
**सति आत्म्येन्द्रियार्थानां सन्नि कर्षान्न वर्तते।**
**वैवृत्यान्मनसौ ज्ञानं सानिध्यात्तच्च वर्तते॥"** —च० श० अ० १

अर्थात् मन के दो लक्षण हैं—ज्ञान का भाव और ज्ञान का अभाव। मन का सम्पर्क जब आत्मा, इन्द्रिय और विषयों के साथ होता है तब ज्ञान होता है। जब यह सम्पर्क नहीं होता, तब ज्ञान नहीं होता। दूसरे शब्दों में मन के सहयोग से कर्मेन्द्रियाँ अपने कर्म कर सकती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषय ग्रहण कर सकती हैं। मन के सहयोग बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि मन आत्मज्ञान का साधन है। यह इन्द्रियों के अर्थों का आत्मा से और आत्मा का परमात्मा से मिलाप कराता है।

जीवात्मा की चेतनता को मन प्रकट करता है। यह संसार के किसी भी पदार्थ का ज्ञान आत्मा को कराता है और क्रियाशीलता लाता है, कारण कि इसका निकटतम सम्बन्ध जीवात्मा के साथ होता है। वेदान्त दर्शन में मन का आश्रय, आत्मा में माना गया है जो चेतनावान है, परन्तु विभु होने के कारण आत्मा निष्क्रिय होता है। क्रियाशीलता मन का अपना प्राकृतिक गुण है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति मूलप्रकृति से हुई है जो क्रियाशील होती है। यद्यपि प्रकृति जड़ है, फिर भी यह क्रियाशीलता आत्मा से ही प्रकृति को प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार विद्युत के सहयोग से मशीनें आदि यन्त्र क्रियाशील हो जाते हैं उसी प्रकार मन भी आत्मा के चेतन बिम्ब के संयोग से क्रियाशील हो जाता है और चैतन्य भाव को प्राप्त हो जाता है। इन दोनों कारणों से मन, शरीर के धारण में कर्मों के आरम्भ का कारण बन जाता है और मन को जातिस्मरता भी प्राप्त हो जाती है।

**'मनश्चेतयिता परः'**—अर्थात् मन से ज्ञान का उदय होता है। जिस प्रकार शीशे के टुकड़े पर सूर्य का बिम्ब पड़कर सूर्य का प्रकाश अधिक फैल जाता है उसी प्रकार चेतन आत्मा की चेतनता शरीर, इन्द्रिय और मन के संयोग से ही प्रकट होती है, स्वतन्त्र रूप से नहीं होती। यदि कारण अयोग्य हों अथवा विकृत हों तो ज्ञान नहीं होता। मन से ज्ञान का उदय होता है। इसी रहस्य को पाकर स्वामी रामकृष्ण परमहंस महाराज ने शुद्ध मन को आत्मा कहा है।

चरक महर्षि का निम्न सूत्र भी देखें—

**"इन्द्रियेन इन्द्रियार्थो हि समनस्केन ग्रह्यते।**
**कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषताऽथवा॥"** —च० श० अ० १।२२

अर्थात् जब कोई इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करती है तो वह मनपूर्वक ग्रहण कर लेती है। मन से कल्पना की जाती है, तब वस्तु का ज्ञान मन को हो जाता है।

यह ज्ञान कई प्रकार के साधनों और यन्त्रों की सहायता से प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए एक द्रव्य मधु शब्द को लीजिये। कर्ण इन्द्रिय अर्थात् कान अपने विषय मधु के शब्द मात्र को ग्रहण करता है। यह शब्द कर्णनाड़ी के द्वारा मस्तिष्क के शब्दकेन्द्र में पहुँच जाता है। वहाँ यह शब्द प्राप्त किया जाता है। अब मनोवहनाड़ी द्वारा मन वहाँ पर पहुँच जाता है फिर शब्दकेन्द्र के यन्त्रों की सहायता से शब्द के गुण-दोष, आकार-प्रकार की कल्पना हो जाती है। अब मन को कान के विषय का ज्ञान हो जाता है अर्थात् मधु का ज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान का निश्चयात्मक निर्णय करने के लिए बुद्धि प्रवृत्त हो जाती है, उसके द्वारा यह ज्ञान जीवात्मा को प्राप्त हो जाता है। अतः मन ज्ञान का श्रेष्ठ साधन है। जिस प्रकार दीपक से वर्ति स्नेह घी-तैलादि चूसकर अग्नि देती है, अग्नि से प्रकाश होता है, उसी प्रकार वाह्य कर्ण विषय को लेकर मन को देता है, मन इसकी कल्पना अपने कार्यालय मस्तिष्क में करके बुद्धि को निर्णय करने के लिए देता है। निर्णय करने के पश्चात् विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए अहंकार को सौंपा जाता है, अहंकार इसको कार्यरूप में परिणत करता है। इस प्रकार से संसार का व्यवहार धर्म चलता रहता है। कुछ कर्मफल अवशेष रहते हैं। यह प्रारब्ध बन जाता है। इसका फल दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है, यही कर्मफल वन्धन के कारण बन जाते हैं, इनके कारण आवागमन के चक्र में घूमना पड़ता है।

**मन के कर्म**—महर्षि चरक के मतानुसार मन के कर्म निम्नसूत्र में अध्ययन कीजिए—

**"इन्द्रियाभिनिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः ।**
**ऊहो विचारश्च ततः बुद्धि प्रवर्तते ।।"** —च० श० १

अर्थात् मन, तर्क और विचार के द्वारा इन्द्रियों को हानिकारक विषयों से दूर रखता है और अपने को भी धृति की सहायता से अनिष्ट विषयों में फँस जाने से बचाता है अर्थात् अपने को नियन्त्रण में रखते हुए विपयों में नहीं फँसाता।

**मन के कार्यस्तर**—मन के तीन प्रधान-कार्यस्तर हैं—

१. **ज्ञान-प्रधान कार्यस्तर**—बृहत् मस्तिष्क के ललाट खण्ड में बुद्धि, धृति, स्मृति और विवेक आदि के केन्द्र हैं। इन केन्द्रों के यन्त्रों की सहायता से मनु ज्ञान-प्रधान कार्यों का सम्पादन करता है।

२. **भाव-प्रधान कार्यस्तर**—मध्यमस्तिष्क के आज्ञाखण्ड के निचले क्षेत्र में काम, क्रोध, चिन्ता, शोक और भयादि भावों के केन्द्र हैं। इन केन्द्रों के यन्त्रों की सहायता से मन, भाव-प्रधान कार्यों का सम्पादन करता है।

३. **चेष्टा प्रधान कार्यस्तर**—भावों का शरीर पर जो प्रभाव पड़ता है, उसी फलस्वरूप मन का चेष्टा-प्रधान व्यापार है।

वास्तव में मन ही शरीर का सम्पूर्ण व्यवहार चला रहा है। इसके लिए मन

को भिन्न-भिन्न कर्म करने पड़ते हैं, जिनके अन्तर्गत उत्कृष्टतम कर्मों से लेकर निकृष्टतम कर्म सम्मिलित हैं। भिन्न-भिन्न कर्मों के कारण मन के भिन्न-भिन्न नाम भी रखे गये हैं, जैसे—बुद्धि, अहंकार, इच्छा, अतीन्द्रिय, देहान्तरगामी आदि-आदि।

अमरकोश में मन के पर्याय शब्द निम्न हैं—

**"चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृत् मानसं मनः।"**

अर्थात् चित्त, चेतस, हृदय, स्वान्त, हृत्, मानस—यह मन के पर्याय शब्द हैं। मन के यह सभी नाम उसके भिन्न-भिन्न कर्मों के कारण ही रखे गये हैं।

## पूर्वजन्म और मोक्ष

**"मन एव कारणं मनुष्यानां मोक्षबन्धयोः।**

अर्थात् पुनर्जन्म और मोक्ष का कारण मन है। मृत्यु कहते हैं, पाँच महाभूतों से बने हुए स्थूल शरीर के बदल जाने को या उसके न रहने को। सूक्ष्म शरीर बदलता नहीं। आत्मा, स्थूल शरीर को छोड़कर, दूसरे शरीर को धारण करती है।

चरक महर्षि का आदेश है—

**"भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।"**

—च० श० २।३१

अर्थात् वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की तन्मात्राओं से बने हुए सूक्ष्म शरीर के सहित मन और जीवात्मा, अपने कर्मफल के अनुसार एक देह को छोड़कर दूसरे देह में जन्म लेती है। जीवात्मा के शरीर को छोड़कर निकल जाने को, मृत्यु कहते हैं और एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करने को, देहान्तरगमन कहते हैं। देहान्तरगमन का सिलसिला तब तक चालू रहता है जब तक कर्मफल का भोग समाप्त नहीं हो जाता। इसी का नाम पुनर्जन्म है। कर्मफल का भोग समाप्त होने पर, मनुष्य का पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है। तब मोक्ष प्राप्त हो जाती है। चरक महर्षि का आदेश सुनिये—

**"रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयं अनन्तवान्।**
**ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धये निवर्तते॥"** —च० श० २।३६

अर्थात् रजोगुण और तमोगुण से युक्त रागद्वेषात्मक सकाम कर्म करने से, समाप्त न होने वाला, कर्मफलों का भोग भोगने के लिए, पुनर्जन्म का बन्धन लगा रहता है। जब सत्त्वगुण मन में बढ़ जाता है तब रज और तम घटकर निर्दोष कर्म किये जाते हैं उनके फलस्वरूप निष्काम कर्मों को करते हुए कर्मफलों का अस्तित्व नहीं होता अतः पुनर्जन्म का बन्धन टूट जाता है। फिर मोक्ष प्राप्त हो जाती है क्योंकि निष्काम कर्मों का फल भोगना नहीं पड़ता है।

यह मन की ही विषय वासनाओं का व्यापार है जिसके कारण मनुष्य को **आवागमन के चक्र में घूमना पड़ता है। आसक्त मन मायाजाल में फँसाता है और**

वन्धन में डालता है। परन्तु अनासक्त मन शान्ति लाता है और मुक्ति दिलाता है। जन्म-मरण, पुनर्जन्म और मोक्ष, इन सबों की रूपरेखा मन के आधीन है।

**बुद्धि**

मन के चिन्तन, विचार, तर्क और संकल्प विकल्पादि के पश्चात् जब निर्णयात्मक पहचान हो जाती है, तो मन की वह वृत्ति बुद्धि कहलाती है। बुद्धि की वृत्ति में निश्चय होता है। 'बुद्धि निश्चयात्मिका' अर्थात् दृढ़ निर्णय करने का नाम बुद्धि है। यह निर्णय सत्यता के आधार पर अटल फैसला होता है। यथार्थ ज्ञान के आधार पर संशयरहित होता है। जैसे कोई विचार हो, तो बुद्धि उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिए अपना निर्णय देती है कि "यह करना है और इस प्रकार से करना है।" तो उसके अनुसार कार्य करने से कार्य में सफलता मिल जाती है, क्योंकि निर्णय दोषरहित, यथार्थ ज्ञान के आधार पर होता है। बुद्धि के द्वारा मनुष्य सब बातों का ज्ञाता हो जाता है।

अ० प०

अन्तःकरण में मन से परे बुद्धि है, बुद्धि ही मन की सभी इच्छाओं के गुण-दोषों की छानवीन करके अपना निर्णय देती है। तदनुसार आचरण करने से मनुष्य को लाभ प्राप्त हो जाता है। यदि मनुष्य अपने पुरुषार्थ से मन को बुद्धि का अनुगामी वना सके तो वह उन्नति के पथ पर आगे वढ़ता जायेगा और कालान्तर पर सफल मानव-जीवन का लक्ष्य प्राप्त कर सकेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं।

चेतन सृष्टि में मनुष्य-योनि सभी योनियों से श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि मनुष्य को बुद्धि प्रदान की गई है, जिसके प्रसाद से इसको संसार में सभी प्राणियों पर प्रभुत्व प्राप्त है। नीतिशास्त्र का वचन है—

"आहार निद्राभय मैथुनं च सामान्यमेतद पशुभिः नराणाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनः पशुभिः समाना॥"

अर्थात् मनुष्य में एक विशेष गुण बुद्धि पाई जाती है जो पशुओं में नहीं होती है। सामान्य गुण जैसे भूख, प्यास, निद्रा, भय और काम इच्छा, यह दोनों में एक समान पाये जाते हैं। मनुष्य अपना व्यवहार धर्मसंसार में बुद्धि के प्रसाद से अपने हित और उन्नति की दिशा में चला सकता है। पूर्वजन्म के प्रताप से यह मनुष्यजन्म दुर्लभता से मिल जाता है, तो इस जन्म को सफल वनाना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। अमूल्य समय का एक-एक क्षण, व्यर्थ में व्यय नहीं होना चाहिए क्योंकि इस हानि को किसी भी कीमत पर पूरा नहीं किया जा सकता।

ब्रह्माण्ड में जितने भी लोक हैं उनमें केवल पृथ्वी ही ऐसा लोक है, जहाँ मनुष्य कर्म कर सकता है। अतः पृथ्वी को कर्मभूमि भी कहते हैं। बुद्धिमान और कर्मठ व्यक्ति के लिए यह लोक सुख और शान्तिदायक क्षेत्र है, अपना जीवन सफल वनाने का एक साधन है। जो मनुष्य अपनी बुद्धि को उच्चकोटि के विद्याभ्यास से विकसित करता है और समय का भरपूर लाभ उठाते हुए जागरूक होकर

दृढ़ संकल्पयुक्त पुरुषकार से काम करता है, वह नि:सन्देह संसार के प्रत्येक कार्य-विभाग में सफल रह सकता है और अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। यदि मनुष्य दु:ख भोगता है, तो वह अपनी मूर्खता से भोगता है। आलसी और निष्कर्मी बनकर भोगता है, कर्म करने में जी-चुराने से भोगता है। ऐसी स्थिति मनुष्य के लिए हानिप्रद है। यह अवनति और विनाश की ओर ले जाने वाली है, इससे बचना चाहिए।

बुद्धि को विकसित करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इसको जितना भी विकसित किया जाये, उतना ही अच्छा है। ज्ञान के भण्डार में जितनी भी वृद्धि हो जाए, उतना ही अधिक लाभ मिल सकता है और उन्नति हो सकती है। कहा भी है—

"यत्रास्ति गतिर्वायुरश्मीनां च विवस्वतः।
तत्राऽपि प्रविश्यत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा ॥

अर्थात् जहाँ वायु का गमन असम्भव है, जहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँच सकतीं, वहाँ बुद्धिमानों की बुद्धि ही पहुँच सकती है। परन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि बुद्धि का प्रयोग निर्माण कार्यों के सम्पादन की ओर मोड़ लेना चाहिए ताकि अपने कल्याण के साथ-साथ विश्व का भी कल्याण हो सके। इसी से जनता-जर्नादन की सेवा हो सकती है। बुद्धि को अहित और विनाशकारी कार्यों के सम्पादन में नहीं लगाना चाहिए। इसका परिणाम अनिष्ट है, इससे अपने मन की शान्ति भी भंग हो जाती है।

बुद्धि की सहायता से कठिन से कठिनतम कार्य भी बन जाते हैं। नये-नये अन्वेषण किये जाते हैं, जिनके द्वारा नये-नये आविष्कार होते रहते हैं, असम्भव को सम्भव बनाया जा सकता है। बुद्धि के विकास का मोड़ निर्माण कार्यों में लगाने से अपना ही नहीं दूसरों का भी कल्याण हो सकता है। यही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए और उन कार्यों की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए जिनसे लोक का कल्याण हो सके।

## चित्त

मन अचेतन (जड़) है। जब यह आत्मा के संयोग से चेतनावान जैसा कार्य करने लगता है तो मन की उस वृत्ति का नाम चित्त है। मन की चेतन अवस्था का नाम चित्त है। योगदर्शन में मन को चित्त कहा जाता है। चक्रीय शरीर में चित्त का स्थान मूलाधार चक्र पर है, जहाँ यह कुण्डलिनी शक्ति के रूप में स्थित है। साधारण मानव शरीर में कुण्डलिनी शक्ति का स्थान इसी चक्र को माना गया है। यही हमारी मानसिक और स्थूल शक्तियों का भण्डारगृह है। यह मन के अचेतन कार्यस्तर का कार्यक्षेत्र है।

मन में उत्पन्न होने वाली इच्छाओं के तूफान को चित्त अपने में समाता जाता

है। यह आकाश की भाँति विशाल और महान है। अतः इसको चिदाकाश भी कहते हैं। चिदाकाश एक भण्डारगृह के समान है, जहाँ जन्म-जन्मान्तर की वासनाएँ, इच्छाएँ और सस्कारादि सूक्ष्म, स्थिर और अव्यक्त अवस्था में दबी पड़ी रहती हैं। यह इच्छायें सभी प्रकार की होती हैं—सार्थक, निरर्थक और हानिकारक।

चित्त का विषय है स्मृति। चिदाकाश में पड़ी सभी प्रकार की इच्छाओं और घटनाओं का यह स्मृतिकोश है। यहाँपर सभी प्रकार की इच्छाओं का चिन्तन होता रहता है। स्मरणशक्ति की तीक्ष्णता और विशालता चित्त की शुद्धि पर निर्भर करती है। चित्त जितना शुद्ध होगा, स्मरणशक्ति भी उतनी ही तीक्ष्ण और विशाल होगी। चित्त की शुद्धि की निर्भरता मन की शुद्धि पर होती है। मन जब निर्मल बन जाता है तो चित्त भी शुद्ध हो जाता है।

मन सभी इन्द्रियों का का संचालन करता है। यह व्यापार चित्तवृत्तियों के द्वारा होता है। इन संस्कारों की जानकारी कुण्डलिनी शक्ति रूपा चित्त के द्वारा मन को प्राप्त होती है। फिर इसका ज्ञान मन के द्वारा जीवात्मा को प्राप्त हो जाता है।

यह अतृप्त और अनन्त वासनायें मन को अशान्त, चंचल और मलिन बना देती हैं। मन जैसा देखता, सोचता और अनुभव करता है, वैसा ही यह बनता जाता है। मन के चंचल रहने से अर्थात् विषयभोगों में लिप्त रहने से, जीवात्मा अपने निज स्वरूप को भूल जाता है। जब तक चित्त को निर्मल और शान्त नहीं बनाया जाता, तब तक चित्त की सतह पर आत्मतत्त्व (जीवात्मा) की झलक नहीं मिल सकती। चित्त की निर्मलता, मन की एकाग्रता से सम्भव हो जाती है, तब मन चंचलशून्य होकर शुद्ध हो जाता है।

मन के सम्पूर्ण व्यापार को चित्तवृत्ति कहा जाता है। मन को जब एकाग्रता आ जाती है, तो चित्तवृत्तियों का व्यापार अवरुद्ध हो जाता है, इसी को चित्तवृत्ति निरोध कहते हैं। शान्ति अर्थात् मन की प्रसन्नता, चित्तवृत्ति निरोध से प्राप्त हो जाती है। इसी को योग कहते हैं। योग एक साधना है, जिसके द्वारा मन की एकाग्रता आ जाती है अतः चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। इससे मन अन्तर्गामी होकर आत्मतत्त्व में अवस्थित हो जाता है। आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए जन्मजन्मान्तरों के संस्कारों को चित्त पर से हटाना होता है। मन में से राजसिक और तामसिक वृत्तियों को हटाकर इसको सात्त्विक बनाना होता है। सात्त्विक गुण मन को निर्मल और पारदर्शक बनाते हैं। समत्व योग और उद्वेगों का न होना ही मन को शान्ति प्रदान करता है। मन के शुद्ध होने से चित्त शुद्ध हो जाता है, अन्यथा नहीं।

### अहंकार

मन की उत्पत्ति सांख्य शास्त्र के मत के अनुसार त्रिगुणात्मक अहंकार से हुई

है, अत: अहंकार ही मन है । 'कारणानुरूपं कार्यं भवति' । यह अहंकार ही है जो मन स्वरूप से सभी काम करता है । ऐसे अवसर पर मन अपने को भौतिक शरीर मानकर काम करने लगता है । मन जब भौतिक शरीर और इन्द्रियों का संचालन करने लगता है, तब यह इच्छा कहलाती है ।

बुद्धि के द्वारा विचार का निर्णय करने के पश्चात् अहंकार गतिशील हो जाता है और विचार को कार्यरूप में परिणत करता है, इस प्रकार से काम बनते जाते हैं और संसार का व्यवहार धर्म चलता रहता है । यदि अहंकार न होता, तो कोई भी विचार कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता, इसके बिना सभी काम ठप्प होकर रह जाते ।

अहंकार में 'स्व' और 'पर' अर्थात् अपना और पराया भाव से व्यवहार होता रहता है । मनुष्य में अहंभाव की जो विभूति है, उसी से संसार का सम्पूर्ण व्यवहार धर्म चलता रहता है । यदि ममत्व न हो, तो मन, बुद्धि और चित्त की सारी दौड़-धूप निष्फल होकर रह सकती है । अहंकार के द्वारा ही मनुष्य विचारों को कार्य-रूप में परिणत करके विद्या, यश, मान, नाम और धन कमाता है, परन्तु इन उपलब्धियों पर घमण्ड नहीं करना चाहिए । विनयी व्यक्ति में यह बातें घमण्ड उत्पन्न नहीं करती । इनका अभिमान उसको अवश्य हो सकता है, परन्तु इनका गर्व वह अपने मन में ही रखता है । वह अपनी गौरवता का घमण्ड बाहर प्रकट नहीं करता । वास्तव में ममत्व का क्षेत्र विशाल और आदर्शनीय होना चाहिए । इतना विशाल कि इसमें सारा ब्रह्माण्ड समा जाये, ऐसा सम्भव होने से ममत्व को समत्व में परिणत किया जा सकता है और विश्व-कल्याण के लिए काम किया जा सकता है । ऐसा अहंकार आदर्शनीय है और गौरवतावर्द्धक भी । मनुष्य को अपनी गौरवतावर्द्धन के लिए काम करना चाहिए ।

आत्मा चेतन है और अमर भी, शरीर जड़ है और नाशवान भी । चेतन को जड़ पर अहंकार नहीं करना चाहिए, इससे दुःख प्राप्त होता है । अहंकार पर जब कभी ठेस पहुँचती है, तो मन की शान्ति भंग हो जाती है, तब दुःख हो जाता है । लगभग ९० प्रतिशत दुःख अहंकार पर ठेस पहुँचने से प्राप्त होता है । दुःखों का एक प्रधान कारण अहंकार माना गया है । अहंकार से बचना चाहिए । अहंकार नहीं करना चाहिए ।

हमारे प्राचीन ऋषि अपनी चेतन सत्ता को सर्वव्यापक महाचेतन सत्ता के साथ मिलाकर जीवन निर्वाह किया करते थे । वह 'अहंब्रह्मोऽस्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, 'तत्त्वमसि' अर्थात् तुम वही ब्रह्म हो । इन महावाक्यों पर चलते थे और सभी प्राणियों के साथ प्रेमभाव से व्यवहार किया करते थे, सभी एक समान भाव से रहा करते थे । वह धनसम्पदा पर अभिमान नहीं करते थे । वह 'ईशावास्यमिदं सर्वं' समझकर इसका उपभोग मिल-जुलकर किया करते थे । वह एक समान भाव

से परस्पर व्यवहार चलाते थे। अहंकार ऐसा होना चाहिए, जिससे मानव की गौरवता बढ़े और यह गौरवता, दूसरों के साथ समानभाव व्यवहार करने से प्राप्त हो सकती है।

**मन का स्थान**

सभी दर्शनशास्त्रों ने मन के अस्तित्व को स्वीकार किया है और एक कण्ठ होकर घोषणा की है कि मन के सहयोग के बिना न कर्मेन्द्रियाँ अपना काम कर सकती हैं और न ही ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर सकती हैं, चाहे इन्द्रियाँ, आत्मा और इन्द्रियार्थ उपस्थित भी क्यों न हों, मन के अस्तित्व का प्रमाण चरक महर्षि के निम्न सूत्र से मिलता है—

**"सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।**
**लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥** —च० सूत्र०

अर्थात् मन, आत्मा और शरीर यह जीवन के तीन स्तम्भ हैं। आयुर्वेद विज्ञान के अनुसार इन तीनों स्तम्भों–मन, शरीर और आत्मा के संयोग से बनी हुई आयु की रक्षा करना अभिप्रेत है, इसीलिए आयुर्वेद में मानसिक रोग विज्ञान और शारीरिक रोग विज्ञान की दो प्रमुख शाखायें विस्तृत रूप से प्रचलित हैं, ताकि शरीर के रोगाक्रान्त होने की दशा में मन और शरीर को रोगमुक्ति दिलाई जा सके। इससे बढ़कर मनके अस्तित्व का प्रमाण और क्या हो सकता है।

मन का स्थान नियुक्त करने के लिए हमें निम्न लिखी हुई बातों पर ध्यान रखते हुए विचारपूर्वक निर्णय लेना है—

(अ) शरीर का सम्पूर्ण अन्तर्बहि व्यापार मन चला रहा है और मन के द्वारा ही आत्मा को इसकी जानकारी प्राप्त हो जाती है, क्योंकि मन साधन है जीवात्मा का। जीवात्मा इसी यन्त्र के द्वारा शरीर का व्यवहार चला रही है और स्वयं साक्षी रूप से शरीर में रहती हुई इसका निरीक्षण कर रही है।

(आ) चेतन द्रव्यों में चेतन धातु का संयोग, जीवात्मा और मन के रूप में एक साथ ही होता है। देहान्तर गमन पर भी इनका संयोग एक साथ ही होता है। मन आश्रित रहता है जीवात्मा के।

(इ) शरीर का समस्त व्यापार मन चला रहा है, इसके लिए मन को भिन्न-भिन्न कर्म करने पड़ते हैं। इन्हीं भिन्न-भिन्न कर्मों के आधार पर मन के विविध नाम रखे गए हैं। जैसे बुद्धि, चित्त, अहंकार, इच्छा, अन्तरेन्द्रिय, देहान्तरगामी आदि-आदि। यह मन के ही विविध नाम हैं।

(ई) अमर कोष में मन के पर्यायवाचक शब्दों में हृदय भी एक शब्द है। जैसे—

**"चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृत मानसं मनः।"** —अमरकोष

अर्थात् चित्त, चेतस्, हृदय, स्वान्त, हृत, मानस और मन परस्पर पर्यायवाचक

शब्द हैं।

(उ) बहुत से आचार्य हृदय शब्द से उरोहृदय (रक्तवाही हृदय) के साथ-साथ शिरोहृदय (मस्तिष्क) का अर्थ भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि आयुर्वेद विज्ञान में शिरोहृदय को सर्वेन्द्रियाधिष्ठान कहा जाता है, जिसका अर्थ है सभी इन्द्रियों का केन्द्रीय स्थान।

आयुर्वेद जीवनशास्त्र है, यह भौतिक और अध्यात्म शास्त्र का मिला-जुला शास्त्र है। यह रचना शरीर और क्रिया शरीर के आधार पर अपनी स्वतन्त्र विचारधारा रखता है। शरीर में मन के स्थान के सम्बन्ध में यह तीन स्थानों का निर्देश करता है—

(i) शिरोहृदय (मस्तिष्क), (ii) उरोहृदय (रक्तवाही हृदय)
(iii) सम्पूर्ण शरीर !

**(i) शिरोहृदय मन का स्थान होने के सम्बन्ध में प्रमाण—**

**(१) महर्षि चरक का आदेश**

**'प्राणाः प्राणभृतां यत्राश्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।**
**यदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते ॥'** —च० महर्षि

अर्थात् जिस अवयव में प्राणियों के प्राण रहते हैं, जिसके आश्रित सभी इन्द्रियाँ रहती हैं, जो शरीर के सम्पूर्ण अंगों में उत्तम अंग है, उसको शिरोहृदय अर्थात् मस्तिष्क कहते हैं।

**(२) सुश्रुताचार्य का मत—**

**'शिरस्मूलत्वाद् देहेन्द्रियाणाम्।'**

अर्थात् समस्त शरीर और इन्द्रियों का प्रधान मूल अंग शिर (मस्तिष्क) है।

**(३) वाग्भट्टाचार्य का मत—**

**'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमृषयः पुरुषं विदुः मूल प्रहारिणस्तस्माद् रोगात् शीघ्रतरं जयेत्। सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन संश्रिताः तेन तस्योत्तमांगस्य रक्षायामाहतो भवेत्।'**

अर्थात् इस पुरुष का शिर (मूल) ऊपर की ओर है और शाखायें (टांगें आदि) नीचे की ओर हैं, अतः शिर में आक्रमण करने वाले रोगों का प्रतिकार शीघ्र करना चाहिए, क्योंकि इसमें प्राण और इन्द्रियाँ (इनके केन्द्र) स्थित हैं। इस शिर की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए।

**(४) भेलाचार्य का मत—**

**'शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रिय परं मनः।**
**तत्रास्थं तदिधं विषयान् इन्द्रियाणां ॥"** —भेल सं० चि० अ० द०

अर्थात् मन का स्थान शिर और तालू के अन्दर शिरोमस्तिष्क में है। वहाँ इन्द्रियों और विषयों के केन्द्र स्थित हैं।

(५) (अ) **महर्षि चरक का एक और सूत्र अवलोकन करें—**

**'भगवान वायु निचिन्ता प्रणेता च मनसा सर्वेन्द्रियाणामुदयोजकः।'**
अर्थात् प्राकृतवायु मन का संचालक है, मन को विषयों में प्रेरित करता है, विषयों में प्रेरित होने से रोकता है और इन्द्रियों के साथ मिलाप कराता है।

(आ) **हठयोग प्रदीपिका का मत**

**'इन्द्रियाणां मनोनाथः मनोनाथस्तु मारुत्तः।'**
अर्थात् इन्द्रियों का संचालक मन है और मन का संचालक वायु है।

(इ) **महर्षि चरक का एक और आदेश—**

**'उत्साहोच्छ्वासनिःश्वास चेष्टाधातुगति समा।**
**समोमोक्षो गतिमतां वायो कर्माविकारजम्॥'** —च० सू० १८।४९
अर्थात् शरीर का उत्साह, श्वासोच्छ्वास क्रिया, सब प्रकार की ऐच्छिक और अनैच्छिक क्रियायें, धातुओं की निर्माण क्रियायें, मलों की निकास क्रियायें और इनको समावस्था में रखने की क्रियायें तथा शरीर में उत्पन्न होने वाली सभी प्रकार की क्रियायें प्राकृत वायु के कर्म हैं। यही प्राकृत वायु मन का संचालक होकर, उसका ज्ञानवह और कर्मवह व्यापार, वातनाड़ी संस्थान के ज्ञानवह और कर्मवह वातसूत्रों के द्वारा शरीर के प्रत्येक कोष के साथ चला रहा है।

मस्तिष्क इस वातनाड़ी संस्थान का केन्द्रीय स्थान है। इसके ललाट खण्ड में बुद्धि, धृति, स्मृति और विवेक आदि के ज्ञान केन्द्र स्थित हैं। मध्य मस्तिष्क खण्ड में काम, क्रोध, शोक, चिन्ता और भयादि के भावकेन्द्र स्थित हैं। मन अपना व्यापार इन्हीं केन्द्रों के द्वारा चला रहा है। इस व्यापार के सम्पादन में मन को मस्तिष्क में उपस्थित रहना पड़ता है।

(६) **मन की गणना द्रव्यों में आई है। महर्षि चरक का आदेश—**

**'खादीन्यात्मनः कालो दिशश्च द्रव्य संग्रहः।'** —च० सू० अ० १।४८
अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आत्मा, मन, काल और दिशा यह नव-द्रव्यों का संग्रह है। जैसा कि पहले लिखा गया है कि द्रव्यों में गुण और कर्म पाये जाते हैं, मन में भी द्रव्यों के समान ही गुण और कर्म हैं, इसका वर्णन इसी अध्याय में किया गया है। वैसे भी मन को भौतिक ही माना जाता है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति पंचभौतिक अहंकार से हुई है। अतः मस्तिष्क को हम मन का पंचभौतिक स्वरूप कह सकते हैं। परन्तु यह मन नहीं। मन सूक्ष्म अमूर्त दव्य है।

(७) **शिरोभिघात** होने पर मूर्च्छा हो जाती है, उन्मादादि मानसरोग हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शिर और मन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(८) **मेध्य औषधियों** के सेवन से स्मरण शक्ति बढ़ती है जिसका केन्द्र मस्तिष्क में है, यह उदाहरण भी मस्तिष्क और मन के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक है।

(९) **मन के चेतनस्तर** और अर्द्धचेतनस्तर के स्थान मस्तिष्क में है, जहाँ यह उपस्थित रहकर काम में व्यस्त रहता है।

ऊपरोक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए निःसंकोच होकर हम यह कह सकते हैं कि आयुर्वेद विज्ञान की दृष्टि से मन को, यह सम्पूर्ण शारीरिक व्यापार, मस्तिस्क में बैठकर चलाना पड़ता है।

## (II) उरोहृदय (रक्तवाही हृदय) मन का स्थान होने के सम्बन्ध में प्रमाण—

(१) **अध्यात्मवर्गीय द्रव्य**—मन, बुद्धि और आत्मा आदि माने जाते हैं, और अध्यात्म दर्शन सांख्य और योग चेतनहृदय में बुद्धि के साथ, मन का निवास मानते हैं। (यहाँ हृदय से शिरोहृदय का भी ग्रहण हो सकता है।)

(२) **वेदान्त दर्शन** आत्मा में मन का आश्रय मानता है।'

**'हृत्प्रतिष्ठं यदिजरं जर्दाष्ठं, तन्मे मनः शिवशंकल्पमस्तु।'**

अर्थात् जो हृदय में वास करता है, जो जीर्णावस्था को प्राप्त नहीं होता, जिसकी गति की कोई सीमा नहीं है, वह मेरा मन शुभ भावनाओं का उत्पादक हो। (यहाँ हृदय से शिरोहृदय का भी ग्रहण हो सकता है।)

(३) **'सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।'** —श्री गीताजी

श्री गीताजी हृदय में आत्मा (ईश्वर) और मन का निवास कहती हैं। (यहाँ हृदय से······शिरोहृदय का भी ग्रहण हो सकता है।)

(४) **महर्षि चरक का निर्देश**—

**"षडंगमंग विज्ञानं इन्द्रियाण्यर्थ पंचकम्।**
**आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम्॥"** —च० सू० ३०।६

अर्थात् छः अङ्गों से युक्त शरीर, बुद्धि, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय, सगुण आत्मा, मन और मन के विषय, हृदय के आश्रित रहते हैं। आत्मा के प्रधान साधन मन का निवास हृदय में होने से अपने गुणों सहित आत्मा का निवासस्थान भी हृदय में कहा गया है। (यहाँ पर भी इस हृदय से शिरोहृदय को ग्रहण करते हैं, क्योंकि शिर को आयुर्वेद में सर्वेन्द्रियाधिष्ठान कहा गया है। जिसका अर्थ है सभी इन्द्रियों का केन्द्रिय स्थान)

(५) **अष्टांग हृदय का मत**—

**'हृदयं मनसः स्थानमोजसश्चिन्तितस्य च।** —अ० हृ० यू० १२-१५

अर्थात् मन, ओज और मन के अर्थों का स्थान हृदय है। (यहाँ हृदय से शिरो-हृदय का भी ग्रहण हो सकता है।)

(६) **सुश्रुताचार्य का मत**—

**'हृदयं चेतनास्थानं।'** हृदय चेतना का स्थान है। (यहाँ भी शिरोहृदय ग्रहण हो सकता है।)

(७) **'सत्वादि धाम हृदयं स्तनोरः कोष्ठमध्यगम् ।'**

—अष्टांग हृदय० शा० ४

अर्थात् मन आदि का स्थान हृदय है, जो छाती, स्तन और कोष्ठ के मध्य स्थित है। उरोहृदय एक महत्त्वपूर्ण सहकार अंग मस्तिष्क का है, जो इसको पोषक रस से सींचते हुए शक्तिमान बनाए रखता है, जिससे मन कार्य-संचालन के लिए समर्थ बना रहता है । इसके बदले मस्तिष्क अपने वातवह संस्थान के ज्ञानवह और वातवह नाड़ियों द्वारा हृदय को शक्तिमान बनाकर क्रियाशील रखता है। अतः उरोहृदय भी मस्तिष्क के साथ मन की क्रियाओं और विकारों से सम्बन्ध रखता है। वैसे भी सम्पूर्ण शरीर के प्रत्येक कोष तक वात सूत्रों के द्वारा मन का प्रवाही संचार होता रहता है । अतः उरोहृदय भी मन का निवास हो सकता है।

## (III) सम्पूर्ण शरीर मन का स्थान होने के सम्बन्ध में प्रमाण

सम्पूर्ण शरीर मन का अयनभूत और अधिष्ठान है। (च० वि० ५।६) मन का वाहन, वातनाड़ी संस्थानगत प्राकृत वायु के द्वारा होता रहता है, इसका वर्णन पीछे किया गया है। वातनाड़ी संस्थान के ज्ञानवह और मनोवह वातसूत्र शरीर के प्रत्येक कोष तक फैले हुए हैं, जिनके द्वारा मन का संचालन होकर शरीर का सम्पूर्ण ज्ञानवह और कर्मवह व्यापार सम्पादित हो रहा है। यह शरीर के किसी भी स्थान अथवा कोष से दूसरे कोष तक विद्युत गति से पहुँच जाता है, वहाँ से ज्ञान व वेदना प्राप्त करके मस्तिष्क में पहुँच जाता है और तदनुसार प्रतिकार करने की आज्ञा निकलवाकर सम्बन्धित इन्द्रिय से कार्य सम्पादित करवाता है। इस प्रकार मन का प्रवाही संचार वातसूत्रों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर के प्रत्येक सेल तक होता रहता है। अतः कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण शरीर मन का कार्यक्षेत्र है।

इससे पहले कि मन के निवासस्थान के विषय पर अन्तिम निर्णय लिया जाए, यहाँ पर मन और आत्मा के परस्पर सम्बन्ध के विषय पर विचार करेंगे, इससे हमें मन के निवास्थान को ढूंढ़ निकालने में सहायता मिल सकेगी।

## (I) मन और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध

इस रहस्य को समझाने के लिए महर्षि चरक के कुछ जगद्विख्यात् प्रमाण लिखे जाते हैं—

(अ) **'खाद्यश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।'** —च० शा० १।१६

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच धातुओं और छठी चेतन धातु के संयोग से पुरुष बना है। पाँच महाभूतों के संयोग से केवल जड़ (अचेतन) सृष्टि ही बनती है।

चेतन धातु, इन्द्रिय + मन + जीवात्मा के संयोग से बनता है इसमें मन और आत्मा एक साथ रहते हैं।

अचेतन सृष्टि इसी चेतनधातु के संयोग से चेतन सृष्टि बनती है।

(आ) **'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरेन्द्रियमचेतनम्।'** —च० सू०

अर्थात् जो द्रव्य इन्द्रिय सहित मन और आत्मा के संयोग से युक्त अर्थात् चेतन धातु से युक्त है, वह चेतन द्रव्य कहलाता है और जो इन्द्रिय, मन और आत्मा अर्थात् चेतनधातु से रहित है, वह अचेतन द्रव्य कहलाता है। इससे भी सिद्ध होता है कि चेतन धातु में मन और आत्मा एक साथ रहते हैं। इन दोनों का परस्पर निकटतम सम्बन्ध रहता है।

## (II) मन साधन है जीवात्मा का

मन और आत्मा के संयोग से जड़द्रव्य को चेतनद्रव्य कहते हैं। यद्यपि चेतनता या ज्ञान आत्मा का धर्म है, फिर भी इन्द्रिय और मन के संयोग से ही आत्मा में ज्ञान की वृत्ति आ जाती है।

**महर्षि चरक का आदेश—**

**'आत्मा ज्ञः करणैयोगात् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।'** —च० श० १।५४

अर्थात् आत्मा ज्ञानवान है, परन्तु यह ज्ञान, इन्द्रियों और मन के सहयोग से ही इसको प्राप्त होता है। इसी प्रकार मन जड़ है, यह आत्मा के संयोग से ही चेतनवत् कार्य करता है और क्रियाशील होकर शरीर का सम्पूर्ण अन्तर्बहि व्यापार चला रहा है। इसकी जानकारी जीवात्मा को प्राप्त कराता रहता है, इस विधि से जीवात्मा का सम्बन्ध शरीर के साथ कराता है।

मन अन्तरेन्द्रिय भी है, यह अन्तर व्यापार से जीवात्मा का मिलाप परमात्मा से भी करवाता है। इस प्रकार मन साधन है जीवात्मा का।

## (III) मन के आश्रित जीवात्मा रहती है

मन के द्वारा जीवात्मा देहान्तरगमन करती है। इस सम्बन्ध में महर्षि चरक का आदेश—

**'भूतैश्चतुर्भिः सहितस्सूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।'**

—च० श० २।३१

अर्थात् वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तन्मात्राओं और मन से निर्मित लिंग शरीर के साथ जीवात्मा एक देह को छोड़कर दूसरे देह में प्रवेश करती है। इससे सिद्ध होता है कि मन के आश्रित जीवात्मा रहती है।

## (IV) मन अधीन है जीवात्मा के

मन शरीर में भिन्न-भिन्न कर्म करता रहता है, इनके आधार पर इसके भिन्न-भिन्न नाम हैं। जैसे—

(क) मन में विचार उठते रहते हैं, विचारों के गुण और दोषों की छानबीन की जाती है, फिर इसकी निर्णयात्मक पहचान हो जाती है। मन की यह वृत्ति बुद्धि कहलाती है।

(ख) मन जब चेतनावान होकर कार्य करने लगता है तो मन की इस चेतन-वृत्ति का नाम चित्त है।

(ग) मन जब अपने और पराये भाव से व्यवहार का सम्पादन करता है, तो यह वृत्ति अहंकार कहलाती है।

(घ) मन जब भौतिक शरीर और इन्द्रियों का संचालन करने लगता है, तो यह इच्छा कहलाती है।

(ङ) मन जब इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत विषय के अन्तर्गत भाव से जीवात्मा तक पहुँचाता है और जीवात्मा का मिलाप परमात्मा से करवाता है, तो यह अन्तरेन्द्रिय कहलाता है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मों के आधार पर मन का नामकरण बुद्धि, चित्त, अहंकार, इच्छा और अन्तरेन्द्रिय आदि शब्दों से हुआ है। मन की अपनी कोई सत्ता नहीं, यह आत्मा के अधीन है, यह आत्मा का यन्त्र है।

**(V) मन की प्रभुता आत्मा से कम नहीं**

(अ) **'मन एवं मनुष्याणां कारणं मोक्षबन्धयो।'**

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। मन जब सकाम कर्मों की ओर लगता है तो कर्मफलों को भोगने के लिए आवागमन के चक्कर में घूमता रहता है, परन्तु निष्काम कर्मों पर तत्पर होने से मोक्ष प्राप्त करा देता है। जन्म-मरण की रूपरेखा मन के अधीन है।

(आ) सुधाया हुआ मन, मनुष्य को उन्नति के शिखर तक पहुँचाता है। विकारों से अभिभूत मन, मनुष्य का पतन कराता है। यह मनुष्य का कर्ता-धर्ता है।

(इ) मन सूक्ष्म है, सूक्ष्म में शक्ति वास करती है, इसलिए मन स्थूल शरीर से अधिक शक्तिमान है। शरीर मन के अधिकार में है और मन के संकेतों पर नाचता रहता है। मन शरीर का अधिपति है।

(ई) मन की प्रभुता का अनुमान मन और ईश्वर के परिचायक लक्षणों से भी लगाया जा सकता है। जैसे—

**परमात्मा परिचायक के लक्षण—**

**'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।**
**बुद्धि स्मृतिरंहकारो लिंगानि परमात्मनः।।'** —सुश्रुवाचार्य

अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति और अहंकार यह जीवात्मा परमात्मा के लक्षण हैं।

**मन के परिचायक लक्षण—**

**'काम क्रोध लोभ मोहेर्ष्या, मान मद शोक चित्तोद्वेगभयहर्षादयः।'**

—च० वि० अ० ६।५

अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चित्तोद्वेग, भय और हर्ष आदि, यह मन के लक्षण हैं।

मन और जीवात्मा के लक्षणों का अध्ययन करने से विदित हो जाता है कि इनके लक्षणों में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता है। केवल इतनी बिशेषता है कि परमात्मा के लक्षणों में मन को कल्पनात्मक स्थान दिया गया है। परमात्मा ने मन को उत्पन्न किया है, मन ने परमात्मा को उत्पन्न नहीं किया। परन्तु मन ने अपनी क्रियाशीलता से लगता ऐसा है परमात्मा को न होने के बराबर बना रखा है।

दूसरी बात यह है कि इच्छा द्वेषादि जो आत्मा के गुण हैं, वह बुद्धि के सहयोग से ही आत्मा में प्रकट होते हैं, और बुद्धि तो वृत्तिभेद से मन का ही स्वरूप है, अतः मन भी आत्मा का गुण माना गया है। यही कारण है कि स्वामी रामकृष्ण जी परमहंस ने, शुद्धमन को आत्मा कहा है।

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन और जीवात्मा दोनों एक साथ निकट में रहते हैं। दोनों को एक ही चेतन धातु माना जाता है। मन साधन है आत्मा का। मन आधार है आत्मा का। मन आश्रय है आत्मा का और मन यन्त्र है आत्मा का।

## अन्तिम निर्णय

आयुर्वेद जीवन शास्त्र अपनी स्वतन्त्र विचारधारा रखता है। उसके आधार पर जो उपर्युक्त विस्तृत चर्चा मन के निवास स्थान के विषय पर हुई, उसका निष्कर्ष नीचे लिखा जाता है—

(i) **मन का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है।** कारण कि वातनाड़ी संस्थान में प्राकृत वायु के रूप में संचार करने वाला मन, अपना ज्ञानवह और कर्मवह व्यापार, प्रवाही रूप में दिन-रात विद्युत गति से सम्पूर्ण शरीर के प्रत्येक कोष के साथ चलने में व्यस्त रहता है, इसलिए सम्पूर्ण शरीर मन का कार्यक्षेत्र है।

(ii) **मन का कार्यालय मस्तिष्क** अर्थात् शिरोहृदय है। मस्तिष्क वातनाड़ी संस्थान का केन्द्र है। मन यहाँ उपस्थित रहकर ज्ञान केन्द्रों और भाव केन्द्रों की सहायता से शरीर का ज्ञानवह और कर्मवह व्यापार चला रहा है।

(iii) **मन का निवासस्थान भ्रूमध्य स्थान है।** चक्रीय शरीर के अनुसार यह आज्ञा चक्र कहलाता है। यह मन के कार्यालय के ही एक देश में स्थित है, क्योंकि कार्यालय में ही दिन-रात उपस्थित रहकर मन को काम करना पड़ता है।

(iv) **जीवात्मा और परमात्मा का निवास स्थान**—प्रसंगवश मन का निवास स्थान सिद्ध करते हुए जीवात्मा और परमात्मा का निवास स्थान आयुर्वेद जीवन शास्त्र की दृष्टि से मस्तिष्क में ही भ्रूमध्यस्थान और सहस्रार पर है क्योंकि जीवात्मा का साधन और आश्रय तथा निकटतम सहवासी मन है इसलिए यही

स्थान मान्य है। यौगिक दृष्टि से भी चक्रीय शरीर के अनुसार यह स्थान मान्य है। ब्राह्मी विद्या में भी इसे भ्रूमध्य निलय कहा गया है।

**मानस रोगों के कारण**

(i) **दूषित जल, वायु, आहार और पर्यावरण**, यह मानस रोगों का तीसरा ८८ कारण है। इनसे शरीर में दोषों का संचय हो जाता है, दोष वृद्धि पाकर कुपित हो जाते हैं और प्रज्ञापराध के समान मानस रोगों का कारण बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त आहार के गुणों का प्रभाव भी मन पर पड़ता है। रजोगुण और तमोगुण प्रधान आहार से रज और तम दोष वृद्धि पाकर असामान्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं फिर मानस रोग उत्पन्न कर डालते हैं।

शुद्धि पत्र

(ii) **अप्राकृत जीवन**—आधुनिक काल में मनुष्य प्राकृत जीवन से दूर चला गया है। इसके जीने और जीवन का स्तर बिगड़ गया है। एक समय था जब यह प्रातःकाल उठकर शौच से निवृत्त होकर तैलाभ्यंग, व्यायाम (आसन), स्नान और प्राणायाम का अभ्यास किया करता था, विधि-विधान के अनुसार हिताहार-विहार का सेवन करता था। कितना सरल और प्राकृत जीवन था। अब उन सभी बातों में परिवर्तन आ गया है। उनको त्यागकर अप्राकृत जीवन अपनाने में रत हुआ है। स्तर को ऊंचा बनाने के लिए ऐश्वर्य-सम्पन्न साधनों की आवश्यकता है। इसके लिए धन चाहिए। धन कमाने के लिए प्रतिबल लगाना पड़ता है। थकावट दूर करने के लिए पर्याप्त समय प्राप्त नहीं, फलस्वरूप विश्राम के अभाव के कारण मन व्यथित होकर तनावग्रस्त हो जाता है और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

जीवनस्तर गिर जाता है सदाचार पतन से; सदाचार पतन हो जाता है अशुभ कर्मों के करने से। अशुभ कर्मों की और प्रवृत्ति हो जाती है मन की अशुद्ध भावनाओं से। अशुद्ध भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं, रज और तम मानसिक दोषों की वृद्धि से। मानसिक दोषों की वृद्धि से मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। सदाचार पतन एक अंग है अप्राकृत जीवन का। सदाचारी प्राकृत जीवन ही स्वास्थ्य की कुञ्जी है।

(iii) **प्रज्ञापराध**—अशुभ कर्मों के फलस्वरूप प्रज्ञापराध से मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। शरीर दुर्बल हो जाता है। इसके साथ-साथ वातनाड़ी संस्थान भी दुर्बल होकर इसका केन्द्रीय स्थान मस्तिष्क भी दुर्बल हो जाता है। मस्तिष्क में स्थित ज्ञान केन्द्र दुर्बल हो जाने से, भावकेन्द्रों पर इनका नियन्त्रण शिथिल पड़ जाता है। मानसिक भाव उत्तेजित होकर असामान्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं फिर मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। चूंकि आध्यात्मिक मन का स्थूल रूप भौतिक मस्तिष्क है; अतः मस्तिष्क की दुर्बलता से यह रोग उत्पन्न हो गए हैं।

(iv) **तनाव**—तनाव, मानस रोगों का दूसरा ८८ प्रधान कारण है। मनुष्य की

जीवन यात्रा आधुनिक काल में एक समस्या बन गई है। आतंकवाद, लूट, खसोट और महंगाई का चारों ओर बोलवाला है। कई प्रकार की समस्यायें मनुष्य के सामने आकर खड़ी हो गई हैं। दुष्परिस्थितियों में से गुजरना पड़ता है। धन कमाने के लिए शक्ति से अधिक काम करना पड़ता है। प्रतिबलों के कारण विश्राम लेने कासमय ही नहीं प्राप्त होता है। मन कई प्रकार की चिन्ताओं में डूबा हुआ रहता है क्योंकि इसको सुखपूर्वक जीवन-यात्रा न चला सकने का भय लगा रहता है। चिन्ता करने से मन में घुन लग जाता है जो मनुष्य को अन्दर से ही खाता रहता है। दूसरी ओर से प्रतिबलों के कारण मन को विश्राम लेने का समय नहीं मिलता; विश्राम के अभाव से मन थककर तनावग्रस्त हो जाता है। तनाव, अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न करता है।

## मानस रोगों के प्रकार

आयुर्वेद में मानस रोगों का वर्णन शारीरिक रोगों के साथ आया है। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद में जीवन का स्वरूप संयोगवाही सिद्धान्त के आधार पर स्वीकार किया गया है। जीवन को सत्त्व + आत्मा + शरीर के संयोग से बना हुआ बताया गया है। जैसे—

**'शरीरेन्द्रिय सत्त्वातम संयोगी धारि जीवितम् ।'** —च०सू० १.४२

लोक की उत्पत्ति से लेकर पुरुष की उत्पत्ति तक तथा रोग की उत्पत्ति और चिकित्सा कर्म के क्षेत्र में भी, इसी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। जैसे—

**'ते च विकाराः परस्परमनुवतेमाणाः कदाचिदनुबधनन्ति।"**

—च० वि० ६.८

अर्थात् यह शरीरिक और मानसिक रोग एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यद्यपि यह दोनों प्रकार के रोग कारण भेद से और अनुष्ठान भेद से भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी संयोगवाही जीवन होने के कारण, यह एक साथ में ही रखे गये हैं। और सम्भवत: पूर्वकाल में मानस रोगियों की संख्या इतनी अधिक नहीं रही होगी, जितनी यह आधुनिक काल में पाई जाती है। आज के समय में ९०% से भी अधिक मानस रोगी पाये जाते हैं।

मानस रोगों का वर्णन अथर्ववेद में भी आया है। अतः इस रोग का इतिहास प्राचीनकाल से चला आ रहा है। इसका वर्णन भूत विद्या के रूप में हुआ है। आयुर्वेद ग्रन्थों में भी बहुत स्थानों पर इसका वर्णन आया है। इन ग्रन्थों में मानस रोगों के नाम भूतों और ग्रहों के नाम से भी कहे गये हैं। परन्तु यह समझना मिथ्या और असंगत है कि भूत ग्रह मनुष्य के शरीर में प्रवेश करके रोग उत्पन्न किया करते थे। नामकरण उन भूतों या ग्रहों के गुणों और लक्षणों के आधार पर किया जाता था, जो उस रोगी के व्यक्तित्व में पाये जाते थे। उदाहरण के लिए यदि कोई मानस रोगी रात्रि भ्रमण करने वाला, मांसाहारी, दुष्ट और क्रोधी

होता था, तो वह रोगी राक्षसग्रह पीड़ित मानस रोगी कहलाता था। इसी प्रकार और रोगों को भी समझें।

अब समय आ गया है कि आयुर्वेद में ऐसी और सभी त्रुटियों तथा असंगत बातों का संशोधन किया जाना चाहिए। आयुर्वेद के मानस रोग विशेषज्ञों को एकत्रित होकर इसका संशोधन और संवर्द्धन वैज्ञानिक ढंग से आयुर्वेदिक सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहिए ताकि आयुर्वेद हास्य का विषय न बना रहे, प्रत्युत इसका भविष्य उज्ज्वल और लोकप्रिय बन जाये।

आयुर्वेद साहित्य और अन्य उपलब्ध जानकारी के आधार पर मानस रोगों का वर्गीकरण अग्र तालिका में किया गया है। (देखें पृष्ठ २५ व २६)

मानस रोग तालिका में सभी प्रकार के मानस रोगों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—(१) सामान्य मानस रोग, (२) विशेष मानस रोग।

(i) सामान्य मानस रोगों में चिन्ता प्रधान और विषाद प्रधान मानस रोग आते हैं, जो तीन प्रकार के हैं—(१) मानस दोषज, (२) शरीर और मानस दोषज, (३) मनोदैहिक जीर्ण मानस रोग।

## (I) सामान्य मानस रोग

सामान्य मानस रोगों में औषधियों द्वारा चिकित्सा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। कारण को दूर करने से ही यह रोग शान्त हो जाते हैं। मनोदैहिक रोगियों को निदान परिवर्जन के साथ-साथ औषधियों से चिकित्सा करने की विशेष आवश्यकता रहती है।

(१) **चिन्ता विषाद प्रधान मानस दोषज**—किसी प्रकार के भय की आशंका हो जैसे—जीवन स्तर गिर जाने का भय, मृत्यु भय इत्यादि। इनसे चिन्ता उत्पन्न हो जाती है, जो शरीर में घुन लगाकर भीतर ही से खाती हुई उसे खोखला बना डालती है। मन में आग जैसी सुलगकर शरीर को दग्ध कर डालती है। इसके प्रभाव से वातनाड़ी संस्थान दुर्बल हो जाता है। मन की मनन शक्ति, बुद्धि की निर्णय शक्ति और चित्त की स्मरण शक्ति मन्द पड़ जाती है। यह संसार में सर्वत्र २०-४० वर्ष की आयु में पाया जाता है।

(२) **चिन्ता विषाद प्रधान शरीर और मानस दोषज**—इस प्रकार के मानस रोगी का मन उदास रहता है। किसी काम को करने की दिलचस्पी नहीं होती। रोगी अपने को दीन-हीन समझता हुआ निराशावादी बन जाता है। मन व्याकुल रहता है। किसी की मृत्यु से, आग, भूचाल अथवा चोरी से या किसी दुर्घटना से धन सम्पत्ति को हानि पहुंचने से, मानहानि से, व्यापार में घाटा हो जाने से और इसी प्रकार के अन्य कारणों से मन विषादग्रस्त हो जाता है। यह सब बातें मन में क्षोभ उत्पन्न करके तनाव को जन्म देती हैं। मन को विश्राम करने का अवसर प्राप्त नहीं होता। यहरोग संसार में ४० से ६० वर्ष की आयु में सर्वत्र पाया जाता है।

## मानस रोग तालिका

| सामान्य मानस रोग | | | विशेष मानस रोग | | |
|---|---|---|---|---|---|
| चिन्ता विषाद प्रधान मानस दोष जन्य<br>१ | चिन्ता विषाद प्रधान शरीर मानस दोष जन्य<br>२ | चिन्ता विषाद प्रधान मनोदैहिक (जीर्ण)<br>३ | चेष्टा प्रधान मानस रोग<br>४ | विद्रोही मानस प्रधान रोग<br>५ | विकृत प्रकृतिजन्य मानस रोग<br>६ |
| १. काम | अपस्मार | आमवात | उन्माद | परवध उन्माद | सत्त्वहीनता |
| २. क्रोध | योषापस्मार | अम्लपित्त | वातज उन्माद | आतमवध उन्माद | |
| ३. लोभ | अतत्वभिनिवेष | अनिन्द्रा | पितज उन्माद | कामोन्माद | अमेधता |
| ४. मोह | भ्रम | अनियमितरज:स्राव | कफज उन्माद | प्रज्वाल उन्माद | |
| ५. भय | तन्द्रा | उन्‌निद्रा | त्रिदोषज उन्माद | विस्मृति | विकृतसत्त्व |
| ६. आसक्ति | क्लम | एलर्जीजन्य रोग | आगन्तुक उन्माद | मोहोभाव | |
| ७. हर्ष | मूर्च्छा | तमकश्वास | सूतिका उन्माद | अभिघातज उन्माद | |
| ८. अतिराग | संन्यास | शोक ज्वर | मादक द्रव्य उन्माद | अभिशापज उन्माद | |
| ९. ईर्ष्या | मदात्यय | भयज ज्वर | मदात्यय जन्य उन्माद | अभिषङ्गज उन्माद | |
| १०. मान | गदोद्वेग | शोकातिसार | जराजन्य उन्माद | अभिचारज उन्माद | |
| ११. मद | कम्प | रजोरोध | भूतादि उन्माद | धातुक्षयज उन्माद | |
| १२. शोक | स्मृतिभ्रंश | उच्चरक्तचाप | देव उन्माद | | |

| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ |
|---|---|---|---|---|---|
| १३. चिन्ता | बुद्धिमृंग | वृहदन्तशूल | असुर उन्माद | | |
| १४. उद्वेग | प्रलाप | हृदयावरोध | पितर उन्माद | | |
| १५. विषाद | सम्मोह | हृदयावघात | गन्धर्व उन्माद | | |
| १६. निराशा | क्षोभ | तनाव | पिशाच उन्माद | | |
| १७. निर्लज्जता | | गैस्टिक अल्सर | प्रेत उन्माद | | |
| १८. प्रमाद | | पेपष्टिक अल्सर | सती उन्माद | | |
| १९. आलस्य | | सुरायसिस | डाकिनी शाकिनी उन्माद | | |
| २०. संग | | हृच्छूल | कामन उन्माद | | |
| २१. दीनता | | दन्तवादन | राक्षस उन्माद | | |
| २२. अभिघ्या | | धमनिकाठिन्य | क्षेत्रपाल उन्माद | | |
| २३. निद्रा | | | ब्रह्मराक्षस उन्माद | | |
| २४. इच्छा | | | दैत्यग्रह उन्माद | | |
| २५. द्वेष | | | वेतालग्रह उन्माद | | |
| | | | किशमाण्ड ग्रह उन्माद | | |
| | | | यक्षग्रह उन्माद | | |
| | | | निषादग्रह उन्माद | | |

(३) **मनोदैहिक जीर्ण मानस रोग**—चिन्ता और विषाद यह दोनों बातें शारीरिक और मानसिक प्रतिबलों को जन्म देती हैं। इनसे शरीर और मन को विश्राम लेने का समय प्राप्त नहीं होता, फलस्वरूप तनाव उत्पन्न हो जाता है। स्थायी प्रतिबल स्थायी तनाव उत्पन्न करते हैं, जिससे वातवहसंस्थान दुर्बल हो जाता है। यही मनोदैहिक रोगों का कारण वन जाता है। तनावों की जीर्णावस्था से मनोदैहिक जीर्ण रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यह कष्टदायक रोग कष्टसाध्य होते हैं।

मनोदैहिक जीर्ण रोगों का कारण मन की ही विकृति होती है, इनका मूल कारण मन के विकार होते हैं। परन्तु लक्षणों से यह सब शारीरिक रोग जान पड़ते हैं। चिकित्सा में मन के विकारों का शमन उपाय भी औषधियों से किया जाता है जिससे रोग तुरन्त शान्त हो जाते हैं।

उभयदोषज सामान्य मानस रोग, मानस दोषों के साथ-साथ शारीरिक दोषों के प्रकोपों से भी उत्पन्न हो जाते हैं। अतः इनमें दोनों प्रकार के दोषों का शमन उपाय अपेक्षित है और इन रोगों के लिए औषधियों के प्रयोग की नितान्त आवश्यकता है।' महर्षि चरक के आदेशानुसार 'वैचिव्यमरतिग्लानिमनस्ताप लक्षणम्' अर्थात् मन का उचाटपन, दिल का न लगना और घृणा यह विकृत अस्वस्थ मन के लक्षण हैं। जिस किसी शारीरिक रोग से पीड़ित रोगी में भी अस्वस्थ मन के लक्षण उपलब्ध हैं उसको शारीरिक रोग नाशक औषधियों के साध मानसिक रोगनाशक औषधियाँ जैसे तनावशामक, मेध्य रसायन, मनःस्थापन औषधियों से चिकित्सा व्यवस्था करनी चाहिए और मनोबल बढ़ाना चाहिए। मनोदैहिक रोगों में यही चिकित्सा विशेष उपयोगी रहती है।

## (II) विशेष मानस रोग

विशेष मानस रोग वर्ग में तीन प्रकार के रोगी पाये जाते हैं—(१) चेष्टा प्रधान, (२) विद्रोही प्रधान, (३) विकृत प्रकृतिजन्य।

(१) चेष्टा प्रधान मानस रोगों में वह उन्माद और इसके दोषजन्य भेद वाले विविध उन्माद आते हैं। इसके अतिरिक्त इस चेष्टा प्रधान मानस रोगों में वह उन्माद भी आते हैं, जिनमें मानसिक विकृतियों के साथ शारीरिक विकार भी उपस्थित होते हैं। इस चेष्टा प्रधान उन्माद में भूतग्रहादि उन्माद भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार के उन्मादों में रोगी के व्यक्तित्व में एक विशेष परिवर्तन आता है, जो तत्समान भूतों या ग्रहों के लक्षणों के सदृश्य होते हैं, जिससे रोगी पीड़ित होता है। रोगी के शरीर में भूत या ग्रह प्रवेश नहीं करते। ऐसी धारणा निराधार और मिथ्या है।

(२) **विद्रोही प्रधान मानस रोग**—इसमें रोगी का मन विद्रोहात्मक बन जाता है। वह हठधर्मी बनकर विद्रोहात्मक कर्मों में प्रवृत्त होकर लूटमार, गोली

काण्ड, अग्निकाण्ड, तोड़फोड़ और हड़तालादि पर तुला रहता है। कभी-कभी यह उन्माद वृद्धि पाकर व्यक्ति से लेकर जाति और राष्ट्र तक फैलकर विनाश का कारण बन जाता है। यह किसी नेता या राजा के भ्रष्ट हो जाने से देश में फैल जाता है। अनुगामी लोग उसका अनुसरण करके विनाशकारी उन्मत्त क्रियायें करने लग जाते हैं।

(३) **विकृत प्रकृतिजन्य मानस रोग**—इस प्रकार के मानस रोग जन्मजात ही विकृत मस्तिष्क और विकृत मन युक्त होते हैं। यह अयोग्य, अक्षम और विकृत सत्त्व वाले होते हैं।

## मानस रोगों की चिकित्सा

मानस रोगों की चिकित्सा के सम्वन्ध में, मानसिक उपचारों के साथ-साथ शारीरिक उपचार भी किये जाते हैं और कई अवस्थाओं में आघात चिकित्सा भी की जाती है। इस प्रकार यह चिकित्सा तीन प्रकार की है—(i) मानसिक उपचार, (ii) शारीरिक उपचार, (iii) आघात चिकित्सा।

## (I) मानसिक उपचार

**सत्त्वावजय**—मानस रोगों के उपचार के लिए महर्षि चरकोक्त 'सत्त्वावजय' परम उपयोगी चिकित्सा विधि है। इसका निरूपण इन शब्दों में किया गया है—

**'सत्त्वावजयः पुनरहितेभ्योऽर्णेभ्यो मनो निग्रहः'।** —च० सू० ११।५४

अर्थात् हानिकारक अर्थों की ओर मन की प्रवृत्ति को रोकना सत्त्वावजय कहलाता है। अर्थों की हानिकारक अवस्था ही अर्थों की असामान्यावस्था कहलाती है, इससे दोषों का मापदण्ड बिगड़ जाता है। रज और तम दोषवृद्धि पाते हैं, सत्त्वगुण का ह्रास हो जाता है। मन के दूषित होने से बुद्धि दूषित हो जाती है, फलस्वरूप प्रज्ञापराध होकर मानस रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मानस रोगों का शमन करने के लिए बुद्धि शुद्ध होनी चाहिए, इसके लिए मन का शुद्ध होना आवश्यक है, यह तभी सम्भव हो सकता है, जब मन की चंचल वृत्ति पर अंकुश लगाया जा सके, ऐसा करना चित्तवृत्ति निरोध से सम्भव हो सकता है। यह योग कहलाता है। कहा भी गया है—'चित्तवृत्ति निरोधस्तु योगः' अर्थात् चित्तवृत्तियों को रोकना योग कहलाता है। इसी का दूसरा नाम सत्त्वा-वजय है।

सत्त्वावजय के अभ्यास से मन को अहित अर्थों की ओर जाने से रोका जा सकता है, इसकी चंचल वृत्ति समाप्त हो जाती है, मन में एकाग्रता आ जाती है। मन अन्तर्मुखी होकर ध्यान और समाधि के द्वारा आत्मतत्त्व में अवस्थित होकर प्रसन्न और स्वस्थ रहता है। सभी मानसिक रोगों का शमन हो जाता है। योग साधना का विस्तृत वर्णन तीसरे भाग में आया है। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि सत्त्वावजय से मानसिक रोग शान्त हो जाते हैं।

(क) सत्त्वावजय अर्थात् योग साधना के साथ निम्न मानसिक उपचार भी करते रहें, इनको भूल न जाएँ—

(अ) मानसिक रोगों के कारणों को दूर करें। जैसे (अ) रोगी को आत्मबल बढ़ाना चाहिए इससे आत्म विश्वास बढ़ जाता है।

रोगी को बार-बार सान्त्वना देते रहें कि उसको कोई रोग नहीं है, और जो कुछ भी है वह साध्य है। आत्मबल से मनोबल भी बढ़ जाता है, इनसे जीवनी-शक्ति बढ़ जाती है। रोगी को प्रेरणाओं, प्रोत्साहनों, निर्देशों और पुर्नविश्वास से आत्मबल बढ़ाना चाहिए। उसकी दीनता और हीनता दूर करके उसे आशावादी बनाना चाहिए, ताकि वह लगन से किसी काम में लग जाये। काम में लग जाने से आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है और निराशा में दबे हुए रोगी को लाभ पहुंचता है। श्रीगीता जी का आदेश है—

**'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।**
**आत्मैवात्मना बन्धुरात्मैव रिपुरात्मना।।'** —श्री गीता अ० ६।५

अर्थात् मनुष्य को चाहिए कि अपने आपको स्वयं ही दृढ़संकल्प होकर उद्योग करते हुए उन्नति के शिखर तक ले जाये, उसके पाद पृथ्वी पर हों और सिर ऊपर आकाश के तारामण्डल में पहुंच जाये, और अपने में उत्साह और आशा भरता हुआ धैर्य से आगे बढ़ता जाये, रुकने का नाम न ले। इस प्रकार के उद्योग से अपना उद्धार करे। मनुष्य किसी भी दशा में अपने को दीन-हीन न समझे, ऐसी समझ से उसका पतन हो जायगा। मनुष्य स्वयं ही अपने आपका मित्र भी है और शत्रु भी।

रोगी को उत्साह बढ़ाकर समझाना चाहिए कि उसकी परिस्थिति उन अभागों से बहुत अच्छी है जो भूखे और नंगे हैं, जो आवासहीन, अशिक्षित और असहाय हैं। जो दिन-रात दुःख और कष्ट झील रहे हैं। इस प्रकार की बातों से रोगी का उत्साह बढ़ाकर उसका मन चिन्ताशून्य बनाया जा सकता है। चिन्ता किसी प्रकार के भय से मन में उत्पन्न हो जाती है, इससे मनुष्य का साहस समाप्त हो जाता है, कभी भी भयभीत नहीं होना चाहिए।

(आ) **मानस रोगी की विचारधारा ठीक बनानी चाहिए**—मनुष्य का जीवन उसकी अपनी विचारधारा से बनता है, अतः मन में अच्छे विचारों को स्थान देना चाहिए, यह बड़े काम की बात होती है। विचारधारा ठीक होने से वह सोचने लगेगा कि परमात्मा की कृपा से उसका जीवन-निर्वाह ठीक प्रकार से चल रहा है और इसके अतिरिक्त उसके पास बहुत-सी उपयोगी सामग्री भी है। उसको इन अच्छी वस्तुओं पर ही अपनी दृष्टि रखनी चाहिए, बुरी वस्तुओं पर नहीं रखनी चाहिए। ऐसे आवरण से वह अपने-आप ही सँभलकर स्वस्थ बनता जायेगा।

यदि रोगी अपने जीवन निर्वाह के लिए कोई काम करता हो, चाहे वह नौकरी-

चाकरी है, कृषि है, वाणिज्य है, शिल्प है या कोई कर्मचारी मजदूर है, जिस पर वह अपना ५०% समय प्रतिदिन लगा रहा है, तो उसे उस काम से प्रेम करना चाहिए। ऐसा करने से उसका मन प्रसन्न रहेगा और जीवन का ५०% भाग अर्थात् अर्द्धभाग प्रसन्नता में ही व्यतीत होता रहेगा। प्रसन्नता ही मन का स्वास्थ्य है।

(इ) **नियमबद्ध आचार अर्थात् अनुशासित मन**—नियमबद्ध आचार में जीवन को ढालने से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बनाने में आशातीत लाभ मिलता है। आहार, विहार, व्यायाम, विश्राम और जीवन निर्वाह से सम्बन्धित सभी काम-काज कटिबद्ध होकर अपने-अपने नियुक्त समयों पर करने से मन सुधर जाता है, इसे नियमन में रहने का प्रशिक्षण मिलता है, जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त लाभ-दायक है। श्री गीताजी का आदेश पढ़िये--

**'युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।**
**युक्त स्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा॥'**

—श्री गीताजी अ० ३।१७

अर्थात् आहार, विहार, व्यवहार, विश्राम, जागरण और सभी प्रकार के कामकाज में नियमबद्ध आचार रखना योग कहलाता है। यह दुःखों से छुटकारा दिलाता है।

(ई) दुःखदायक तीन विकारों—काम, क्रोध और लोभ इनसे दूर रहना चाहिए। श्री गीताजी का आदेश और उपदेश भी—

**'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।**
**कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रियं त्यजेत्।'**

—श्री गीताजी अ० १६।२१

अर्थात् नरक लोक में जाने के तीन द्वार हैं—काम क्रोध और लोभ का पालन। इन तीनों के समीप नहीं जाना चाहिए। यह असामान्यावस्था में जाकर किसी भी समय उग्ररूप धारण करके महादुःखदायक बनते हैं—

**कामातुराणां न भयं न लज्जा**—कामातुर को न भय होता है और न ही उसको लज्जा होती है। काम के आवेश में आकर वह महाघृणित काम कर पाता है।

**क्रोधालू** क्रोध के आवेश में आकर मरने और मारने पर उद्यत हो जाता है। उसमें बुद्धि का सर्वथा लोप हो जाता है, उसे कुछ बुरा-भला नहीं सूझता। क्रोध के आवेश में स्थान को छोड़कर चले जाना चाहिए।

**लोभ** सभी अनर्थों का मूल है, छोटे-बड़े वाद-विवाद से लेकर महायुद्ध भी इसी लोभ के कारण लड़े जा रहे हैं और जन-धन की हानि हो जाती है।

**बुद्धिमान को काम, क्रोध और लोभ के आवेशों में नहीं आना चाहिए।**

## (II) शारीरिक उपचार

शारीरिक उपचार शोधन से आरम्भ करना चाहिए। शुद्धि के पश्चात् मन-स्थापक, मेध्यरसायन और बलकारक औषधियों के माध्यम से मानसरोगों का शमन किया जा सकता है।

**पथ्य**—लघु और सुपाच्य भोजन सेवन किया जाना, सब्ज तरकारियों का प्रयोग, दूध और मधुर फलों का रस लाभदायक रहता है। प्राकृतिक जीवन प्रणाली के नियमों का पालन अर्थात् समय पर खाना, पीना, सोना, जागना और समयोग कर्मों का पालन करना आवश्यक होता है।

अपथ्य —उष्ण, रुक्ष, अम्ल, मांस और मदिरा आदि नशीले पदार्थ।

## (III) आघात चिकित्सा

जब मानस रोग उग्रावस्था को प्राप्त हो जाते हैं विशेषकर उन्माद रोग से आक्रान्त मानस रोगी, तो विकृत मन को प्राकृतावस्था में लाने के लिए भयादि दिखाये जाते हैं जैसे तप्त तेल, तप्त जल और तप्त लौह शिलाका के स्पर्श का भय, इसी प्रकार डण्डे से पीटे जाने का भय अथवा अँधेरी कालकोठरी में बन्द करने का भय दिखाकर। इसी प्रकार के विविध भय, रोगी के संभल जाने की आशा से दिखाये जाते हैं। इस विधि के उपचारों से कई मानसरोगी प्राकृतावस्था में आ जाते हैं।

आधुनिक काल में मानस रोगियों को विद्युत स्पर्श से आघात कराया जाता है। इसको विद्युत आघात कहते हैं (Electric Convulsive Treatment)। विषाद प्रधान मानस रोगी ४-५ करण्ट देने से काल्पनिक अवस्था से निकलकर वास्तविक अवस्था में आ जाता है। उन्माद प्रधान मानस रोगी को १०-२० करण्ट देने से लाभ प्रतीत होता है। यह छोटी और बड़ी आयु वाले रोगियों के लिए एक समान लाभदायक है और उच्च रक्तचाप में भी लाभकारी है।

## मन की प्रसन्नता

माता-पिता अपने बच्चें को जैसा बनाना चाहते हैं वैसा वह अवश्य बन सकता है, परन्तु इसके लिए गर्भधारण से पहले ही ऐसा संकल्प किया गया हो। ऐसा सम्भव बनाने के लिए माता-पिता को प्रथम अपना स्वास्थ्य ठीक बनाना होता है। इसके पश्चात् गर्भाधान के अवसर पर बीज-क्षेत्र-गुण-सम्पत्त उपलब्ध हो तो ऐसे प्रशस्त गर्भाधान से स्वस्थ जातक की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है। ऐसे स्वस्थ बच्चे को जब उचित ढंग से पालन-पोषण, देखभाल, शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त हो जाती है तो युवावस्था में पहुंचकर वह जैसा चाहे वैसा बन सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इसके लिए समय का एक-एक क्षण इस काम को पूरा करने के सदुपयोग में व्यय करना चाहिए। कई महानुभाव वर्तमान समय को अपने अनुकूल न समझकर इसका सदुपयोग नहीं करते हैं। वह आने वाले समय में अनुकूल

परिस्थिति की प्रतीक्षा में रहकर समय को व्यर्थ में खो बैठते हैं।

समय परिवर्तनशील है, संसार की कोई वस्तु स्थायी नहीं। जो आज है वह कल नहीं होगी। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, यह प्राकृतिक नियम है। परन्तु बुद्धिमान मनुष्य किसी भी परिस्थिति में पुरुषार्थ करता रहता है, वह समय में एक-एक क्षण को सदुपयोग में लगाकर आगे बढ़ता चला जाता है, वह कर्मठ महापुरुष होता है जो सभी प्रकार की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में से अपना काम चलाता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है और सुख भोगता है। परन्तु यह रहस्य तभी मालूम होता है जब बुद्धिमान मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दृढ़संकल्प से काम करता है, अपनी शक्ति का सदुपयोग करता है, समय के एक-एक क्षण को व्यर्थ में व्यय नहीं करता, अपने ज्ञान को सदुपयोग में लाता है और अपनी आस्था में दृढ़ रहता है। समय को व्यर्थ कार्यों में लगाकर व्यर्थ में व्यय कर दिया जाता है। कोई भी छोटा-बड़ा काम हो, उसको हाथ में लेने से प्रथम उसके गुण-दोषों की छानबीन करके, उसके परिणाम पर विचार कर लेना चाहिए। नहीं तो गलतियाँ हो ही जाती हैं और समय व्यर्थ में ही हाथ से निकल जाता है, फिर पश्चाताप से कुछ भी नहीं मिलता। समय ही जीवन है, इसका एक-एक क्षण सार्थक हो जाए, इसका ध्यान रखना चाहिए।

बुद्धिमान मनुष्य वही है जो क्षण-क्षण पर अपने मन के भावों और विचारों को टटोलता रहता है और देखता रहता है कि इसमें किस-किस प्रकार की भावनाएं बैठी हैं। मन में जैसी-जैसी भावनायें होती हैं वैसी प्रकार के कर्मों की प्रवृत्ति इन्द्रियों द्वारा हो जाती है। शुद्ध भावनाओं से शुभ कर्मों की ओर और अशुद्ध भावनाओं से अशुभ कर्मों की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। इन्हीं कर्मों से सदाचार बन जाता है। यह प्रकृति का नियम है।

सदाचार ही मनुष्यत्व है। इससे मन प्रसन्न रहता है। प्रसन्नता बाहर से ढूंढकर लाई नहीं जा सकती और न ही यह बाजार से खरीदकर लाई जा सकती है चाहे कितना भी धन खर्च किया जाये। यह तो अपने मन के अन्दर से प्राप्त हो जाती है, अपनी शुद्ध और निर्मल भावनाओं को ढूंढ-ढूंढकर निकालने से। बुद्धिमान मनुष्य अपने मन को शुद्ध भावनाओं से सदा भरता रहता है, ताकि उसका मन सदा प्रसन्न रह सके। जब मन में स्थायी रूप से शुद्ध भावनायें उत्पन्न होनी आरम्भ हो जाती हैं, तब मन सदा आनन्दमग्न रहता है।

मनुष्य का मन ऐसा सुधाया हुआ होना चाहिए ताकि उसमें शुद्ध भावनायें उत्पन्न होती रहें, जिनके प्रकट करने में कोई लज्जा न आये या संकोच न हो। अशुद्ध भावनाओं को प्रकट करने में लज्जा आ जाती है और संकोच भी होता है। अतः भावनाओं का शुद्ध होना आवश्यक है। शुद्ध भावों से मनुष्य में सेवाभाव आ जाता है। सेवाभाव से समभाव प्राप्त होकर द्वन्द्वभाव दूर हो जाता है।

समभाव से प्रेमभाव उत्पन्न हो जाता है, फिर मनुष्य प्रसन्न चित्त रहता है।

मनुष्य को शिक्षित होना आवश्यक है, और जितना भी उच्चकोटि का शिक्षित होगा, उतना ही अच्छा है। परन्तु अध्ययन का यह प्रयोजन होता है कि इससे मनुष्यत्व और योग्यता प्राप्त हो जाती है, जिसके द्वारा अपनी उन्नति के साथ-साथ दूसरों की भी योग्य सेवा की जा सके। यदि यह नहीं की जा सकती, तो इस अध्ययन का प्रयोजन ही क्या है कुछ भी नहीं। यह जीवन नाशवान है, आज है तो कल नहीं। इससे यही शिक्षा ग्रहण की जा सकती है कि संसार में असंग भाव से रहकर दूसरे प्राणियों की निष्काम सेवा में रत रहना चाहिए। सेवाभाव से ही प्रेमभाव उत्पन्न होता है और इससे प्रसन्नता प्राप्त होती है।

प्रसन्नता प्राप्त करने का रहस्य वही बुद्धिमान पुरुष जानता है, जिसने अपने बल का प्रयोग परोपकार के लिए, ज्ञान का अपनी उन्नति के लिए और विश्वास का परमात्मा के लिए किया हो। जीवन ऐसा बनाना चाहिए जो सभी के काम आ जाये। केवल ऐसे ही आचरण से प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। प्रसन्नता जीवन की विभूति है, मानसिक रोगियों के लिए एक रामबाण औषधि है। यह स्वस्थ-दीर्घ-जीवन का एक महत्वपूर्ण लक्षण है।

पुस्तक के इस विभाग में मानव स्वास्थ्य के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक चर्चा हुई है और इसके सभी पहलुओं पर आयुर्वेद जीवनशास्त्रानुकूल प्रकाश डाला गया है। आशा है कि मान्य पाठकों को इसके सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हुई होगी। आयुर्वेद केवल प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली ही नहीं, यह प्राकृतिक जीवन प्रणाली का विज्ञान है। यह जीवन एक संयोगवाही शरीर है जो स्थूल शरीर (कायक), सूक्ष्म शरीर (मानसिक) और कारण शरीर (आत्मज) उन तीन शरीरों से मिलकर बना है। इस संयोगवाही शरीर को स्वस्थ रखने के लिए जो प्राकृतिक नियम बताये गये हैं उनका पालन तत्परता से करते हुए मनुष्य स्वस्थ-दीर्घ-जीवन पा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

**सफल-मानव-जीवन के पाँच मूलाधार प्राकृतिक नियम**

(१) नियत समय पर रात्रि के १०-११ बजे हवादार कमरे में सोने को जाना फिर छः घण्टे की गहरी नींद का पूर्ण विश्राम लेकर प्रातः ४-५ बजे बिस्तर छोड़कर शौच के लिए जाना स्वस्थ-दीर्घ-जीवन का प्रथम मूलाधार नियम है। इससे शरीर के सभी अंगों-प्रत्यंगों की थकावट दूर हो जाती है जिससे शरीर में काम करने की नई शक्ति उत्पन्न हो जाती है और चित्त प्रसन्न रहता है। शौच खुलकर होने से शरीर में लाघवता और स्फूर्ति आ जाती है। यदि विबन्ध रहता हो तो इस लेखक के घरेलू उपचार के अध्याय में लिखी गई किसी एक उपयुक्त विबन्धहर औषधि के सेवन से विबन्ध को खोल लेना चाहिए।

(२) शौच से निवृत्त होकर खुली स्वच्छ वायु में व्यायाम करना चाहिए।

जैसे तेज गति से पदयात्रा करना, दौड़ना, उछलना-कूदना, तैरना, बैठकें निकालना, दण्ड पीलना अथवा योगासन करना। इनमें से किसी एक-दो का नियमपूर्वक आधा घण्टा भर अभ्यास करना चाहिए। व्यायाम से शरीर सुदृढ़ और सुडौल बन जाता है और मनुष्य उद्योगी बन जाता है। व्यायाम करने से पहले कम-से-कम सप्ताह में एक बार सम्पूर्ण शरीर पर सरसों या तिलतेल का अभ्यंग करना चाहिए, इससे शरीर लचकदार बन जाता है, लचकदार शरीर ही दीर्घजीवी बनता है।

(३) व्यायाम के पश्चात् थोड़ा-सा विश्राम लेकर स्नान करके स्वच्छ वस्त्र धारण करने के पश्चात् योग-साधना का कर्त्तव्यकर्म निभाना चाहिए, जैसे स्वाध्याय, पूजा-पाठ, जप, प्राणायाम या ध्यानादि। इनमें से किसी एक का अभ्यास आधा घण्टा भर करना अत्यन्त आवश्यक है। इससे मन शुद्ध होकर बुद्धि भी शुद्ध हो जाती है। मन, बुद्धि के तालमेल से काम करने लगता है जिससे मनुष्य को प्रज्ञापराध नहीं हो जाता, उसका आहार-विहार और आचार-विचार सुधर जाता है। मन प्रसन्न रहता है।

(४) प्रतिदिन अपने शरीर अर्थात् प्रकृति की परीक्षा करके उसके अनुकूल हिताहार का सेवन नियत समय पर कर लेना चाहिए। शाकाहारी (सात्त्विक) भोजन अधिक स्वास्थ्यप्रद होता है। इससे शुद्ध रक्त बनता है, जो रक्तवाहक संस्थान के द्वारा शरीर के प्रत्येक कोष तक पहुँचकर वातनाड़ी संस्थान को शक्तिमान बनाता है। शक्तिमान वातनाड़ी संस्थान से पाचकसंस्थान भी शक्तिमान बन जाता है। फिर शक्तिमान पाचकसंस्थान से भोजन का यथार्थ परिपाक होकर शुद्ध रक्त बन जाता है। यह पोषण-क्रम चक्रवत चलता रहता है। परिणामस्वरूप मनुष्य मिथ्याहार-विहार से बचकर स्वस्थ रहता है।

(५) सभी प्रकार के कायक, वाचक और मानसिक कर्मों के समयोग सेवन से मनुष्य स्वस्थ रहता है जबकि इनका विषमयोग सेवन अर्थात् अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग सेवन रोग उत्पन्न कर डालते हैं। यही प्रज्ञापराध कहलाता है। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के अर्थों अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का समयोग-सेवन स्वास्थ्यप्रद है जबकि इनका विषमयोग रोगोत्पादक बनता है। यही असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग कहलाता है। यह दोनों रोगोत्पादक कारण, प्रज्ञापराध के परिणामस्वरूप हैं। प्रज्ञापराध से बचकर रहना चाहिए।

मानवशरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के संयोग से बना हुआ है। यह संयोगवाही शरीर कहलाता है। उपर्युक्त पाँचों प्राकृतिक नियम के मिले-जुले परिपालन से यह संयोगवाही शरीर स्वस्थ रहता है। केवल हिताहार विहार ही शरीर को स्वस्थ नहीं रख सकता, इसके लिए सुधरे हुए हिताचारविचार की अधिक आवश्यकता है। तभी तो शरीर के स्वास्थ्य के साथ-साथ मन की प्रसन्नता और आत्मा की शान्ति प्राप्त होने से पूर्ण स्वास्थ्य कहा जा सकता है अन्यथा नहीं। यह सभी बातें योगसाधना से सम्भव हो जाती हैं।

### आठवाँ अध्याय

# घरेलू उपचार-दीपिका

आधुनिक महँगाई के युग में एक ओर डॉक्टरों की कमरतोड़ फीस की अदायगी, दूसरी ओर मूल्यवान औषधियों की खरीदगी, निम्न और मध्यम वर्ग के व्यक्तियों के लिए एक चिन्ताजनक समस्या बन गई है। परिवार में कोई व्यक्ति रोगग्रस्त हो गया, तो सम्पूर्ण परिवार पर उद्विग्नता छा जाती है। परन्तु बुद्धिमान मनुष्य के लिए यह चिन्ता का कोई विषय नहीं बनता। वह आयुर्वेदिक चिकित्सा की करामातों से परिचित है। वह अपने रोगी को इसी चिकित्सा पद्धति के द्वारा थोड़े खर्च से ही रोगमुक्ति दिला सकता है।

महर्षि चरक और श्री वागभट्टाचार्य तथा सुश्रुताचार्य आदि जगद्विख्यात आयुर्वेदज्ञों द्वारा, यह आयुर्वेद-जीवन शास्त्र एक परीक्षित और विश्वस्त चिकित्सा पद्धति है। इसकी चिकित्सा आज भी उतनी ही प्रभावशाली है, जितनी यह कई शताब्दियों से पहले थी। यह इतनी प्रचलित थी कि हमारे पूर्वजों ने इसकी परखी हुई औषधियों से एक घरेलू-उपचार-पद्धति चालू की थी। वह परिवारगत विकार-ग्रस्त व्यक्तियों की चिकित्सा स्वयं ही किया करते थे और उन्हें रोगमुक्ति भी दिलाते थे। आज के युग में भी घरेलू-उपचार-पद्धति दूरवर्ती पहाड़ी क्षेत्रों में प्रचलित है। लेखक ने स्वयं कई क्षेत्रों में जाकर वह ग्रामीण वयोवृद्ध चिकित्सक देखें हैं जो अपने घरेलू-उपचार द्वारा आयुर्वेदिक औषधियों से अपने कुटुम्बियों और निकटवासियों में, रुग्ण व्यक्तियों की चिकित्सा करके रोगमुक्ति दिलाते हैं। वह इस वृत्ति के द्वारा अपनी जीवन यात्रा भी चलाते हैं और नाम भी कमाते हैं। और आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति को जीवित रखे हुए हैं।

सभी रोग एक समान नहीं होते। बहुत से रोग ऐसे भी होते हैं जो साधारण औषधियों से ही ठीक प्रकार से दूर किये जा सकते हैं। अतः रोगों का प्रारम्भिक उपचार, स्वदेशी औषधियों से ही करना श्रेयस्कर रहता है। बहुत बार निरीक्षण में आया है कि आरम्भ में ही अन्धाधुन्ध शक्तिमान औषधियाँ देने से लाभ के स्थान पर हानि ही पहुँची है और मक्खी उड़ाने के लिए पत्थर मारने का परिणाम मिला है। अतः विकारों का शमन उपाय, बड़ी सावधानी से आरम्भ करना चाहिए। विकारों का शमनोपाय इस पुस्तक के पहले भाग में विस्तार से लिखा गया है। पाठकों को दत्तचित्त होकर इसका अध्ययन करना चाहिए। इसको अवगत करके ही आप घरेलू-उपचार का कार्यभार सँभाल सकते हैं। अधिक जानकारी के लिए

जगत विख्यात 'चरकसंहिता' का अध्ययन करना चाहिए। स्मरण रहे कि घरेलू चिकित्सा केवल सुसाध्य रोगों के उपचार के लिए लिखी गई है। कष्टसाध्य रोगों का उपचार सुशिक्षित वैद्य ही कर सकते हैं।

लेखक यहाँ इसके सम्बन्ध में कुछ काम आने वाली आवश्यक बातें पुनः दुहरायेगा, ताकि पाठकगण इनको भलीप्रकार से अवगत करके लाभान्वित हो सकें।

## चिकित्सा में काम आने वाली बातें

हम प्रतिदिन भोजन करते हैं। इसके सार भाग से शरीर के धातु पोषित होते रहते हैं और किट्ट भाग से मल बनते हैं जैसे पुरीष, मूत्र, स्वेद और गन्दी वायु आदि-आदि। इन मलों को प्रकृति स्वयं ही शरीर के विभिन्न अंगों, प्रत्यंगों और यन्त्रों के द्वारा शरीर से बाहर निकालती रहती है और शरीर स्वस्थ रहता है। प्राकृत-जीवन के नियमों का उल्लंघन करनेसे शरीर में उपरोक्त मलों का संचय होता रहता है। मलों का संचय होने से वात, पित्त और कफ दोष भी संचित हो जाते हैं और वृद्धि पाकर अपनी समावस्था को छोड़कर विषमावस्था को प्राप्त हो जाते हैं और कुपित होकर रोग उत्पन्न कर डालते हैं। मलों का संचय होने पर प्रकृति अब असाधारण (विशेष) शोध-क्रिया चालू करती है। इस असाधारण-शोध-क्रिया का चालू हो जाना किसी रोग की उत्पत्ति का द्योतक होता है, चाहे वह ज्वर हो, पेट दर्द हो, कटिशूल हो या और कुछ। अतः रोग उत्पन्न होने पर घबराना नहीं चाहिए, यह प्रकृति की असाधारण-शोध-क्रिया होती है। इससे रोग, अपने-आप ही शरीर से बाहर निकल जाएगा अपने समय पर। ऐसी अवस्था में प्रकृति को, रोगी की सहायता की आवश्यकता होती है। प्रकृति इस असाधारण-शोध-क्रिया का भार जठराग्नि को सौंपती है। जठराग्नि अपने स्थान (आमाशय) से बाहर निकलकर, सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है और शुद्धि के काम में जुट जाती है। शरीर उष्ण हो जाता है और ज्वरावस्था उपस्थित हो जाती है। ऐसी अवस्था में भूख लगनी बन्द हो जाती है क्योंकि जठराग्नि अपने स्थान (आमाशय) से बाहर निकली हुई होती है। भूख लगे तो कैसे ? ऐसी दशा में उपयुक्त यही है कि ठोस भोजन बन्द रखा जाये, इसके स्थान पर लघु-तरल-आहार दिया जाये, ताकि जठराग्नि की सारी शक्ति केवल असाधारण-शोध-क्रिया की ओर संलग्न रहकर रोग को शरीर से बाहर निकालने में शीघ्रतापूर्वक सफल रह सके। भोजन बन्द रखना ही, प्रकृति की सहायता कहलाती है, इससे जठराग्नि की शक्ति भोजन पचाने के काम से मुक्त रहती है। इसी को लंघन कहते हैं। लंघन से शरीर का संचित मल धीरे-धीरे साफ होता रहता है, दोष भी समावस्था में आते हुए स्वस्थावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। लंघन में ठोस भोजन बन्द रखा जाता है, रोगी को लघु-तरल-आहार पर रखा जाता है। इससे शरीर में लाघवता (हल्कापन) शीघ्र आ जाती है। दो-तीन दिन के लंघन से शरीर अपने आप ही स्वस्थावस्था

प्राप्त कर लेता है। स्मरण रहे बाल, वृद्ध और गर्भिणी को लंघन नहीं कराना चाहिए।

## प्रकृति की सहायता

प्रकृति की सहायता निम्न प्रकार से की जा सकती है—

(क) रोगी को यदि भूख नहीं है अथवा थोड़ी है तो उसे ठोस भोजन नहीं देना चाहिए, उसे लघु-तरल-आहार पर रखना चाहिए। इससे प्रकृति को सहायता मिलती है, वह रोग को शरीर से बाहर निकालने में सफल रहती है, क्योंकि उसके शोधन कार्य में कोई रुकावट नहीं होती।

(ख) रोगी थका हुआ एव अशान्त होता है। उसको बिस्तर पर लिटाकर पूर्ण आराम पहुँचाना चाहिए और मन को भी सान्त्वना देकर शान्त बनाये रखना चाहिए।

(ग) "शीतेनोष्णकृतान् रोगाञ्छमयन्ति भिषग्विदः।'
ये तु शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम्॥"

अर्थात् उष्णकृत रोग से पीड़ित रोगी के, उष्ण के विपरीत, शीतगुण प्रधान औषधियों और आहार आदि के प्रयोगों से, रोग का शमन हो जाता है और शीत-कृत रोग से पीड़ित रोगी को, शीत के विपरीत, उष्णगुण प्रधान औषधियों और आहारादि उपचारों से, रोग का शमन हो जाता है। यह प्रकृति का नियम है। अत: उष्णकृत रोग से पीड़ित रोगी को उष्णगुण प्रधान औषधि और उष्णगुण प्रधान आहार-विहार का सेवन वर्जित है क्योंकि इससे उष्णता की वृद्धि होगी, ह्रास नहीं होगा। इसी प्रकार शीतकृत रोगों में शीतगुण प्रधान औषधि और खानपान वर्जित है क्योंकि ऐसा करने से शीत की वृद्धि होगी जिससे रोग भी बढ़ता जाएगा। इसी नियम के अनुसार लघु-तरल-आहार का प्रयोग भी करना चाहिए अर्थात् उष्णकृत रोगों में शीत गुण प्रधान लघु-तरल-आहार और शीतकृत रोगों में उष्ण गुण प्रधान लघु-तरल-आहार।

(घ) रोगी की परीक्षा करके देख देना चाहिए कि उसके शरीर में किसी प्रकार का मल संचय तो नहीं हुआ है। यदि हो, तो उसे सर्वप्रथम हटाना चाहिए। मलसंचय को बस्तिकर्म से अथवा किसी रेचक औषधि से, स्वेद विरोध को स्वेद लाकर, मूत्रावरोध को मूत्र खोलकर मल संचय हटाना चाहिए। इसी प्रकार रोगी के लक्षणों की परीक्षा करके यह भी देख लेना चाहिए कि रोग किस प्रकार के दोष के कोप से हुआ है ताकि उस दोष के लक्षणों के विपरीत गुणवाली औषधियों और आहार-उपचार आदि से उसका शमन उपाय किया जा सके। स्मरण रहे कि वात और कफ दोषों से उत्पन्न रोग शीतकृत रोग कहलाते हैं और पित्त दोष से उत्पन्न रोग उष्णकृत रोग कहलाते हैं।

(ङ) "बिना भेषजैर्व्याधि पथ्यादेव निवर्तते।
न तु पथ्य विहीनस्य भेषजानां शतैरपि।"

अर्थात् औषधि प्रयोग के बिना ही केवल पथ्य सेवन से रोग दूर हो जाते हैं। पथ्य न रखा जाये तो सैंकड़ों औषधियाँ प्रयोग करने पर भी स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता। अतः आरम्भ में ही कीमती और शक्तिशाली औषधियों से उपचार नहीं करना चाहिए। सरल औषधियों से, पथ्य रखने से, उपरोक्त विधि-विधान से प्रायः ९०% रोग दो-तीन दिन में ठीक हो जाते हैं। दुःसाध्य रोग पीड़ितों को, रोग विशेषज्ञ चिकित्सक के पास चिकित्सा के लिए भेजना चाहिए।

**लघु-तरल-आहार**—जल और दूध से पकाया हुआ साबूदाना, चाय और डबल रोटी, मूंग और चावल की पकाई हुई पतली खिचड़ी, मटर की तरी (सूप), सम-भाग मिश्रित उबाला हुआ गाय का दूध और जल, ६० ग्राम किशमिश का एक कप शीरा, यवोदक, ग्लुकोज मिश्रित जल, नींबू रस मिश्रित जल; मौसम्बी, मीठा अनार और तरबूजा आदि फलों का स्वरस, ४ भाग जल मिश्रित दही की लस्सी। इनका प्रयोग उष्णकृत और शीतकृत रोगों में, उपचार विधि-विधान के अनुसार करना चाहिए।

अपने कई मित्रों व शुभ चिन्तकों के आग्रह पर, चिकित्सा क्षेत्र में अपने ५० वर्षीय परीक्षित योग बहुत से रोगों पर लिख देता हूँ। आप भी इनसे काम ले सकते हैं और अपने रोगियों को रोगमुक्ति दिलाकर उनका आशीर्वाद प्राप्त कर सकते हैं।

## ज्वरों का उपचार

(क) **सर्व ज्वरहर क्वाथ**—काहजबान कश्मीरी (गो जिह्वा) ३ ग्राम, लसूढ़ियाँ ७ दाने, सौंफ ३ ग्राम, मुलहठी ३ ग्राम और गिलो शाखा (शुष्क) ३ ग्राम। क्वाथार्थ जल ४०० ग्राम, अवशेष २०० ग्राम। यह एक मात्रा है। ऐसी ३ मात्रायें दिन में ३ बार दें। ज्वर दो-तीन दिन में उतर जाता है। पथ्य, लघु-तरल-आहार जो उचित हो। उष्ण वा शीत गुण प्रधान।

**विशेष**—उष्ण कृत ज्वर में उपरोक्त क्वाथ के साथ काहजबान कश्मीरी ६ ग्राम का एक किलो ग्राम जल में बनाया हुआ श्रृत शीतफांट (अर्क) का एक-एक कप दिन में ३-४ बार पिलायें। शीतकृत ज्वर में तुलसी पत्र ८-१० पत्ते अथवा सब्ज चाय २ ग्राम, दारचीनी यवकुट करके २ ग्राम और काली मिर्च ५-७ दाने, सभी का एक कप चाय बनाकर चीनी डालकर गरम-गरम प्रातः सायं दो बार पिलायें और कम्बल ओढ़ाकर लिटायें। स्वेद आकर ज्वर उतर जाता है। स्मरण रहे कि कभी-कभी पाँच-सात दिनों तक ज्वर उतरने में नहीं आता, रोगी की जीभ मैली दागदार हो गई हो, उदर को दबाने से उसे पीड़ा मालूम होती हो,

और ज्वर पित्तप्रधान हो तो उसको आन्त्रिक ज्वर (Typhoid Fever) समझ-कर तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

(ख) **आन्त्रिक ज्वर हर क्वाथ**—काहजबान कश्मीरी ३ ग्राम, लिसूढ़ियाँ ७ नग, बेर (उन्नाब) ५ नग, आलू बुखारा (शुष्क) ५ नग, (नीलकमल) नीलोफर फूल (कश्मीरी) ५ नग। यह एक मात्रा है। क्वाथार्थ जल ४०० ग्राम। अवशेष क्वाथ २०० ग्राम। दिन में ३ मात्राएँ पिलायें। ८-१० दिन तक ज्वर उतर जाएगा विबन्ध खोलने के लिए सप्ताह में दो बार एनिमा (वस्ति) देवें।

**उपद्रव चिकित्सा : उच्च ताप** (High Fever)—ठण्डे जल की पट्टियाँ माथे और कनपटियों पर लगायें अथवा गुलाब अर्क ५० ग्राम और काफूर १ टिक्की, सभी को पात्र में मिलाकर, इसमें भिगोया हुआ कपड़ा माथे और कनपटियों पर लगानी चाहिए। दो चार पट्टियों के लगाने से उच्च ताप उतर जाता है तथा प्रलाप और तन्द्रा भी दूर हो जाती है।

(ग) **तालुशोष और जिह्वा शोष**—आलू बुखारा शुष्क को मुँह में चूसते रहने से मुख शोष, तालु शोष और जिह्वा शोष दूर हो जाता है। दिन में ४-५ दाने चूस लेने चाहिएँ। अथवा

इसबगोल दाना २ चम्मच भर मलमल के कपड़े में पोटली बनाकर लकड़ी की तीली से बाँधकर शुद्ध पकाये हुए ठण्डे जलपात्र में भीगने को रखें। आधे-आधे घण्टे के पश्चात् तीली को उठाकर रोगी को चूसने को देते रहें। इससे भी मुख शोष दूर हो जाता है।

(घ) **मूर्च्छा और तन्द्रा** (Fainting)—मुखमण्डल पर और नथुनों के आस-पास गुलाब का अर्क और बेदमुश्क का अर्क छिकड़ते रहें तथा बकरी के दूध पर बारासिंघा को घिस लें। इसमें मलमल की ४" × ४" दोहरी पट्टी भिगोकर हृदय के स्थान पर छाती पर रखें। सूख जाने पर दूसरी या तीसरी पट्टी रख लेने से मूर्च्छा दूर हो जाती है। रोगी बातें करने लगता है।

**अतिसार** (Diarrhoea)—काहजबान कश्मीरी ४ ग्राम, काहूबीज ४ ग्राम और कासनी बीज ४ ग्राम का क्वाथ, दिन में ऐसी दो मात्रायें दें। अतिसार का उपद्रव शान्त हो जाएगा। दस्तों को रोक लगाता है।

**वमन** (Vomiting)—जहरमोहरा ५ ग्रेन पीसकर, ४-५ छोटी इलायची के क्वाथ से दिन में तीन बार पिलायें।

**शीतांगावस्था** (Collapse)—दारचीनी २ ग्राम का क्वाथ बनाकर पिलायें अथवा शास्त्रोक्त कस्तूरीभैरव रस अथवा शनक कुम्कुमादि वटी दो वटियाँ दिन में तीन बार खिलायें।

**तरल-लघु-आहार व्यवस्था**—रोगी को शीतगुणप्रधान तरल-लघु-आहार दें यथा—यवपानक दें। विधि—६० ग्राम कुटित जौ को १६०० ग्राम जल में ४-५

बार उबालें या १००० ग्राम शेष रखें। इसको दिन भर २-३ घण्टे के अन्तर से एक-एक कपभर पिलाते रहें। इसी प्रकार तरबूज का स्वरस सौ-सौ ग्राम की मात्रा में दिन में एक दो बार पिलायें। अनार दाना मीठा चूसने को दें, मौसम्बी का स्वरस पिलायें। सभी कुछ मात्रापूर्वक तीन-चार घण्टों के अन्तर से देते रहें। ग्लुकोज मिश्रित जल भी पिलाते रहें। तापमान ९८.४° पर आकर पेयादि क्रम से पथ्य रखें और पूर्ण शारीरिक वल प्राप्त होने तक पथ्य से रहें नहीं तो पुनरावर्तन का भय बना रहता है।

**कास (Cough) में**—कास रोगोक्त औषधियों के प्रयोग से कास उपद्रव को शान्त करना चाहिए।

**जीर्ण ज्वर वासादिघन वटी** (Chronic Fever)—वांसा पंचांग १ किलो लेकर ८ किलो जल में क्वाथ करें। चौथाई भाग शेष रहने पर उतार कर छान लें। अब पुनः चूल्हे पर चढ़ाकर रसक्रिया करके गाढ़ा बनायें। फिर पिप्ली चूर्ण ६ ग्राम और मधु ५० ग्राम का प्रक्षेप देकर मिलाते रहें। गाढ़ा होने पर नीचे उतारकर चालनी से चलाते रहें। शीत होने पर शीशी में सुरक्षित रखें। मात्रा—८-१० ग्रेन दिन में तीन बार। प्रयोग काल ४० दिन। अनुपान ठण्डा किया हुआ उष्णोदक। इसके प्रयोग से वर्षों का पुराना बुखार हट जाता है। यदि कास बार-बार उठती हो और शुष्क हो, तो उसके लिए कास दमन वटी की दो-दो मात्रायें तीन बार दिन में उपरोक्त औषधि के तीन-तीन घण्टे पश्चात् देते रहें। यह जीर्ण ज्वर की रामवाण औषधि है।

**(क) यक्ष्मा तापे, शनक कहरुबादि चूर्ण** (Tuberculosis)—कहरुबा (शमई) ५० ग्राम, गुलनार फारसी ५० ग्राम, गोंद कतीरा १०० ग्राम, गोदन्ती भस्म १२ ग्राम शुद्ध चाँदी के वर्क ५० नग। सभी द्रव्यों को पृथक्-पृथक् सूक्ष्म पीस लें, और खरल में मिश्रित करके शीशी में रख लें। मात्रा ६ ग्राम, दिन में दो बार। निम्न अनुपात से उन्नाव (बेर) १५ नग, लिसोढी १० नग, मुलहठी ३ ग्राम, बिही फल के बीज ३ ग्राम (यह एक प्रकार का सेब होता है), मुनक्का ३ ग्राम, खत्मीबीज ३ ग्राम, खब्बाजी बीज (सौंचल) ३ ग्राम, सभी को ५०० ग्राम जल में क्वाथ करके २५० ग्राम शेष रहने पर उतारें, कोसा होने पर मात्रा के ऊपर पिलायें। सायं को भी इसी प्रकार पिलायें। तीन दिन तक इसी चिकित्सा को चालू रखें। भोजन के स्थान पर केवल उबाला हुआ गाय का दूध पिलायें। ३ किलोग्राम तक दूध पिला सकते हैं।

गुण—खून की उलटियाँ रुक जायेंगी, ज्वर और कास भी शान्त हो जायेगा।

**(ख) यक्ष्मातापे** (जिसमें रक्त की उल्टियाँ नहीं आती हैं)—इसमें कहरुबादि चूर्ण के अतिरिक्त उपरोक्त जीर्ण ज्वर में लिखी गई वासादिघन वटी वहुत लाभदायक औषधि है। इसको ८-१० ग्रेन की मात्रा में आठ-आठ घण्टे के

अन्तर से देते रहना चाहिए। दुर्बलतानिवारणार्थ च्यवनप्राश अवलेह १०-१२ ग्राम की मात्रा से दिन में दो बार देते रहें। कास की शान्ति के लिए सितोपलादि चूर्ण २-३ ग्राम की मात्रा से दिन में तीन बार देना चाहिए। यदि कास शुष्क हो, रुक-रुककर बहुत बार आकर व्याकुल करती हो तो कासदमन वटी का प्रयोग करवाएँ। इसकी दो-दो वटियाँ आठ-आठ घण्टों के अन्तर से वासदिघन वटी के चार घण्टे के पश्चात् देते रहें। इसका वर्णन कास चिकित्सा के वर्णन में आया है। एक टी०बी० रोगी, जिसे टी०बी० हस्पताल से एक महीने की चिकित्सा के पश्चात् असाध्य मानकर अवकाश मिला था, उसको उपरोक्त औषधियों से स्वास्थ्य लाभ हुआ है। वह दो दशक वर्ष पर्यन्त स्वास्थ्यपूर्वक जीवित रहा।

(ग) **अंस और पार्श्वशूल हर लेप**—बारासिंघा को बकरी के दूध पर घिसकर चूहे की मेंगनें १० ग्राम मिलाकर पार्श्वों पर लेप दिन में दो-तीन बार लगाना चाहिए। लेप मलमल के टुकड़े पर थोड़ा गरम करके लगायें।

(घ) दुर्बलता के निवारणार्थ शास्त्रोक्त च्यवनप्राश का निरन्तर प्रयोग किया जाये।



**विषम ज्वर : मलेरिया** (Malaria)—(क) फिटकरी खील चूर्ण १० ग्राम और खांड पीसा हुआ ४० ग्राम मिलाकर शीशी में रखें। मात्रा—दो ग्राम, दिन में तीन बार कोसे जल से दिया जावे। गर्भवती के लिए यह औषधि निषिद्ध है। अथवा

(ख) कुटकी चूर्ण और खांड चूर्ण समभाग मिलाकर शीशी में रखें। मात्रा दो ग्राम, दिन में तीन बार, अनुपान कोष्ण जल। दो-तीन दिन में मलेरिया ज्वर दूर हो जाता है। विवन्ध हो तो त्रिफला चूर्ण ६ ग्राम रात को दूध या कोष्ण जल से दें। खट्टा-मीठा अनार चूसने से अथवा नींबू रस मिश्रित जल का कप दिन में ३-४ बार लेने में मलेरिया ज्वर टूट जाता है।

**श्वसनक ज्वर : निमोनिया** (Pneumonia)—इसमें उच्च ताप, खाँसी, साँस का फूलना, पसलियों में पीड़ा, छाती कफ से बन्द और तन्द्रा आदि लक्षण होते हैं।

**मधुयष्टयादि चूर्ण**—मुलहठी १० ग्राम, सत्त्वगिलो १० ग्राम, काकडासिंगी १० ग्राम, तवाशीर (असली) १० ग्राम, मुल्हठी घनसत्त्व (रब्ब-उल-सूस) १० ग्राम, शक्करतीगाल १० ग्राम, मिश्री कूजा ३० ग्राम।

विधि—सब औषधियों को पृथक्-पृथक् सूक्ष्म पीस लें। तोलकर खरल में मिश्रित करके पीसकर शीशी में रखें। मात्रा ४ ग्राम, दिन में चार बार गरम जल के साथ। एक वर्षतक के बच्चे के लिए १५ ग्रेन, दिन में चार बार उष्णोषदक से मिलाकर चटाएँ। ६ वर्ष के लिए २ ग्राम और १२ वर्ष के लिए ३ ग्राम की मात्रा में देते रहें। सप्ताह भर तक प्रयोग करने से उपद्रवों सहित रोग दूर हो

जाता है। इस प्रयोग से छाती में लिप्त हुआ कफ कटकर निकल जाता है। छाती खुल जाती है और पसलियों की पीड़ा और सूजन दूर हो जाती है। ज्वर, काँस, श्वास और उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

**उपद्रव = सन्निपात और तन्द्रा पर**—शनक कुम्कुमादि वटी की दो वटी दिन में चार वार उपरोक्त चूर्ण के साथ तीन-तीन घण्टों के अन्तर से देते रहें। इसका उल्लेख प्रसत ज्वर में आया है।

**पार्श्वशूल**—बारासिंगा को पत्थर पर गरम जल के साथ घिसकर छाती और पार्श्वों पर कोसा करके लेप लगायें। अथवा तिलतेल १० ग्राम और कपूर दो टिक्की, इसको थोड़ा गरम करके छाती पर अभ्यंग करें ऊपर रुई के टुकड़े से सेक करें। इससे पीड़ा और सूजन दूर हो जाती है।

**शिरश्शूल (सिर दर्द)**—काफूर १० ग्राम, सतपुदीना १० ग्राम और सत अजवायन १० ग्राम। सभी को एक शीशी में डालकर ढक्कन लगाकर रखें। यह घुल-मिलकर तेल बन जाएगा, इसकी दो-चार बूंदें माथे, कनपटियों और नथुनों के आस पास मल लें। सिर दर्द में आराम करता है। इसके अतिरिक्त इसकी ४-५ बूंदें बतासे में लेने से उदर पीड़ा, अजीर्ण, अतिसार और वमन को भी दूर हो जाती हैं।

**वातश्लेष्मिक ज्वर** (Influenza)—इस ज्वर में मधुयष्ट्यादि चूर्ण ही गुणदायक है। इसका उल्लेख श्वसनक ज्वर में आया है। इसको उपरोक्त मात्रा के अनुसार प्रयोग करवायें और उपद्रवों को भी उसी लेख के अनुसार प्रतिकार करें। इससे दो-तीन दिन में ज्वर, कास, अंगमर्द, पार्श्वशूल और प्रतिष्यायादि दूर होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ३-४ दिन में रोगी को पूर्ण आराम आ जाता है।

(ख) सात तुलसी के पत्ते, अभाव में बुमई चाय के पत्र १ ग्राम, काली मिर्च ५ दाने और दारचीनी १ ग्राम तीनों की चाय का एक कप बनाकर, खाँड मिलाकर प्रातःसायं पिलायें। इससे भी स्वेद आकर प्रतिष्याय (जुकाम), कांस और ज्वर दूर हो जाता है। प्रयोग करके लाभ उठायें।

**प्रसूत ज्वर** (Puerperal Fever) : **कुम्कुमादि वटी**—केसर ३ ग्राम, नागकेसर ३ ग्राम, काली मिर्च ३ ग्राम, कस्तूरी १/२ ग्राम, लौंग ६ ग्राम, अकरकरा ६ ग्राम, छोटी इलायची ६ ग्राम, पिपलामूल ६ ग्राम, पिपली ६ ग्राम, जलवित्री १२ ग्राम, जायफल १ नग और सौंठ ३५ ग्राम।

विधि—सौंठ को यवकुट करके ५५० ग्राम जल में क्वाथ करके जब आधा शेष रह जाये तो छान कर पृथक् रख लें। अब खरल में सोंठ के क्वाथ के साथ एक-एक करके, कस्तूरी से आरम्भ करके सभी औषधियों को डालते हुए खरल करते जायें। वटियाँ बनने के योग्य होकर चने के प्रमाण वटियाँ बना लें, और

सुखाकर शीशी में बन्द रखें। यह प्रसूतं-ज्वर, वात श्लैष्मक ज्वर, श्वसनक-ज्वर और सन्निपात ज्वर के लिए रामबाण समान औषधि है। पथ्य—उष्ण गुण प्रधान खान पान है।

**पाचक संस्थान** (Digestive System)

**मुखपाक** (stomatitis)—(क) तबाशीर (असली) १० ग्राम, कत्था १० ग्राम और कतीरा सफेद १० ग्राम। तीनों द्रव्यों को पृथक्-पृथक् पीसकर और वजन करके, खरल में मिलाकर शीशी में रखें। इसकी एक-एक चुटकी मुह के छालों पर दिन में २-३ वार छिड़काया करें। २-३ दिनों में आराम आ जाता है। अथवा

(ख) सुहागा खील पीसी हुई ३ ग्राम को मधु या ग्लीसिरीन १० ग्राम के साथ मिलाकर शीशी में रखें। रुई के फोहे से छालों पर दिन में ३-४ वार लगाते रहें। मुखपाक दूर हो जाएगा।

(ग) विबन्ध की दशा में सत इसबगोल ३-४ चम्मच, जल २०० ग्राम में घोलकर रात को पिलावें, अथवा त्रिफला चूर्ण ६ ग्राम रात को दूध के साथ लें।

**अरुचि**—(क) अदरक २-३ ग्राम भर के टुकड़ों पर थोड़ा नमक और नींबू रस छिड़ककर, भोजन से घण्टा भर पहले सप्ताह भर प्रयोग करते रहने से अरुचि दूर हो जाती है। अथवा

(ख) अनारदाना २० ग्राम में थोड़ा-सा नमक, काली मिर्च और खाँड मिलाकर चटनी बनायें। भोजन के साथ प्रयोग करने से अरुचि, मुँह की दुर्गन्ध, और मुँह का बिगड़ा स्वाद दूर हो जाता है। अथवा दो लौंग मुँह में चूसने से अरुचि, उबकाई, यात्रा में जी मिचलाना, अम्लपित्त और दाँतों की पीड़ा दूर हो जाती है।

**तृषा (प्यास)** (Trirst)—(क) अनारदाना ६० ग्राम को घण्टा भर एक किलो जल में मिट्टी के पात्र में डालें। फिर छानकर एक-एक घूंट भर खांड मिलाकर पीने से प्यास, जलन और वमन (उल्टी) दूर हो जाती है। अथवा

(ख) धनिया २० ग्राम को जल ५०० ग्राम में घण्टा भर भिगोने को रखें। फिर घूंट-घूंट भर पीने से प्यास, उल्टियाँ, चक्कर और घबराहट दूर हो जाती है।

**वमन** (Vomitting)—(क) अफीम, काफूर और नौसादर ठीकरी, तीनों को समभाग लेकर खरल में जल के साथ पीसकर मूंगदाने के समान, वटियाँ बनाकर शीशी में रखें। आवश्यकता के अनुसार एक बार एक वटी दिन में दो-तीन बार दी जा सकती है अथवा

(ख) नींबू काटकर उसके टुकड़े में नमक और काली मिर्च डालकर चूसने से वमन शान्त हो जाती है। दिन में दो-चार बार चूसा जा सकता है। अथवा

(ग) जहरमोहरा भस्म १० ग्रेन लेने से वमन रुक जाता है। दिन में तीन बार लें। अथवा

(घ) इमली की गिरी चूसने से वमन रुक जाता है। अथवा

(ङ) ४-५ छोटी इलायची लेकर २५० ग्राम जल में अर्द्धावशेष क्वाथ तैयार करके थोड़ा गरम-सा रहने पर पिलाने से वमन और हिचकी रुक जाती है।

**हिचकी** (Hiccouph)—(क) मोरपंख की राख ५ ग्रेन, पिपली चूर्ण ५ ग्रेन को मिलाकर, चार-पाँच इलायचियों के अर्क १०० ग्राम के साथ देने से हिचकियाँ और वमन दूर हो जाते हैं। दिन में ३-४ बार दे सकते हैं।

(ख) अदरक के ताजा टुकड़े चूसने से हिचकियाँ दूर हो जाती हैं।

**उदर शूल** (Abdomen pain) (क) **(शीतकृत)**—अजवायन देसी १०० ग्राम और काला नमक २५ ग्राम, दोनों को सूक्ष्म पीसकर शीशी में रखें। मात्रा २ ग्राम, दिन में दो बार भोजन के ऊपर, उष्ण जल के साथ दें। गुण—पेट दर्द, आध्मान, वायु गैस, शीतकृत उदर रोग, मन्दाग्नि, अजीर्ण, अरुचि, अतिसार, तिल्ली रोग, रात को बार-बार मूत्र आने में तथा कृमिरोग में लाभ करता है। इस योग को कृमिरोग में बच्चों को १/२ ग्राम और बड़ों को २ ग्राम की मात्रा में रात को सोते समय गरम जल से दें। तीन से सात दिन तक सेवन करने से कृमि-रोग समाप्त हो जाता है।

(ख) **उदरशूल (उष्ण कृत)**—सौंफ १२ ग्राम, सफेद जीरा ६ ग्राम, खाँड १२ ग्राम। सभी को बारीक पीसकर शीशी में रखें। मात्रा १ ग्राम, अनुपान ताजा जल, प्रातः-सायं प्रयोग करें। इससे अरुचि, उल्टी, अफारा, गरमी का पेट दर्द और आमाशय सम्बन्धी सभी रोग दूर हो जाते हैं।

**अतिसार (दस्त)** (Diarrhoea)—(क) बड़ी इलायची ४ नग, हब्बुल-लास ४ ग्राम, पुदीना ४ ग्राम, दारचीनी डेढ़ ग्राम। क्वाथार्थ जल २५० ग्राम अवशेष १२५ ग्राम। एक मात्रा है। ऐसी ३ मात्रायें दिन में देवें। बच्चों के लिए एक मात्रा का १/३ दिन में तीन बार देवें! पथ्य—नींबू रस का जल अथवा तीनगुण जल मिलकर बनी हुई दही की लस्सी नमक डालकर दे। अतिसार वन्द होने पर दही के मट्ठे के साथ चावल दे सकते हैं। अथवा

(ख) सौंफ और सफेद जीरा समभाग लेकर तवे पर भूनकर पीस लेवें। मात्रा ३ ग्राम, चार-चार घण्टे के अन्तर से देवें। अतिसार बन्द हो जाता है।

**ज्वरातिसार**—काहजबान कश्मीरी ३ ग्राम, लसूढ़ी ७ नग, गुलाबपत्र सूखा ४ ग्राम, बादरंजबोय ६ ग्राम, सौंफ ४ ग्राम, यह एक मात्रा है। बड़ों के लिए दिन में ३ मात्राओं का क्वाथ, बच्चों को १/३ मात्रा दिन में ३ बार दें। दो-तीन दिन तक प्रयोग करने से ज्वर और अतिसार दोनों विकार दूर हो जाते हैं।

**पित्तज अतिसार**—धनिया शुष्क ४ ग्राम, सफेद जीरा ४ ग्राम, मकोबीज ६ ग्राम, नीलोफर फूल ९ नग, जिरशक १० ग्राम। क्वाथ जल ५०० ग्राम, शेष २५० ग्राम। एक मात्रा है। बड़ों के लिए दिन में ३ मात्रायें ३ बार दें और बच्चों

को १/३ मात्रा दिन में ३ बार दें। यह दाह, प्यासयुक्त भयंकर अतिसार नाशक है। दो-तीन दिन प्रयोग किया जाना चाहिए।

**रक्तातिसार (खूनीदस्त)**—(क) अंजबार मूल १२५ ग्राम, हब्बुल्लास ६० ग्राम, सफेद चन्दन बूरा ६० ग्राम, मधुर दाडिमत्वक ६० ग्राम, क्वार्थार्थ जल ३ किलो, शेष जल ७५० ग्राम, खाँड ६२५ ग्राम डालकर कवाम करके बोतल में रखें। मात्रा–बड़ों के लिए ३-४ चम्मच दिन में ३ बार। बच्चों के लिए १ चम्मच दिन में तीन बार देवें। गुण—अतिसार के साथ जब रक्त भी चलता हो, उसको बन्द करता है।

(ख) बेलगिरीं १० ग्राम, धनिया खुश्क १० ग्राम, मिश्री २० ग्राम। तीनों द्रव्यों को पीसकर शीशी में रखें। मात्रा ५ ग्राम, दिन में ३ बार दें। अनुपान जल। पथ्य—दही चावल और केले और दही का रायता ! गुण—रक्तातिसार शामक है।

(ग) धनिया चूर्ण ५० ग्राम और मिश्री ५० ग्राम। दोनों को मिलाकर शीशी में रखें। मात्रा—६ ग्राम, प्रातः सायं, भोजन से दो घण्टे पहले। जल से ! गुण—दस्त और पेचिश में रक्त आना रोकता है। इसके अतिरिक्त मूत्राशय की जलन, मूत्रदाह उत्तेजना, स्वप्नदोष ओर प्रमेह को दूर करता है।

**प्रवाहिका** (Dysentry)—(क) सत इसबगोल ५ ग्राम और बर्बरी के बीज ३ ग्राम। यह एक मात्रा है। यथावश्यकता दिन में दो बार सप्ताह भर देते रहें। अनुपान-नीलोत्पल फूल ५ नग का अर्क एक कप बनाकर दें।

(ख) सत इसबगोल ५ ग्राम को दही १२५ ग्राम में मिलाकर प्रातः सायं खाने से पेचिश कम हो जाती है और मल बन्ध हो जाता है। अतिसार रुक जाता है।

(ग) अरण्ड तेल २० ग्राम, गोंद कीकर ५ ग्राम और जल १२५ ग्राम। तीनों कोखरल में डालकर घोल बनायें। यह ५ मात्राएँ हैं। सर्वप्रथम इसी योग को एक दिन में चार-चार घण्टों के अन्तर से प्रयोग करें। ३-४ दिन के प्रयोग से कष्टदायक मरोड़युक्त प्रवाहिका शान्त हो जाती है।

(घ) मेथीदाना ३ ग्राम चूर्ण को दही में मिलाकर सेवन करने से अथवा मेथी का साग भोजन के साथ सेवन करने से आँवयुक्त नयी-पुरानी पेचिश दूर हो जाती है।

मैथीदाना ४ ग्राम को २०० ग्राम जल में २-३ बार उबालें। एक कप चाय बनाकर खाली पेट प्रातः और सोने से पहले, एक-दो सप्ताह भर पीने से आँव समाप्त हो जाती है। यह सभी संस्थानों में चिपके हुए आंव को बाहर निकालकर शरीर को लघु और कार्यक्षम बनाती है। यह मधुमेह, स्थौल्यता (मोटापन) और उच्च रक्तचाप को हटाती है। यह घुटनों और जोड़ों के शूल को भी दूर करती

है। यह औषधि धमनियों की अन्दरूनी दीवारों पर चिपके हुए मवाद को उखाड़ कर रक्त प्रवाह का मार्ग खोलकर साफ बनाती है और उनमें रक्त का थक्का (clot) बनाने की सम्भावना को घटाती है। इस प्रकार हृदयावरोध के आक्रमण घटकर धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं। प्रयोगकाल—एक मास में दो सप्ताह तक प्रयोग करना चाहिए और आवश्यकता के अनुसार इसी क्रम से दुहराना चाहिए।

(च) काहजबान (कश्मीरी) का शृतशीत फांट (अर्क) का एक-एक कप चार-चार घण्टों के अन्तर से पीने से प्रवाहिका के रक्तस्राव को रोकता है। दो-तीन दिन तक प्रयोग किया जाना चाहिए।

**गुदभ्रंश (काँच निकलना)** (Prolapsus Anui)—फिटकरी ६ ग्राम को १ किलो जल में डालकर विलयन बनाओ। इस विलयन को रुई के फोहे से काँच पर डालते जाओ। काँच सिकुड़ने लगेगी। अन्दर घुसाने से पहले बारीक पीसा हुआ काला सुर्मा, काँच के चारों ओर छिड़को। अब काँच को रुई के बड़े फोहे से धक्का देकर गुदा के अन्दर घुसाओ, ऊपर से पट्टी बाँधो। चावल और दही की छाछ का पथ्य रखो। काँच निकलनी बन्द हो जायेगी।

**अम्ल पित्त** (Acidity)—२ लौंग को मुँह में डालकर दोनों समय चूसने से अम्लपित्त में लाभ होता है। अथवा

**अवि पत्तिकर चूर्ण**—हरड़, वहेड़ा, आँवला, सोंठ, काली मिर्च, पिपली, नागरमोथा, बिडनमक, विडंग, छोटी इलायची बीज, तेजपात सब दस-दस ग्राम। लौंग ११ ग्राम, त्रिवी (तुर्बुद सफेद) ४४ ग्राम, खाँड ६६ ग्राम।

**विधि**—सब द्रव्यों को पृथक्-पृथक् पीसकर तोलकर शीशी में मिलाकर रखें। मात्रा ३-४ ग्राम भोजन के उपरान्त, दोनों समय ताजा जल से। अम्लपित्त दूर करता है।

**नीलकण्ठी आदि अर्क**—नीलकण्ठी (जानि आदम कश्मीरी) २५० ग्राम, बादरंजबोय (कश्मीरी) २५० ग्राम, अफसन्तीन २५० ग्राम, सौंफ १२५ ग्राम, गुलाब पुष्प पत्र १२५ ग्राम, तेजपत्र १२५ ग्राम, कासनी मूल (यवकुट) १२५ ग्राम, रूमी सौंफ ६० ग्राम, मकोबीज ६० ग्राम, कुर्तुमबीज (यवकुट) ६० ग्राम, खरबूजा बीज (यवकुट) ६० ग्राम, सभी ११ औषधियों को $७\frac{१}{२}$ (साढ़े सात) किलोग्राम जल में रात को भिगोकर प्रातः अर्कयन्त्र द्वारा $२\frac{१}{२}$ किलोग्राम अर्क निकाल लें। मात्रा ६० ग्राम। दिन में दो बार, भोजन से एक घण्टा पहले सेवन करवायें। गुण—नया-पुराना अम्लपित्त, वमन, आमाशयशूल, उदरशूल, गैसपीड़ा और यकृत शूल दूर हो जाये।

**अफसन्तीनादि पानक**—अफसन्तीन ५० ग्राम, पुदीना शुष्क २५ ग्राम, बादरंजबोय २५ ग्राम, गुलाब पत्र २५ ग्राम, श्वेत चन्दन बूरा (असली) २५ ग्राम, काहजवान (कश्मीरी) २५ ग्राम, सिरका एक बोतल और खाँड ५०० ग्राम।

विधि—काष्ठ औषधियों को चार किलोग्राम जल में क्वाथ करें। चौथाई भाग शेष रहने पर छानकर सिरका और खांड मिलाकर फिर पकायें। चाशनीदार कवाम लाकर ठंडा करके बोतलों में भर दें। मात्रा ३० ग्राम समभाग ताजा जल मिला कर, दिन में दो बार प्रयोग करें।

गुण—अम्लपित्त और तज्जनित शूल, वमन और दाह नाशक है। अपथ्य—अम्ल पदार्थ, विष्टमी और वायुकारक पदार्थों से।

**शुष्कार्श हरवटी**—एलुआ अथवा सिबर अर्बी २० ग्राम, रेवन्द असारा २० ग्राम, रूमीमस्तकी १० ग्राम, सौंठ १२ ग्राम, सकमोनिया विलायती ५ ग्राम। सभी औषधियों को पीसकर जल से चने प्रमाण वटियाँ बनायें। रात को सोते समय जल से १ से २ वटियाँ यथावश्यकता सेवन करें। विबन्ध खुला रहकर मौके भी घट जाते हैं।

**अर्शोहर लेप**—गाय का मक्खन ११ ग्राम और मरिचचूर्ण ११ नग। मक्खन को ताजा जल से १०० बार धोकर मरिच चूर्ण मिलाकर मस्सों पर लेप लगायें। मस्सों का दाह और शूल दूर हो जाएगा।

**रक्तार्श हर प्रयोग**—रसौंत १-२ ग्राम को १०० ग्राम दही में मिलाकर प्रातः सायं दिन में दो बार प्रयोग करने से रक्तस्राव रुक जाता है। प्रयोगकाल सप्ताह भर तक। पथ्य—चावल, दही, मूली और पत्रल तरकारी, कच्चा प्याज, टमाटर और दही की लस्सी भोजन के पश्चात् प्रयोग करें। केले का रायता और पपीते का प्रयोग भी लाभदायक है। मिर्च, मसाला और मद्य मांस उष्ण और रुक्ष पदार्थों से परहेज करना चाहिए।

**अर्शोहर अभ्यंग**—काफूर ३ ग्राम, अरण्ड तेल २५ ग्राम। तेल को गरम करके इसमें काफूर अच्छी तरह से मिलाकर शीशी में रखें। शौच के पश्चात् मस्सों को धोकर कपड़े से पोंछ लें; फिर तेल से धीरे-धीरे अभ्यंग करके इन्हें गुदा के अन्दर चढ़ाएँ। इस प्रयोग से दर्द और दाह (जलन) दूर हो जाते हैं।

**विबन्ध** (Constipation)—(क) **इसबगोल की भूसी** (सत) १०-१५ ग्राम अथवा २-३ चम्मच लेकर २०० ग्राम जल में घोलकर रात को सोते समय खाने से, प्रातः शौच खुलकर हो जाता है।

(ख) इसबगोल सत १०-१५ ग्राम, मक्खन गाय का १५-२० ग्राम, ग्लूकोज १० ग्राम—तीनों को अच्छी तरह चम्मच से मिलाकर रात को सोते समय प्रयोग करने से भी विबन्ध दूर हो जाता है।

**काली हरड़** १०० ग्राम अरण्ड तेल में भून लें, जल न जाए। ठण्डा होने पर पीस लें और ५० ग्राम देशी खाँड इसमें मिला लें। रात को सोते समय जल से अथवा उबाले हुए गो दूध २०० ग्राम से २ चम्मच चूर्ण फाँक लिया करें। गुण—विबन्ध नाशक है तथा पेट की गैस, यकृत रोग, चर्मरोग, अर्शरोग भी दूर हो

जाते हैं।

**त्रिफला रसायन**—हरड़ चूर्ण १५० ग्राम, बहेड़ा चूर्ण ३०० ग्राम, आँवला चूर्ण ६०० ग्राम। सभी का वजन करके सावधानी से शीशी में मिलाकर रखें।

मात्रा—६ ग्राम। समय प्रातःकाल निरन्तर। अनुपान—ऋतुओं के अनुसार अर्थात् वसन्त में मधु के साथ चाटकर, ग्रीष्म में गुड़ १-१/२ ग्राम से, वर्षा में सेंधा नमक १ ग्राम से, शरद में देशी खाँड १-१/२ ग्राम से, हेमन्त में सौंठ १ ग्राम से और शिशिर में पिपली १ ग्राम से प्रयोग किया जाना चाहिए। जहाँ ऐसा करना सम्भव न हो, वहाँ ताजे जल का ही अनुपान रखें। इसके निरन्तर प्रयोग से शरीर सम्पूर्ण रोगों से मुक्त रहकर सदा स्वस्थ रहता है।

**यकृत रोग कासनी आदि पानक** (Liver diseases)—कासनीमूल ४० ग्राम कासनी बीज २० ग्राम, खीरा बीज २० ग्राम, खरबूजा बीज २० ग्राम, सौंफ २० ग्राम, सौंफ मूल २० ग्राम, जल १ किलो, अवशेष क्वाथ २५० ग्राम। २५० ग्राम मिश्री डालकर पानक बनाकर बोतल में रखें। मात्रा १५ ग्राम से ३० ग्राम तक, दिन में दो बार। गुण—यह कामला, यकृत दाह, यकृत शोध और ज्वरनाशक है।

नींबू में नमक, काली मिर्च, सौंठ और मिश्री पिसी हुई चुटकी-दो चुटकी भर भरकर और रात को ढककर रखें। प्रातः भोजन करने से पहले इसे चूस लें। गुण—यकृत की खराबी से अरुचि, भूख की कमी, यकत् प्रदेश का दर्द, यकृत का संकोचन, रक्ताल्पता और दुर्बलता आदि दूर हो जाती है।

(ग) शुष्क आँवले लेकर पीसकर चूर्ण बना लें। मात्रा ३-४ ग्राम, दिन में दो बार, मास भर प्रयोग करते रहें। यह आमाशय और यकृत को स्वस्थ और कार्यक्षम बना देता है।

**यकृतवृद्धिहर वटी**—(अ) नौसादर ठीकरी १० ग्राम, कल्मीशोरा १० ग्राम एलुवा १० ग्राम, सिरका ४० ग्राम।

विधि—सभी को मिलाकर खूब खरल करें और चने प्रमाण वटियाँ बना कर सुखाकर शीशी में रखें। मात्रा—१ वटी भोजनोपरान्त, दिन में दो बार।

गुण—यकृत वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, पांडुरोग और कामला दूर होती है।

(स) हरड़, बहेड़ा और आँवला का समभाग बनाया हुआ चूर्ण ६ ग्राम मधु के साथ चाटकर रात को सोते समय दूध के साथ प्रयोग करने से विबन्ध रहने के कारण उत्पन्न हुई यकृत की खराबी दूर हो जाती है। उच्च रक्तचाप भी कम हो जाता है।

(व) छाछ को नमक और काली मिर्च डालकर निरन्तर प्रयोग करने से यकृत के विकार उत्पन्न नहीं होते। यकृत स्वस्थ रहता है।

अपथ्य—खांड और शक्कर उत्पन्न करने वाले खाद्य पदार्थ जैसे चावल, गेहूँ

का आटा, आलू और मिठाई आदि और घी, तेल चर्बी आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए अथवा बहुत कम करना चाहिए। सब्ज तरकारियों और ताजा फलों के आहार पर अधिक निर्भर करना चाहिए।

**स्थौल्य (Obesity) पर भोजपत्र क्वाथ**—(क) भोजपत्र दो ग्राम की एक कप चाय बनायें। इसको ३५० ग्राम जल में ३-४ उबालें लाकर २०० ग्राम शेष रखें और प्रातः लघु आहार से एक घण्टा पूर्व ४० दिन तक प्रयोग करते रहें। अथवा

(ख) मेथी के बीज ३-४ ग्राम की चाय ऊपर की तरह बनाकर प्रातः लघु आहार से एक घण्टा पूर्व और रात को सोने से पहले २-३ सप्ताह तक प्रयोग करें। इससे आन्त्रों और अन्य रक्तवाहिनियों के अन्दर जमा हुआ आँव सदृश मल छूटकर साफ हो जाता है। इससे कोलस्ट्रोल पिघलकर पतला हो जाता है और निकलकर साफ हो जाता है तथा रक्तवाहिनियों में रक्त का थक्का (क्लाट) नहीं बनने पाता। यह स्थौल्य के साथ-साथ उच्च रक्तचाप, सन्धिशूल और मधुमेह को भी दूर करता है। अथवा—

(ग) दोनों समय २५० ग्राम जल उबालकर भोजन के पश्चात् चाय की भाँति घूंट-घूंट करके पीना चाहिए। इससे मोटापा कम होने में सहायता मिलती है। मधुर, स्निग्ध और गुरु पदार्थ और दिवास्वप्न का प्रयोग वर्जित है। पथ्य—सायं-प्रातः नियमित व्यायाम, सप्ताह में एक दिन का उपवास और लघ्वाहार को अपनाएँ।

**हृदय रोगों पर अर्जुन छाल प्रयोग**—(क) अर्जुन की छाल १० ग्राम अथवा अर्जुन छाल का चूर्ण ३ ग्राम, गोदूध २५० ग्राम और जल २५० ग्राम, तीनों द्रव्यों को मिलाकर धीमी आग से पकाते हुए जब जल सूखकर दूधमात्र शेष रह जाए तो उतारकर छान लें। मिश्री १० ग्राम मिलाकर प्रतिदिन लघु आहार से दो घण्टे पहले पी लें। प्रयोगकाल ४० दिन। तत्पश्चात् बचाव के लिए प्रत्येक मास में एक-एक सप्ताह प्रयोग करते रहें। गुण—इससे दिल की धड़कन हृदय का बैठ जाना, हृदय की दुर्बलता, सूजन, रक्तवाहिनियों की कठोरता, रक्तवाहिनियों में रक्त का थक्का जम जाना और रक्तवाहक संस्थान से सम्बन्धित अनेक रोग दूर हो जाते हैं।

(ख) आँवला शुष्क का चूर्ण ५ ग्राम दिन में एक बार प्रातः लघु आहार से एक घण्टे पहले, ताजे जल के साथ सेवन करें। गुण—आँवला एक रसायन द्रव्य है। यह आमाशय, हृदय और मस्तिष्क के विकारों को हटाकर उन्हें स्वस्थ और कार्यक्षम बनाता है। रक्तवाहिनियों में संचित मलों को काटकर निकालता है। उनकी कठोरता को हटाकर कोमल और लचकदार बनाताहै। उनमें रक्त का थक्का बन जाने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। इन कारणों से हृदय का अवरोध होने की सम्भावना नहीं रहती या बहुत घट जाती है। अतः हृदय रोगों की चिकित्सा में

अर्जुन छाल का प्रयोग जब बन्द रहे तब आँवला चूर्ण का प्रयोग आरम्भ कर लेना चाहिए।

पथ्य—भोजन सुपाच्य होना चाहिए, इसमें सब्ज तरकारी, फलाहार की मात्रा अधिक होनी चाहिए। करेला, गाजर, टमाटर, पत्रल शाक के साथ-साथ लहसुन और प्याज का सेवन, फलों में नींबू, मौसमी, पपीता, तरबूज, ककड़ी, सेव, संतरा और अनारदाना का सेवन लाभदायक है।

रक्तचाप की परीक्षा करते रहना चाहिए। उच्च नहीं होना चाहिए। उच्च रक्तचाप होने की दशा में नींबू जल का प्रयोग दिन में दो-तीन बार करना चाहिए और दही की छाछ गिलास भर दिन में पीने से रक्त चाप में कमी आ जाती है। लघुविश्राम अथवा शवासन थकावट और तनाव को दूर करने के लिए बहुत लाभदायक है।

अपथ्य—गुड़ और इससे बनी हुई सभी वस्तुएँ घी, तेल और चर्बी, माँस, मछली, धूम्रपान, मद्यपान, मिर्च मसाला और अम्ल पदार्थ तथा सभी प्रकार के विषमयोग कर्मों का सम्पादन त्याज्य है।

**शवासन**—पृथ्वी पर चार तह करके चादर को बिछायें। पीठ के बल इस पर लेट जायें। हाथों को सीधा करके, हथेलियों को नितम्ब के पास लाकर ऊपर की ओर खोलकर रखें। पाँव को सीधा खोलकर, एड़ियाँ मिलाकर रखें और आँखों को बन्द करके रखें। अब सारे शरीर के अंगों और प्रत्यंगों को ढीला करके छोड़ें। मन को भी विचारों से मुक्त रखें। ऐसी स्थिति में ५-१० मिनट लेटे रहने को शवासन कहा जाता है।

गुण—शवासन से शारीरिक थकान और मानसिक तनाव दूर हो जाता है तथा उक्त रक्तचाप और निद्रानाश तथा हृदयविकार को कम करने में सहायता करता है। शरीर में ताजगी और हल्कापन लाता है।

## वातरोग

**एकांगवात या सर्वांगवात** (Rheumatism)—एक लाख चोट का बना हुआ योगराजगुग्गुलु १/२ ग्राम से १ ग्राम की मात्रा में दिन में दो बार भोजन से दो घंटे पूर्व रास्ना सप्तक क्वाथ या दूध से प्रातः-सायं प्रयोग करायें। यदि विबन्ध रहता हो तो रात को सोते समय काली हरड़ २-३ नग का चूर्ण एक कप दूध के साथ प्रयोग करायें। प्रयोगकाल एक मण्डल (४० दिन) तक।

गुण—वात व्याधि दूर होकर समस्त शरीर दर्दों से मुक्त हो जाता है।

अपथ्य—अम्ल, तैल के तले पदार्थ, दालें, कन्दभाजी, पनीर आदि विष्टम्भी पदार्थों और अम्ल, गरम मसालेदार तथा रुक्ष और मादक पदार्थों से।

पथ्य—सब्ज तरकारी, गोदूध, मेथी का साग और फलभाजी आदि।

**आमवात हर क्वाथ** (Rheumatic Fever)—सुरंजान मीठी ३ ग्राम,

मुण्डीपुष्प ३ ग्राम, नीमपत्र ३ ग्राम, मेहदीपत्र ३ ग्राम, पितपापड़ा ३ ग्राम और अनाब ७ नग। इन द्रव्यों को ५०० ग्राम जल में क्वाथ करके २५० ग्राम शेष रहने पर उतारें। वस्त्रपूत करके दिन में दो बार सप्ताह भर पीने से लाभ मिलता है।

**संधियों की सूजन, शूल और दाहनाशक लेप**—रसौंत २० ग्राम, रक्त चंदन २० ग्राम, गेरू २० ग्राम, खसखस डोडे २० ग्राम और काफूर ३ ग्राम।

विधि—सभी द्रव्यों को पीसकर लम्बे कद्दू के स्वरस से लेप बनाकर सन्धियों पर लगाने से इनका दाह, दर्द और सूजन दूर हो जाती है। रोगी पूर्ण आराम से बिस्तर में रहकर रोगमुक्त हो सकता है। ऊनी कपड़ा लपेटफर सन्धियों को शीत वायु के स्पर्श से दूर रखना चाहिए।

**ग्रधृसी हर क्वाथ** (Seiatica)—सुरंजान मीठी ३ ग्राम, सना पत्र ३ ग्राम, गुलाबपत्र ३ ग्राम, सौंफ ३ ग्राम, गोक्षुरु ३ ग्राम, खीराबीज ३ ग्राम, खरबूजा बीज ३ ग्राम और मुण्डीपुष्प ३ ग्राम।

**विधि**—सभी औषधियों को ५०० ग्राम जल में क्वाथ बनाकर २५० ग्राम शेष रहने पर छानकर, दिन में दो बार कोष्ण जैसा क्वाथ १-४ सप्ताह भर पी लेने से लाभ मिलता है। पथ्य सर्वांगवात जैसा।

**वातरक्त हर क्वाथ** (Gout)—इसमें आमवात हर क्वाथ अथवा ग्रधृसी हर क्वाथ पीने से लाभ होता है और पीड़ा स्थान पर निम्न लेप लगाकर लाभ मिलता है।

**वातरक्त हर लेप**—कौडचूर्ण ६ ग्राम लेकर सिरके में लेप तैयार करके पीड़ा और दाह के स्थान पर गाढ़ा-गाढ़ा कोष्ण लेप लगाकर उष्ण कपड़े से लपेटकर रखें। अधिक चलने-फिरने से परिहार करें।

**कटिशूलहर अश्वगन्धादि चूर्ण** (Lumbago)—अश्वगन्धा ५० ग्राम, सुरंजान मीठी ५० ग्राम, सोंठ २५ ग्राम, मिश्री १२५ ग्राम।

विधि—सभी को पीसकर चूर्ण बनाकर शीशी में रखें। मात्रा ४-५ ग्राम तक, दिन में दो बार। अनुपान दूध या श्रृतशीत जल। गुण—कटिशूल, सन्धिशूल और ग्रधृसी में गुणकारी है। निर्बलता भी दूर करता है।

**मेथीदाना** ३ ग्राम की एक कप चाय बनाकर अथवा चूर्ण के रूप में या सीधे ही चबा-चबाकर जल के साथ निगल लेने से, घुटनों का शूल दूर हो जाता है। यह मधुमेह, उच्च रक्तचाप, आँवरोग, रक्त धमनियों में रक्त का थक्का बनने की प्रवृत्ति और मूत्र की अधिक प्रवृत्ति को रोकता है। यह शीतकृत रोगों पर अधिक लाभदायक है। वृद्धावस्था में घुटनों के दर्द के लिए अधिक उपयोगी है।

**वातपीड़ानाशक तैल** (क) सरसों का तैल १०० ग्राम, लहसुन कुलियाँ १५-१६ नग, अजवायन ६ ग्राम। आग पर चढ़ाकर तैल में दोनों द्रव्य जलाकर तैल को नीचे उतारकर ठंडा करके शीशी में रखें, पीड़ा वाले स्थान पर इसका अभ्यंग

करने से सब प्रकार के दर्द दूर हो जाते हैं। अथवा

(ख) सरसों या तिल तैल २०० ग्राम में काफूर १० ग्राम डालकर शीशी को धूप में पड़ा रहने दें। घुल जाने पर इसका अभ्यंग, पीड़ा और दर्दों को दूर करता है। अथवा

(ग) कूठ (कुष्ठ) १० ग्राम यवकुट करके ३०० ग्राम उबलते जल में डाल कर ढक्कन देकर रात भर पड़ा रहने दें। प्रातः १०० ग्राम तिल तैल में पकाकर तैल मात्र शेष रहने पर उतारें और शीशी में रखें। इसका कोष्ण अभ्यंग वात-पीड़ा नाशक है। अभ्यंग निवास स्थान पर अथवा रात को बिस्तर में करें। स्मरण रहे कि किसी भी वातपीड़ा नाशक तैलाभ्यंग के पश्चात् उष्ण लवणोदक से सेक करायें। स्वेद आकर पीड़ा शान्त हो जाएगी।

**अर्दित** (लकवा) (Facial Paralysis)—अर्दित से आक्रान्त रोगी को तत्काल हींग २ ग्रेन मधु से चढ़ायें अथवा मुनक्का में बन्द करके निगलवा लें। अथवा

दशमूल के क्वाथ में एक औंस अरण्ड तैल और नमक १ ग्राम मिलाकर प्रातः ८-१० दिन निरन्तर पिलायें और भोजनोपरान्त कौडीशूलोक्त लशुन वटी खिलाते रहें।

**पक्षाघात चिकित्सा** (Paralysis)—पक्षाघात से आक्रान्त हुए रोगी को पहले तीन दिन केवल रूमी सौंफ (अनीसून) का अर्क मधुमिश्रित करके पिलाते रहें और कुछ न दें। रूमी सौंफ अर्क बनाने की विधि—रूमी सौंफ १० ग्राम को १ किलोग्राम उबलते हुए जल में एक घण्टे तक ढक्कन देकर पड़ा रहने दें, यही जल पीने के लिए प्रयोग करायें।

(ख) चौथे दिन से निम्न क्वाथ दिन में ३ बार देते रहें, और तब तक देते रहें जब तक न रोगी आघातित अंगों को हिला-डुला सके और आघातित जीभ से भी कुछ बोल सके। और कोई वस्तु खाने-पीने को न दें।

**पक्षाघात हर क्वाथ**—काहजबान (कश्मीरी), लसूढ़ी, मुलहठी, मुनक्का, बुनफशापुष्प, जूफापुष्प, अंजीर-शुष्क, अनीसून, करफस बीज, करफस मूल। सब औषधियाँ तीन-तीन ग्राम लें। क्वाथार्थ जल ५०० ग्राम, अवशेष २५० ग्राम। प्रयोगकाल १० दिन। पानार्थ मधु मिश्रित रूमी सौंफ का जल।

(ग) आघातित जीभ के लिए—

(i) **गण्डूष**—अकरकरा, काली मिर्च, लौंग, सौंठ, राई, तीन-तीन ग्राम का क्वाथ करके इसमें एक ग्राम नवसादर ठीकरी मिलाकर गण्डूषों को लेते रहें। दिन में ३ बार।

(ii) **लेप**—अकरकरा और काली मिर्च समभाग लेकर चूर्ण बनायें। मधु के साथ इसका लेप जिह्वा के ऊपर-नीचे दो-तीन बार दिन में बराबर लगाते रहें।

दसवें दिन ऊपरलिखित क्वाथ के साथ निम्न विरेचन द्रव्य मिलाकर विरेचन देवें—

सनाय पत्र १० ग्राम, सौंफ ५ ग्राम और गुलाबपत्र ५ ग्राम। सबको मिलाकर क्वाथ जल ७५० ग्राम, अवशेष जल ३०० ग्राम। छानकर गरम-गरम पिलायें। स्मरण रहे, विरेचन तभी देना चाहिए जब रोगी आघातित अंगों को हिलाता हो और जीभ से भी अस्पष्ट ही सही, कुछ बात कर सकता हो। ऐसी ही अवस्था में विरेचन देना चाहिए। नहीं तो स्वास्थ्यलाभ होने में विलम्ब होगा अथवा होगा ही नहीं। यदि ऐसी अवस्था प्राप्त होने में दस दिन से अधिक समय एक महीना भी लग जाये, तो इसी क्वाथ को ही देते रहें और पीने के लिए रूमी सौंफ का मधु मिश्रित जल। खाने पीने को कुछ न दें।

विरेचन देकर शुद्धि होने पर रोगी को प्रथम सप्ताह में चने का सूप देवें, यदि मांसाहारी हो तो कबूतर या चूजे का सूप आरम्भ करें और फिर इसके साथ डबल रोटी भी दे सकते हैं। दूसरे सप्ताह में रोटी का पथ्य रखें, फिर धीरे-धीरे भोजन पर लायें। उच्च रक्तचाप और मोटापन की दशा में मांस का सूप नहीं देना चाहिए। उच्च रक्तचाप, स्थौल्यता, मधुमेह और हृदय रोगों के बचाव के लिए भोजन में सुधार लाना चाहिए। हृदय के रोगों में अर्जुन की छाल का 'क्वाथ' दिन में दो बार देना चाहिए। मेथी ३ ग्राम लेकर, उसका एक कप चाय प्रातः पीने से, धमनियों में रक्त का थक्का बनने की प्रवृति को रोकता है, इसके प्रयोग से रक्तचाप और पीड़ा भी कम हो जाती हैं। मोटापा कम करने के लिए भोजन में कार्बोज और स्निग्धपदार्थ बहुत कम मात्रा में सेवन करना चाहिए। पथ्य के लिए एक-दो चपातियों के साथ लम्बा कद्दू, तुरेला, करेला, चने की तरी, स्विन्न किया हुआ पत्रल शाक, मेथी, लहसुन, कच्चा प्याज, गाय का दूध उबालकर और पीने के लिए उबाला हुआ जल प्रयोग करना लाभदायक है। भोजन के पश्चात् उबालकर उष्ण जल का एक कप पीना भी मोटापे को कम करता है। नशीले पदार्थ और धूम्रपान हानिप्रद हैं। फलों में नींबू का रस, मीठा सेव, अंगूर और अनार तथा आँवला लाभदायक है। रक्तचाप की परीक्षा सप्ताह में एक बार करनी चाहिए।

**उच्च रक्तचाप** (High blood pressure)—(क) धनिया चूर्ण १ ग्राम, सर्पगन्ध चूर्ण १ ग्राम, कालीमिर्च चूर्ण ५ दाने और कूजा मिश्री चूर्ण २ ग्राम लेकर एक ही मात्रा में ताजा जल से दिन में दो बार प्रयोग करें। इसके प्रयोग से रक्तचाप शिरश्शूल, भ्रम, योषापस्मार और अपस्मार में लाभ होता है।

(ख) नींबू को गिलास भर जल में निचोड़ लें। इसका एक-एक कप दिन में ३-४ बार पीने से लाभ होता है।

(ग) शवासन ५-१० मिनट तक करने से उच्च रक्तचाप कम हो जाता है।

दिन में आवश्यकतानुसार दो-तीन बार किया जा सकता है।

(घ) मेथीदाना चूर्ण ३ ग्राम को प्रातः-सायं जल के साथ अथवा इसकी चाय एक कप भर खाली पेट एक-दो सप्ताह तक सेवन करने से उच्च रक्तचाप कम हो जाता है। कोलेस्ट्रोल का विकारात्मक लेसदार पदार्थ पिघल जाता है और रक्त में थक्का नहीं बनता। रक्तवाहिनियाँ लचकीली हो जाती हैं जिनमें रक्तपरिभ्रमण प्राकृत रूप से होकर हृदय भी स्वस्थ रहता है।

(ङ) प्याज का स्वरस १ चम्मच और मधु १ चम्मच, दोनों को मिलाकर दिन में एक-दो बार लेने से उच्च रक्तचाप दूर हो जाता है। इसके प्रयोग से रक्त में थक्का नहीं बनता।

**पथ्य**—भोजन में नमक का प्रयोग कम किया जाये, प्याज, लहसन और हरी तरकारियाँ, छाछ नीबू और फलों का प्रयोग लाभदायक है। सप्ताह में एक दिन का उपवास लाभदायक है।

**उर्ध्व जत्रुगत रोग** (Diseases of the Head organs)—शिर, चक्षु, कान, नाक, दाँत, कण्ठ, मुखमण्डल और केश रोग।

(क) **शिरश्शूल** (Headache)—सोडा १० ग्रेन, नवसादर १० ग्रेन/१ मात्रा दिन में दो बार, अनुपान जल। जब कारण अजीर्ण हो।

(ख) **जब कारण उच्च रक्तचाप हो**—धनिया चूर्ण १०-१५ ग्रेन, काली मिर्च ५ दाने, चूर्ण सर्पगन्ध १० ग्रेन से १५ ग्रेन, और खांड २ ग्राम। एक मात्रा। अनुपान-जल। यह शिरश्शूल के अतिरिक्त उच्च रक्तचाप, अपस्मार और योषापस्मार भी दूर करता है।

(ग) **जब कारण प्रतिश्याय हो**—अमृतधारा ५ बूंद बतासे के साथ, दिन में २-३ बार प्रयोग करें तथा अमृतधारा का लेप माथे पर लगायें। दालचीनी, कालीमिर्च और खाँड डालकर कहवे की चाय बनाकर दिन में एक-दो बार प्रयोग करें।

(क) **स्मरणशक्ति वर्द्धक (ग्रीष्म ऋतु में उपयुक्त)**—बादाम गिरी ७ दाने और ब्राह्मी बूटी ५ ग्राम, दोनों को रातभर जल में भिगो दें। प्रातः पत्थर पर कालीमिर्च ५ दानों के साथ घिस लें और छानकर चीनी डालकर २५० ग्राम की यह ठंडाई पियें। उष्ण ऋतुओं में शिरश्शूल नाशक है; तथा बलकारक है।

(ख) **स्मरण शक्ति वर्द्धक, नेत्र ज्योतिवर्द्धक पौर मस्तिष्क बलदायक (शीत ऋतुओं में उपयुक्त)**—बादाम गिरी ७ दाने रात को जल में भिगोकर प्रातः छिलका उतारकर एक-एक कालीमिर्च दाने के साथ एक-एक करके चबाकर ऊपर से २५० ग्राम गोदूध खांड डालकर पी डालें। प्रयोगकाल ४० दिन।

(ग) **जब कारण उन्माद हो**—सर्पगन्धा १५ ग्रेन, कालीमिर्च ५ नग १ मात्रा, दिन में दो बार। अनुपान बकरी का दूध २५० ग्राम। यह मारधाड़ करने वाले

उन्माद में लाभदायक है। सिर पर बादाम तेल, खसखस तेल और कद्दू बीज के तेल का लेप करते रहें। विबन्ध न रहें और उष्ण गुण प्रधान खान-पान से परिहार करें।

**अर्द्धावभेदक** (Migrain)—उस्तखद्दूस ५ ग्राम, धनियां ३ ग्राम, कालीमिर्च ५ नग का क्वाथ बनाकर नवसादर १० ग्रेन का प्रक्षेप देकर प्रातः को सप्ताह भर पीने से लाभ होता है।

**सूर्य्यावर्त**—उस्तखद्दूस ५ ग्राम, धनिया ३ ग्राम, कालीमिर्च ५ दाने, बादाम गिरी ७ दाने। रात को भिगोकर प्रातः सरदाई बनाकर १५ ग्राम खाँड मिलाकर २५० ग्राम मात्रा में सूर्योदय से पहले तीन दिन तक पीने से लाभ होता है।

(क) **भ्रम** (Giddiness)—आँवला सूखा और धनिया सूखा चार-चार ग्राम यवकुट करके २५० ग्राम जल में रात्रि को रखो। प्रातः चम्मच से खूब मसलकर थोड़ी खाँड मिलाकर सप्ताह भर पीने से चक्कर आना दूर हो जाता है। इससे गरमी का सिरदर्द और आधा सीसी दर्द भी शान्त होता है।

(ख) **त्रिफला पाक**—काबली हरड़ त्वक, पीली हरड़ त्वक, कालीहरड़, बहेड़ा त्वक, आमलात्वक सब २५-२५ ग्राम, धनिया शुष्क और बादाम तेल ६०-६० ग्राम तथा खाँड ५०० ग्राम।

**विधि**—काष्ठौषधियों को सूक्ष्म पीसकर बादाम तेल में मिलाओ। खाँड की चाशनी बनाकर, उसमें मिलाकर रखो। मात्रा १० ग्राम, दिन में प्रातः और सोते समय पर। मात्रा के साथ प्रवाल (मूँगे की) भस्म १० ग्रेन मिलाकर दें तो लाभ शीघ्र होगा। यह सिर दर्द और चक्कर को दूर करता है। भ्रम रोग, उच्च रक्त-चाप, अपस्मार, उन्माद, अम्लपित्त और दौर्बल्य का पूर्वरूप भी होता है। इसकी चिकित्सा तदनुसार की जाती है। भोजनोपरान्त अश्वगन्धारिष्ट और दशमूलारिष्ट दस-दस ग्राम को २० ग्राम ताजा जल मिलाकर देने से लाभ शीघ्र मिल सकता है।

**निद्रानाशे मेध्य रसायन** (Sleeplessness)—शतावरी ५ ग्राम, असगन्ध नागौरी ५ ग्राम को यवकुट करें, फिर २५० ग्राम गोदूध और २५० ग्राम जल में दुग्ध पाक करें। दूध मात्र शेष रहने पर उतार लें, छानकर इस में थोड़ी खाँड मिलाकर सप्ताह भर पिलाने से नाड़ी संस्थान शक्तिमान बन जाता है मस्तिष्क की दुर्बलता दूर होकर मानसिक रोग, निद्रानाश, भ्रम, मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार, योषापस्मार तथा सब प्रकार की कार्श्यता दूर हो जाती है। वातपीड़ा दूर हो जाती है। प्रयोग काल ८-१० दिन।

**निद्रानाश हरलेप**—बादाम तेल, कद्दू तेल, खसखस तेल प्रत्येक दस-दस ग्राम, काफूर १ ग्राम। सब मिलाकर शीशी में रखें। रात को माथे और कनपटियों पर लेप लगायें। निद्रा लाने के लिए उपयोगी है।

(क) **मूर्च्छानाशक लेप**—बकरी के दूध पर बारासिंघा को घिसकर मलमल का टुकड़ा इसमें भिगोकर हृद्देश पर दो-तीन बार लगाने से मूर्च्छा दूर होने में सहायता मिलती है।

(ख) **मूर्च्छाहरनस्य**—चूना और नवसादर ठीकरी १ : २ के निपात में शीशी में मिलाकर रखें और कार्क लगाकर रखें। आवश्यकतानुसार मूर्च्छा खोलने के लिए सुँघायें।

**गदोद्वेगे** (वहम) (Neurasthenia) **आकाशबेलादि क्वाथ**—काहृजबान, बादरंजबोय, आकाशबेल, बुनफशाफूल सब ४-४ ग्राम और रेशमी कीड़ों के खोल ३ ग्राम। एक मात्रा है। क्वार्थ जल ५०० ग्राम, शेष क्वाथ २५० ग्राम, दिन में दो बार, प्रयोगकाल १० दिन। (बादरंजबोय कश्मीर में पाया जाता है)। खमीर मुर्वारीदखास (यूनानी तिब) भी लाभदायक है।

**निम्न रक्तचाप** (Low blood pressure)—(क) २०-२५ ग्राम किशमिश को जल से साफ करके शीशे के गिलास में, सीजने के लिए थोड़े से जल में रातभर ढक्कन लगाकर रखें। प्रातः सिलबट्टे पर घिसकर इसका शीरा निकाल लेवें। एक कप शीरे में थोड़ी सी मिश्री मिलाकर पी जाएँ। एक मास तक प्रयोग करें। रक्त की कमी दूर होकर निम्न रक्तचाप दूर हो जाता है।

(ख) निम्न रक्तचाप अथवा हृदय की दुर्बलता पर आँवले का स्वरस २ चम्मच + मधु २ चम्मच मिलाकर पीने से हृदय की दुर्बलता दूर होकर मूर्च्छा भी दूर हो जाती है।

(ग) विशूचिका (हैजा) की दशा में हृदयावसाद पर ब्रांडी ६ ग्राम + प्याज स्वरस ६ ग्राम देने से होश आ जाता है। तन्द्रा दूर हो जाती है।

**नेत्ररोग** (Eye diseases)

**चांगेरी सिलाई अभिष्यन्द पर** (Conjuncti-vitis)—चांगेरी स्वरस ३-५ ग्राम लेकर पीतल के ढक्कन पर डाल दें। कौड़ी को इस स्वरस के साथ ढक्कन पर २-३ मिनट तक घिसते रहें। कुछ रंग बदलने पर, अब कच्ची सफेद फिटकरी को इसी पर ४-५ रगड़ें देकर घिस लें, फिर इसी प्रकार छोटी पिप्पली को ८-१० रगड़ें भी देकर इस पर घिस लें। बस औषधि तैयार है। प्रातः एक बार इसकी सलाई आँखों में निर्भय पूर्वक लगायें। दो-चार दिन तक यह सिलाई लगाने से अभिष्यन्द, पोथकी, आँखों की लाली, स्राव, दुःखना आदि दूर हो जाता है। पथ्य—उबाले हुए आलू की तरकारी, दालें और करेला की भाजी। अपथ्य—अम्ल पदार्थ और सब्ज तरकारियाँ। आँखों को ठण्डी वायु और सूर्य के प्रकाश से बचाने के लिए शीशा लगाना चाहिए।

**शुक्र (फोला)** (Opacity Cornia)—उपरोक्त चाङ्गेरी अंजन के साथ सूकरदन्त को भी घिसकर अंजन लगाने से शुक्र भी दूर हो जाता है।

**नयनामृत बिंदु**—रसांजन १ ग्राम को १५० ग्राम जल में उबालें। औषधि घुल जाने पर उतार लें और शीत होने पर फिल्टर पेपर से निथार कर रसांजन जल = १०० ग्राम, फिटकरी कच्ची—५ ग्रेन। दोनों को शीशी में मिलाकर घुल जाने पर फिर फिल्टर करके साफ शीशीमें रख लें। आंखों में २-३ बूंद डालने से लाली, स्राव और दर्द तथा खुजली को लाभ करती है।

अंजननामिका (**गुहेरी**) (Stye)—(क) मुस्सबिर और रक्तचन्दन को गुलाब के अर्क पर घिसकर लेप लगायें, दिन में दो बार। अथवा

(ख) इमली के बीज की गिरी को जल पर घिसकर दिन में दो बार लगायें।

(ग) चक्षुरोग पीड़ित व्यक्तियों को त्रिफला चूर्ण ६ ग्राम का प्रयोग विबन्ध की दशा में आरम्भ करना चाहिए।

**काच** (**मोतियाबिन्द**) (Cataract)—शुद्ध मधु १० ग्राम और सफेद प्याज का स्वरस १० ग्राम मिलाकर शीशी में रखें। इसकी सलाई सोते समय रात को लगाने से काच की चिकित्सा के लिए आरम्भिक अवस्था में कई रोगियों पर सफल रही है।

**नेत्र ज्योतिवर्द्धक**—शुद्ध कमल मधु की सलाई आँखों में सप्ताह में दो बार लगायें। रातभर भिगोये हुए बादाम ७ नग प्रातः छिलका उतारकर एक-एक करके एक-एक काली मिर्च के साथ चवायें ऊपर २५० ग्राम गो दूध उबालकर मीठा डालकर प्रयोग करें। इससे मस्तिष्क की बलवृद्धि होकर नेत्र ज्योति की भी वृद्धि हो जाती है। प्रयोगकाल ४० दिन।

**कर्ण रोग** (Ear diseases)

**कर्णशूल** (**कानदर्द**) (Otalgia)—लहसुन-गाँठ की १० कलियों को सरसों के ३० ग्राम तेल में जलाकर नीचे उतारें और छान कर शीशीमें रख लें। इस तेल की चार-चार बूंदें गरम करके कान में डालने से कर्णशूल दूर होता है।

**कर्ण स्राव** (**कान बहना**) (Ottorrhoea)—लहसुन कुलियाँ १०, नीम पत्र ३० नग और सरसों का तेल ३० ग्राम। इस तेल में दोनों औषधियों को जलाकर तेल छानकर शीशी में रखें। सदा कानों को रुई से साफ करके तेल की चार-चार बूंदें रात्रि में सोते समय डालते रहें। इसके प्रयोग से कर्ण कण्डू, कर्णस्राव और कर्ण कृमि भी दूर हो जाते हैं।

**बाधिर्य** (**बहरापन**) (Deafness)—(क) सरसों का तेल १०० ग्राम लेकर उसमें २ करेले काटकर जला डालें। फिर साफ करके शीशी में रखें। प्रतिदिन तीन-तीन बूंद कान में डालें। एक-दो मास तक लाभ मिल जाता है। अथवा

(ख) अपामार्ग क्षार अथवा राख ५० ग्राम, जल ५०० ग्राम और तिल तेल १०० ग्राम। आग पर सब को चढ़ाकर तेल मात्र शेष रहने पर उतारकर

छान लें और शीशी में रखें। ३-४ बूंद नित्य सोते समय कान में डालते रहें। बाधिर्य को दूर करता है।

**कर्णकण्डू** (Exyma of the ear)—नीमपंचांग ६० ग्राम, क्वार्थ जल १ किलो, सरसों का तेल २५० ग्राम। तेल शुद्ध करके इसको कान के अन्दर बाहर प्रयोग करें।

**नासा रोग** (Diseases of the nose)

**नासागत रक्तस्राव (नकसीर)** (Nose bleeding)—(क) रोगी को पीठ के बल लिटाकर फिटकरी घोल की शीत पट्टियाँ माथे और कनपटियों पर रखें।

(ख) शुद्ध जल में बने हुए फिटकरी घोल में, भीगकर निचोड़ा हुआ मलमल या गाज का टुकड़ा संदंशनी (Forcep) से शनैः-शनैः पूरी तरह से दबाते हुए विकारयुक्त नासारन्ध्रों में भर दें। फिटकरी घोल=फिटकरी १ ग्राम+जल २५० ग्राम।

(ग) **मुलतानी मिट्टी १० ग्राम** को २५० ग्राम जल में रातभर मिट्टी के पात्र में पड़ा रहने दें। दूसरे दिन धीरे-धीरे इसे निथार लें। प्रतिदिन प्रातः इसका निथरा हुआ जल सप्ताह भर पीने से पुरानी नकसीर भी रुकती है। यदि रक्त-चाप उच्च हो तो उसका प्रतिकार करना चाहिए। पथ्य—सात्विक भोजन।

**प्रतिष्याय (जुकाम)** (Cattarrh)—(क) अद्रक का रस १ चम्मच में १ चम्मच मधु मिलाकर किंचित गर्म करके, दिन में तीन-चार बार चाटने से जुकाम, खांसी और शीत दूर हो जाती है। बैठा हुआ कण्ठ खुल जाता है और स्वरभेद भी दूर हो जाता है। बृद्धावस्था में जुकाम के कारण उत्पन्न कास और श्वास को सप्ताह भर में ठीक करता है।

(ख) सुहागा की खील ८-१० ग्रेन, दिन में ३ बार उष्णोदक अथवा मधु के साथ दो तीन दिन तक लेने से प्रतिष्याय और पीनस दूर हो जाता है। अथवा

तुलसी पत्र १ ग्राम या कहवा वाली सब्ज चाय १ ग्राम, दारचीनी चूर्ण १/२ ग्राम और काली मिर्च ५ दाने की चाय खाँड मिलाकर पीने से आराम आ जाता है, दिन में दो बार पी लेनी चाहिए।

(घ) प्रतिष्याय के साथ यदि ज्वर भी हो तो काह-जबान ३ ग्राम, लिसूढी १० दाने, मुलहठी ३ ग्राम, सौंफ ३ ग्राम और हंसराज ३ ग्राम का क्वाथ दो बार दिन में पीने से दोनों विकार दूर हो जाते हैं। इससे पीनस भी दूर हो जाता है। पीनस में कफ गाढ़ा होकर छिछड़ा बन जाता है और दोनों नासारन्ध्रों को बन्द करता है। इसमें साँस मुख से लिया जाता है, सिर सदा भारी रहता है।

**पीनस हर नस्य**—(क) कटफल को सूक्ष्म पीसकर शीशी में रखें। अब रात को सोते समय नासारन्ध्रों में कोष्ण नासामृत की दो-चार बूंदें डालें और नासा-सेतु को बाहर की ओर से इसी का कोष्णर अभ्यंग भी करें। प्रातः नींद से उठकर

कोष्ण जल से मुँह धोकर कटफल चूर्ण की एक चुटकी का नस्य लें तो छींकें आकर कफ का बना हुआ गाढ़ा लेसदार छिछड़ा नासारन्ध्रों से बाहर निकल आयेगा। साँस खुल जायेगा, सिर पर बैठा हुआ पर्वत जैसा भार दूर हो जायेगा। खाने के लिए सितोपलादि चूर्ण ४ ग्राम दिन में दो बार कोष्ण जल से दें।

(ख) **नस्य नं० २**—नकछिकनी १० ग्राम, सफेद कनेर फूल १० ग्राम, चिलासी तम्बाकू १० ग्राम, केसर ३ ग्राम, आकदूध १० ग्राम, और बासमती चावल २५ ग्राम।

विधि—चावल को आक के दूध से भावित करके सुखाओ। सूख जाने पर सभी द्रव्यों को मिश्रित करके एक घण्टे तक घोटकर शीशी में डालें। इसका नस्य लेने से छींकों के द्वारा नासारन्ध्रों से शिरो विरेचन होकर वर्षों के संचित मल का निकास हो जायेगा।

(ग) **नासामृत**—शास्त्रोक्त षडबिन्दु तेल १० ग्राम और अरण्ड तेल १० ग्राम को शीशी में मिलाकर रखें। इस नासामृत के पाँच-पाँच बिन्दुओं का नस्य प्रातः और रात को लेने से छींके आकर नाक के अन्दर जमा हुआ मवाद निकल आयेगा। यह प्रतिष्याय, पीनस, क्षवथु (छींकें), नासार्श, नासापाक और नासाशोष पर लाभकारी है। नासा की भीतरीय झिल्ली को शक्तिमान बनाने के लिए च्यवनप्राश का प्रयोग लाभकारी है। श्वासोच्छ्वास संस्थान को शक्तिमान बनाने के लिए च्यवनप्राश का प्रयोग हेमन्त और शिशिर ऋतु में अवश्य करना चाहिए।

**कण्ठरोग** (Diseases of the throat)—(क) कण्ठ में पीड़ा, सूजन या खराश हो तो एक गिलास उष्ण जल में १ चम्मच नमक मिलाकर गरारे करें। अथवा

(ख) एक गिलास उष्ण जल में १ चम्मच फिटकरी की खील मिला कर दिन में दो-तीन बार गरारे करने से सूजन, पीड़ा और गलग्रन्थि शोथ दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त गले के बाहर बुनफाफूल, खतमी फूल और मको बीज छह-छह ग्राम लेकर गाय के दूध में पकाकर रात को बाँध लिया करें। शीत हो जाने पर गर्म करके फिर बाँधते रहें। यह गलग्रन्थि शोध को भी दूर करता है।

(ग) कण्ठ में शीतकृत (सर्दी) की पीड़ा और सूजन हो तो कण्ठ को बाहर से उष्णोदक की पट्टियों से टकोर करना चाहिए अथवा अजवायन ५ ग्राम को ५०० ग्राम जल में उबालकर थोड़ा-सा नमक मिलाकर गरारे करने से आराम आ जाता है। यह कफ की अधिकता में गले की सूजन को हटाता है।

(घ) प्रतिष्याय के कारण कण्ठ बन्द हुआ हो तो काली मिर्च और मिश्री मुंह में चूसने से कण्ठ खुल जाता है।

(ङ) ऊँचा बोलने से स्वरभेद हुआ हो तो मटर दाने के बराबर कच्चा

सुहागा चूसने से कण्ठ खुल जाता है।

(च) उष्ण पदार्थ के पश्चात् ही शीत जल पान करने से कण्ठ बैठ जाये तो मुलहठी को चबाने से कण्ठ खुल जाता है, सूजन और पीड़ा भी दूर हो जाती है।

**कण्ठ शालूक**—कण्ठ का पिता यदि सूज गया हो तो सुहागा खील १० ग्रेन और जौखार १० ग्रेन को एक चम्मच मधु के साथ मिलाकर, दिन में ३ बार उस पर लेप लगाकर निगलना चाहिए। यह लेप उपजिह्वा अथवा अधोजिह्वा को भी हटाता है।

**गलग्रन्थि शोथ** (Tonsilitis) **बुनफ़शादिक्वाथ**—बुनफशा, अनाब (बेर), लसूढ़ी, मुलहठी, खुत्मीमूलत्वक, बांसा, बिहीदाना और नीलोफर फूल।

विधि—सब द्रव्यों को तीन-तीन ग्राम की मात्रा में लेकर ५०० ग्राम जल में अर्द्धावशेष काढ़ा बनाकर प्रातः-सायं सप्ताह भर प्रयोग करें। बाहर से गले पर बुनफशाफूल, खुत्मीफूल और मको बीज छः-छः ग्राम लेकर गोदूध में पकाकर बाँधते रहें। शीत होने पर पुनः गरम करके बांधे। प्रतिदिन ताजा-ताजा लेप लगाते रहें। यदि कण्ठ बन्द हो गया हो तो एक सप्ताह तक खुल जाता है। अथवा

अमलतास गूदे को २५ ग्राम तक लेकर थोड़े से गोदूध के साथ पकाकर लेप बनायें। बाहर से इसका गाढ़ा कोष्ण लेप लगायें। टांसिलों के कारण यदि सारा कण्ठ बन्द भी हुआ हो तो खुल जाता है।

**खुन्नाक** (Diptheria)—पपीता स्वरस और मधु शुद्ध समभाग में मिलाकर एक-एक चमचा दिन में ३-४ बार लेने से आराम आ जाता है। तथा—

अमलतास का गूदा (कृष्ण) ६० ग्राम को एक लीटर जल में एक-दो उबाल लायें। शीत होने पर इसके गरारे दिन में २-३ बार करें।

**दन्तरोग** (Tooth diseases)

**दन्तकृमि**—(क) फिटकरी और लौंग समभाग का चूर्ण चुटकी भर मलने से कृमि शूल दूर हो जाता है।

(ख) सत अजवायन ३ ग्राम, ब्रांडी शराब या स्पिरिट रैक्टीफाइड १२ ग्राम मिलाकर शीशी में बन्द कार्क लगाकर रखें, आवश्यकता पड़ने पर दन्तकृमि गुहा में इस रुई का फोहा भर दें।

**दन्त चालक**—फिटकरी और माजूफल समभाग का चूर्ण हिलते दाँत में मलें, दृढ़ हो जाएँगे।

**दन्तवेष्ट शोथ**—(क) अम्लदाडिमत्वक, हरडत्वक, फिटकरी और लवण का समभाग चूर्ण मसूढ़ों पर लगायें, जो पानी मसूढ़ों से निकले, बाहर फेंकते रहें। मसूढ़ों की सूजन, दाह, दर्द, रक्तस्राव दूर हो।

(ख) सरसों का तेल ६ ग्राम और सेंधा नमक चूर्ण हथेली पर मिलाकर, इस तेल का अभ्यंग दाँतों और मसूढ़ों पर करें। शेष बचे हुए नमक को मसूढ़ों

और दाँतों पर लेप करें पश्चात् उष्ण जल से गरारे करें। इससे दाँतों केसभी रोग दर्द, खून आना, पूय आना, सूजन, जलन, कृमि पीड़ा, हिलना और मैल जमना तथा शीत, उष्ण या अम्ल का लगना दूर हो जाता है।

(क) प्रतिदिन रात्रि के समय १ गिलास जल में १ चम्मच नमक घोलकर गरारे करने से दाँतों के रोग नहीं सताते।

(ख) लौंग के तेल में रुई का फोहा भिगोकर दाँत के गड्ढे में भरने से दर्द शान्त हो जाता है।

**मुखमण्डल के रोग** (Face Diseases)

**मुहाँसे** (Acne & Pimples)—(क) नींबू रस १० ग्राम, गुलाबपुष्प का अर्क १० ग्राम और ग्लिसरीन १० ग्राम। तीनों को मिलाकर शीशी में रखें। प्रातः स्नान के पश्चात् और रात को सोते समय मुख पर मलने से मुहाँसे, काले दाग, कील, छाईयाँ आदि दूर हो जाते हैं। प्रयोगकाल महीना भर। मुहाँसों को काटना नहीं चाहिए, इससे यह उग्ररूप धारण करते हैं और मुँह में गढे पड़ते हैं। लेप लगाकर घण्टा भर पानी न डालें।

(ख) सन्तरे के सूखे छिलकों का चूर्ण ३० ग्राम, सफेद सरसों (सर्षप) १२ ग्राम दोनों को खरल में डालकर नींबू-रस से गाढ़ा लेप तैयार करके रात को सोते समय शुद्ध मुख पर लेप लगायें। प्रातः उष्णोदक से मुँह साफ करें। मुहाँसे, कील, दाग आदि दूर हो जाते हैं। प्रयोग काल २ सप्ताह।

(ग) हल्दी अथवा जायफल को कच्चे दूध पर घिसकर रात को चेहरे पर लेप लगाकर प्रातः उष्णोदक से धो डालें। प्रयोगकाल एक सप्ताह या आवश्यकता-नुसार अधिक दिनों तक ! सफेद और काले दाग तथा मुहाँसे दूर हो जाते हैं।

**केशरोग**

**बालों के रोंस** (Dandruff)—बालों के मूल में रात को, नींबू रस में दो भाग मिलाये हुए नारियल के तेल का अभ्यंग शनैः-शनैः करते हुए, तेल को खोपड़ी के चर्म में समावेश करें। प्रातः को पहले कोष्णजल से धोएँ फिर रीठे के जल से धोएँ, इसी प्रकार दूसरी बार भी कोष्ण जल से धोकर रीठे के जल से धो डालें। दो-चार दिनों में इसी चिकित्सा क्रम से रूसी समाप्त हो जाती है। (स्मरण रहे, रीठा ५० ग्राम लेकर उसको छोटे टुकड़े बनाकर १-२ किलो जल में रात भर भिगोने को रखें। प्रातः इसको खूब मथकर दो बार सिर धोने के काम में लायें।)

**बालों का गिरना**—नारियल का तैल १ भाग और नींबू स्वरस आधा भाग, इनको मिलाकर बालों की जड़ों में इसको मलें। सोते समय अभ्यंग करके प्रातः कोष्ण जल से सिर को धोयें। सिर को धोने के लिए साबुन के स्थान पर, रीठे के जल का प्रयोग सप्ताह में केवल दो बार करना चाहिए। इसके साथ-साथ सोते

समल आमलाचूर्ण ३-४ ग्राम, जल के साथ २-३ सप्ताह तक प्रयोग करना चाहिए, इससे बालों के मूल संकुचित होकर दृढ़ बनते हैं।

**बालों का असमय पकना (सफेद होना)**—(क) आमला सूखा ३० ग्राम ३०० ग्राम जल में यवकुट करके, जल में रातभर भिगोने को रखें, प्रातः इस जल को छानकर बालों की जड़ों पर मलते हुए १०-१२ मिनटों तक समाप्त करें, फिर जल से धो डालें। सिर को सप्ताह में दो बार धोना चाहिए। खाने के लिए आमला चूर्ण ३-४ ग्राम प्रयोग करें।

(ख) सिर के बालों को असमय पकने से बचाने के लिए, आँवला तेल लगाते रहना चाहिए।

**आँवला तैल बनाने की विधि**—गुठली निकाला हुआ सूखा आँवला १२५ ग्राम लो, इसको यवकुट करके २ किलोग्राम जल में रातभर भिगो दो। दूसरे दिन आग पर चढ़ाकर क्वाथ पकाओ, ५०० ग्राम शेष रहने पर उतारकर ठण्डा होने दो। अब मसलकर वस्त्रपूत करके दूसरे पात्र में डाल दें, इसके साथ काले तिलों का तेल ५०० ग्राम मिलाओ, कोल्हू का पीड़े हुए सरसों के तेल से भी बनाया जा सकता है। अब पुनः आग पर चढ़ाकर धीमी आँच से पकाते रहें, तेल मात्र शेष रहने पर उतारकर ठण्डा करो; और वस्त्रपूत करके शीशी में सुरक्षित रखें, और प्रयोग में लायें।

## कास (खाँसी) (Cough)

**कफज कास(तर खाँसी)**—(क) काली मिर्च ५ नग, सोंठ चूर्ण २० ग्रेन को मधु १ चम्मच के साथ दिन में दो बार चाटने से लाभ होता है। प्रतिष्याय और शीत भी दूर हो जाती है।

(ख) अदरक स्वरस १ चम्मच को मधु १ चम्मच के साथ मिलाकर किंचित उष्ण करके दिन में तीन बार चाटने से कास और प्रतिष्याय दूर होती है।

**शुष्क कास (सूखी खाँसी)**—(क) सुहागे की खील १० ग्रेन, अपामार्ग क्षार १० ग्रेन, प्रवाल भस्म ८ ग्रेन। यह एक मात्रा है। ऐसी ३ मात्राएँ दिन में ३ बार, मधु के साथ चाटें। सप्ताह भर में आराम आता है।

**(ख) कास दमन वटी**—अहिफेण ३ ग्राम, शक्कर तीगाल ३ ग्राम, वंशलोचन ६ ग्राम, समक अरबी ६ ग्राम, निशास्ता ६ ग्राम और खसखस दाना ६ ग्राम। सभी औषधियों को प्रथक-पृथक् सूक्ष्म पीस लें। अब वजन करके एक-एक करके खरल में डाल दें और थोड़े से जल में एकत्र घोटकर मूँग प्रमाण वटियाँ बनायें। यह बार-बार उठने वाली सूखी और लम्बी खाँसी को समाप्त कर डालती है। व्याधि चाहे स्वतन्त्र हो या अनुबन्ध रूप में। मात्रा—२ वटियाँ ८ घण्टों के अन्तर से ताजा जल से दें। परिहार—अम्ल, लाल मिर्च और गरम मसालों से। यह जीर्ण शुष्क कास और काली खाँसी को भी शान्ति देता है।

**कासहर वटी**—मुलहठी ५० ग्राम, सुहागा खील ५० ग्राम, कूजा मिश्री ५० ग्राम, काकडासिंगी २५ ग्राम, गोंद कीकर १० ग्राम और सतपुदीना २ ग्राम। सब को पृथक्-पृथक् चूर्ण बनाकर रखें। फिर सब को तौलकर खरल में थोड़ा जल डालकर १०-१५ मिनट खरल करके चने प्रमाण वटियाँ बनायें। दिन में दो-दो वटियाँ तीन बार चूसें या निगल लें। सब प्रकार की खाँसी पर लाभदायक है। (स्मरण रहे कि नवीन कास रोग में कफ को पतला करने के लिए और बाहर निकालने के लिए औषधि देनी चाहिए। गरम और रुक्ष औषधि देने से छाती बन्द हो जाती है। फिर श्वास रोग उत्पन्न हो जाता है।)

**श्वास रोग (दमा)** (Asthma)—आक के पत्ते ५ नग, काली मिर्च १०० दाने। दोनों को पीसकर उड़द प्रमाण वटियाँ बनाकर शीशी में रखें। मात्रा २ वटी, दिन में ३ बार कोष्ण जल से। अथवा

फिटकरी की खील निकालकर पीस लें। यह २० ग्राम और कूजा मिश्री २० ग्राम मिलाकर पीसकर शीशी में रखें। मात्रा १-२ ग्राम रात को सोते समय कोष्ण जल से प्रतिदिन लें अथवा आयुर्वेद शास्त्र की श्वाँसकुठार रस की एक वटी, प्रातः-सायं मधु से सेवन करने से श्वाँस रोग को नवीन अवस्था में लाभ करता है।

**श्वांसहर पानक**—वासामूलत्वक २५० ग्राम, अपामार्गमूलत्वक १८० ग्राम, छोटी कण्टकारी मूलत्वक १६० ग्राम, बहेड़ात्वक १२५ ग्राम, सोंठ ७५ ग्राम, कायफल ६५ ग्राम, पिपली ४० ग्राम।

**विधि**—सातों औषधियों को सात किलोग्राम जल में क्वाथ करते हुए सातवाँ भाग शेष रखें। उतारकर वस्त्रपूत करें। अब एक किलोग्राम शुद्ध मधु मिलाकर बोतल में रखें। मात्रा ३० ग्राम समभाग कोष्ण जल मिलाकर दिन में दो बार प्रयोग करें। नया पुराना श्वाँस रोग दूर हो जाये। पथ्य–चने का सूप, करेला का साग, चावल और रोटी।

**श्वाँस हर धूनी**—वासापत्र, धतूरपत्र और वनतमाकूपत्र। तीनों को समभाग लेकर उसमें से थोड़ा-सा चिलम में डालकर धुआँ पी लेने से साँस तत्काल खुल जाता है।

**उष्णवात-सुजाक** (Gonorrhoea)—सर्पांगादि चूर्ण—सर्पांग २० ग्राम, शीतलचीनी (कबाब चीनी) २० ग्राम, रेवन्दचीनी २० ग्राम, सफेद जीरा २० ग्राम, छोटी इलायची बीज २० ग्राम, यवक्षार (जौ क्षार) १० ग्राम, और देसी खाँड सर्व समभाग।

विधि—सब औषधियों को पृथक्-पृथक् पीस लें, फिर तोलकर मिश्रित करके शीशी में रखें। मात्रा ६ ग्राम, दिन में दो बार प्रयोग करें। अनुपान—गाय के कच्चे दूध की लस्सी का एक गिलास, पाँच दाने काली मिर्च का चूर्ण और खाँड २० ग्राम मिलाकर प्रयोग करें। प्रयोगकाल ३ सप्ताह। इससे उष्णवात,

मूत्रदाह और मूत्रकृच्छ दूर हो जाता है।

**मूत्रदाह नाशक चूर्ण**—धनिया चूर्ण १०० ग्राम और मिश्री १०० ग्राम, दोनों को मिलाकर शीशी में रखें। मात्रा ६ ग्राम, दिन में दो बार प्रयोग करें। अनुपान बासी जल एक कप। दवाई के आगे-पीछे दो-ढाई घण्टे तक कुछ न खायें।

गुण—मूत्राशय की जलन, वीर्य की उत्तेजना, स्वप्नदोष और प्रमेह दूर हो। अपथ्य—अम्ल, गरम मसाला, लालमिर्च और तले हुए पदार्थ।

**मूत्राघात** (Kidney Failure)—मूली क्षार १० ग्रेन को मूत्रदाहनाशक चूर्ण ६ ग्राम के साथ मिलाकर प्रयोग करें और ४ बजे ताजा मूली स्वरस ५० ग्राम मिलाकर प्रयोग करने से विकार दूर हो जाता है। यदि मूत्र बनाने वाली वृक्क ग्रन्थियों ने मूत्र बनाने का काम छोड़ भी दिया हो तो भी वह मूत्र बनाने का काम आरम्भ कर लेती हैं।

**मूत्रावरोध** (Retention of Urine)—(क) सौंफ, रूमी सौंफ, करफस, खीराबीज, खरबूजा बीज और बरवड़ा बीज सब तीन-तीन ग्राम लेकर ५०० ग्राम जल में क्वाथ करके २५० ग्राम शेष रहने पर उतारकर छान लें। कोष्ण हो जाने पर ३०-४० ग्राम अरण्ड तेल मिलाकर पीने से वायु का प्रतिलोम ठीक होकर मूत्र शीघ्र खुल जाता है।

(ख) सफेद जीरा २५ ग्राम और कूजा मिश्री २५ ग्राम लेकर सूक्ष्म पीसकर शीशी में रखें। मात्रा—३ ग्राम, दिन में २-३ बार। अनुपान—जल। इससे मूत्र खुलकर आता है।

(ग) लेप—मूषेंगन १० ग्राम, कलमीशोरा १० ग्राम पीसकर मक्खन से मिलाकर अथवा कोष्ण जल से मिलाकर पेड़ू पर लेप लगायें। मूत्र खुल जाता है।

(घ) रबड़ की नली (कैथेटर) को मूत्रेन्द्रिय की नली में प्रवेश करने से मूत्र खुलकर निकल आता है।

**अश्मरी पर कुल्थी प्रयोग** (Gall bladder Stone)—(क) कुलथी ३० ग्राम, नख ३० ग्राम। दोनों का चूर्ण बनाएँ और खरल में अच्छी प्रकार से मिलाकर शीशी में रखें। मात्रा—चार ग्राम। प्रातः और सायं, अनुपान—जल गुण—शर्करा और अश्मरी के कारण मूत्रावरोध दूर हो जाता है। मूत्र विकारों में ककड़ी, खरबूजा, मूली आदि जैसे द्रव्यों का प्रयोग लाभदायक होता है।

(ख) कुलथी ५० ग्राम लेकर ८०० ग्राम जल में क्वाथ करके २०० ग्राम शेष रखें। यह एक मात्रा है। दिन में प्रातः-सायं दो मात्राएँ ताजा बनाकर पिलाएँ। बची हुई कुल्थी को नमक, काली मिर्च और हल्दी डालकर चावल के साथ दाल-सब्जी के स्थान पर खाएँ, इसमें शुद्ध गोघृत भी डाल सकते हैं। ३-४ सप्ताह के प्रयोग से पथरी मूत्र मार्ग द्वारा स्वयं निकल आती है।

(ग) संगयुहूर की भस्म १० ग्रेन को निम्न अनुपान से दिन में दो बार, तीन दिन तक प्रयोग करने से पथरी, रेत बनकर मूत्र मार्ग के द्वारा बाहर निकल आती है। अनुपान—सूरजमुखी फूल के पौधे के मूल की छाल १० ग्राम, गुलदाऊद पञ्चाङ्ग १० ग्राम और पाषाणभेद १० ग्राम। क्वाथार्थ जल ५०० ग्राम, शेष २०० ग्राम।

**बहुमूत्र** (Incontinence of Urine)—चन्द्रप्रभावटी की एक वटी प्रातः और एकवटी सायं प्रयोग करें। अनुपान—उबालकर गाय का दूध एक-एक कप। प्रयोगकाल १ मास पर्यन्त। अपथ्य—अम्ल, तेल और लाल मिर्च। पथ्य–चने की तरी, मेथी का साग, सिंघाड़े के आटे की रोटी, सब्ज तरकारी, दूध-दही, मीठी जामुन के फल और कदली फल अधिक उपयोगी हैं।

**वृक्क शूल (दर्द गुर्दा)** (Kidney Trouble)—(क) इसमें मूत्रल, रेचक और वातानुलोमक औषधियों के प्रयोग से लाभ होता है। रूमी सौंफ, करफस, सौंफ, खीरे के बीज यवकुट करके, खरबूजे और बखड़े के बीज यवकुट करके सभी तीन-तीन ग्राम लें, और सनाय पत्र ६ ग्राम डालकर ४०० ग्राम जल में क्वाथ पकाकर २०० ग्राम शेष रखें। इसको प्रातः और सायं थोड़ा गरम-गरम पी लेना चाहिए। वृक्क प्रदेश पर रबड़ की बोतल की सेंक करना चाहिए। दो-तीन दिन में दर्द को आराम आ जाता है।

(ख) तुलसीपत्र १० ग्राम, अजवायन १० ग्राम और सेंधा नमक ५ ग्राम। सबको पृथक-पृथक पीसकर, वजन करके मिलाकर शीशी में रखें। मात्रा २ ग्राम। अनुपान—उष्ण जल, दिन में दो बार लें। रोग दूर हो जाता है।

**मधुमेह** (Diabetese): (क) **गुडमारादि वटी**—जामुन की गुठली, गुडमार बूटी, करेला फल शुष्क और नीम की गुठली। इनका समभाग चूर्ण लेकर, करेले के स्वरस से भावना देकर मटर के समान वटियाँ बनाकर रखें। मात्रा—छः वटियाँ एक बार, अनुपान–ताजा जल अथवा दूध। ऐसी तीन मात्राएँ, दिन में ३ बार छः छः घण्टों के अन्तर से प्रयोग कराते रहें। इसमें रक्त शर्करा और मूत्र शर्करा दोनों की परीक्षा एक-एक मास के अन्तर से करवाना चाहिए। ६-८ सप्ताहों के प्रयोग से रोग पर अंकुश लगेगा। परन्तु औषधि को प्रत्येक मास में एक-एकसप्ताह अथवा आवश्यकतानुसार अधिक दिनों तक प्रयोग करते रहना चाहिए। अपथ्य—खाँड, चावल, आलू और मीठे पदाथ फल, घी, तेल, लाल मिर्च का सेवन तथा दिवा स्वप्न से। पथ्य—हरी तरकारियाँ, करेला, कद्दू, मूली, टमाटर, गाजर, दही और छाछ। जामुनफल, खीरा, अमरूद, खट्टा-मीठा सेव और नींबू का प्रयोग। चावल, जीवन निर्वाह के लिए थोड़ा-बहुत खाया जा सकता है। जौ, गेहूँ, सिंघाड़े के आटा की रोटी पथ्य है। दिन में प्रातः-सायं पदयात्रा करनी बड़ी लाभदायक है। करेला तरकारी का प्रयोग अधिक किया जाये।

(ख) मेथीदाना ५ ग्राम को यवकुट करके एक कप चाय बनाकर प्रातः लघु आहार करने से एक घण्टा पहले और रात को सोने से पहले दो-तीन सप्ताह तक पीने से मधुमेह में आश्चर्यजनक लाभ होता है। इससे घुटनों की पीड़ा और मोटापा भी कम हो जाता है। परन्तु वातपित्त अर्थात् गर्म प्रकृति वालों को विचारपूर्वक इसका प्रयोग करना चाहिए। इससे मूत्र का बार-बार आना भी रुक जाता है।

**रक्तप्रदर** (Menorrhoea)—(क) अशोक की छाल ५० ग्राम को रात-भर यवकुट करके १ किलो जल में भिगो दें। प्रातः क्वाथ करके चतुर्थांश शेष रखकर छान लें। अब समभाग गोदुग्ध मिलाकर पुनः पाक करें। दूध मात्र शेष रहने पर उतार लें, आधा भाग प्रातः और शेष आधा भाग सायं को गरम करके पिलाएँ। एक सप्ताह प्रयोग करने से लाभ प्राप्त हो जाता है।

(ख) मुलतानी मिट्टी १० ग्राम को २०० ग्राम जल में मिट्टी के पात्र में रात्रि भर भिगोने के लिए डाल दें। प्रातः निथारकर, इसको सोनागेरू चूर्ण २ ग्राम के साथ पीने से रक्त प्रदर दूर हो जाता है।

(ग) कुशा (दर्भ) मूल १ किलो को ३ किलो जल में यवकुट करके रातभर जल में भिगोकर रखें। प्रातः क्वाथ करके चतुर्थांश शेष रखकर छान लें। अब ५०० ग्राम खाँड डालकर चाशनी करके बोतल में ठण्डा करके रखें। मात्रा—५० ग्राम औषधि को १०० ग्राम जल मिलाकर प्रातः सायं प्रयोग करें। यदि इसको प्रदरादि लौह के साथ अनुपान के रूप में प्रयोग किया जाये तो रक्त स्तम्भन के साथ-साथ कटिपीड़ा दूर होकर कमर सीधी हो जाएगी। (कुशा से पुरोहित पूजा-पाठ, क्रियाकर्म आदि कार्य करते हैं)।

(घ) अशोकारिष्ट १५-२० ग्राम समजल मिलाकर भोजनोपरान्त दोनों समय प्रयोग करने से लाभ मिले।

(ङ) कमरकश, मेदासक, तबाशीर असली, कतीरा सफेद, गोंद कीकर और गेरू—सब १०-१० ग्राम लेकर चूर्ण बनाकर मिलाकर शीशी में रखें। मात्रा—३ ग्राम, दिन में दो बार। अनुपान—गौ दूध। गुण—रक्त स्तम्भक, कटिपीड़ा नाशक है।

**रजावरोधे रजः प्रवर्त्तक पानक** (Ammenorroea)—सौंफ मूल, सौंफ, खीरा बीज, खरबूजा बीज, गोक्षरू बीज, मकोबीज—सब १२-१२ग्राम, सनायपत्र २४ ग्राम, अमलतास का छिलका ६० ग्राम। सभीद्रव्यों को यवकुट करके रातभर डेढ़ किलो जल में भिगोने को रखो। प्रातः क्वाथ करते हुए चतुर्थांश शेष रखकर छान लें। अब ३७५ ग्राम खाँड डालकर कवाथ करके शीत होने पर बोतल में भर लें। मात्रा ५० ग्राम समभाग जल मिलाकर दिन में दो बार प्रयोग करें। मासिक धर्म खोलता है।

**स्तनशोथ** (Mastitis)—चाङ्गेरी ६० ग्राम को पीसकर काली मिर्च चूर्ण १ ग्राम मिलाकर इसका कल्क स्तनों पर बाँधने से स्तनशोथ अथवा विद्रधि बैठ जाती है।

(ख) दाडिमत्वक का चूर्ण ५० ग्राम लेकर जल के साथ इसका लेप तैयार करके स्तनों पर बाँधने से स्तनशोथ बैठ जाता है।

(क) स्तनों में दूध लाने के लिए शतावरी का चूर्ण ३ ग्राम को प्रातः सायं, दूध के साथ लेने से स्तनों में दूध अधिक उपजता है।

(ख) स्तनों में दूध शुष्क करने के लिए श्वेत जीरा २५ ग्राम को सिरके के साथ घिसकर स्तनों पर लेप लगाने से दूध सूख जाता है।

(ख) सफेद जीरा, सौंफ और मिश्री तीनों का समभाग चूर्ण मिलाकर शीशी में रखें। मात्रा ३-४ ग्राम भर। दिन में तीन बार। अनुपान—गो दूध। स्तनों में दूधबढ़ जाता है। माता को यदि रक्त की न्यूनता हो। तो उसको रक्त वृद्धि के लिए अंगूर, मुनक्का या किशमिश, पपीता, सेबादि फलों का प्रयोग करते रहना चाहिए।

**सोमरोग**—आँवला चूर्ण ६ ग्राम को चौगुने जल में शीशे के गिलास में रात-भर भिगोने को रखो, प्रातः निचोड़कर १० ग्राम मधु मिलाकर प्रयोग करते रहें। दो घण्टे तक और कुछ न खाएँ। इसके प्रयोग से स्त्रियों का सोमरोग, मासिक धर्म की अनियमितता और शारीरिक कार्श्यता दूर हो जाती है।

स्वप्न दोष (Bed wetting)—धनिया चूर्ण २० ग्राम और कूजामिश्री चूर्ण २० ग्राम मिलाकर शीशी में रखें। मात्रा छः ग्राम बासी जल के साथ। औषधि के आगे-पीछे डेढ़ घण्टे तक कुछ न खाएँ। गुण—मूत्र की जलन, स्वप्नदोष, वीर्य की उत्तेजना और प्रमेह नाशक भी है।

**प्रमेह** (Spermettorrhoea) **वंशलोचनादि चूर्ण**—(क) वंशलोचन (तबाशार) १० ग्राम, कतीरा सफेद १० ग्राम, गेरू १० ग्राम, गुलनार फार्सी १० ग्राम, श्वेत चन्दन १० ग्राम, बङ्गभस्म ५ ग्राम और खाँड ५५ ग्राम। सब द्रव्यों को सूक्ष्म चूर्ण करें और वजन करके मिलाकर शीशी में रखें। मात्रा—३ ग्राम, दिन में दो बार। अनुपान—जल। अपथ्य—अम्ल, लाल मिर्च, तेल और मसाले, विबन्ध हो तो त्रिफला चूर्ण ६ ग्राम मधु के साथ रात को सोते समय लेना चाहिए। दिवा-स्वप्न और स्त्रीसहवास त्याज्य है। प्रयोगकाल—२ सप्ताह।

(ख) चन्द्रप्रभावटी—प्रातः सायं एक-एक वटी, दूध के साथ, ४० दिन तक प्रयोग करें। इसके प्रयोग से प्रमेह, रक्ताल्पता, दौर्बल्य और पांडुविकार भी दूर हो जाते हैं।

(ग) **वाजीकरण चूर्ण**—शतावरी चूर्ण ३० ग्राम, असगन्ध नागौरी ३० ग्राम, खाँड ६० ग्राम। सब का चूर्ण शीशी में मिलाकर रखें। मात्रा छः ग्राम, दिन

में दो बार। अनुपान—दूध वा जल। गुण—स्वप्नदोष, प्रमेह और इसके कारण उत्पन्न कमजोरी को दूर करता है। कामी पुरुष को वाजीकरण चूर्ण का प्रयोग बीच-बीच में करते रहने से, शरीर की शक्ति बनी रहती है।

**क्लीबतानाशक लेप**—हस्तमैथुन या और कारणों से आई हुई लिंगेन्द्रिय की कमजोरी के लिए, शुद्ध हींग ३ ग्राम को जल के साथ लेप बनाकर सोते समय, विकारयुक्त इन्द्रिय पर लेप लगाएँ। प्रातः उठकर उष्णोदक से धो डालें। दो-तीन सप्ताह तक विकार दूर हो जाता है। शीतल जल के साथ सम्पर्क न रखें। उपरोक्त वाजीकरण चूर्ण का प्रयोग करते रहें और स्त्री सहवास से दूर रहें।

**श्वेतप्रदर** (Leaucorrhoea) **धान्यकादि चूर्ण**—(क) गिरी धनिया चूर्ण १० ग्राम, कंवल डोडा गिरी चूर्ण १० ग्राम, शीतल चीनी (कबाब चीनी) १० ग्राम, कीकर गोंद १० ग्राम, कत्था ५ ग्राम, शुद्ध वर्की हरताल ३ ग्राम, देसी खाँड़ ५० ग्राम। सब का चूर्ण तोलकर मिलाकर घड़ी भर खरल करके शीशी में रखें। मात्रा ३ ग्राम, दिन में दो बार। अनुपान—गोदूध। मिर्च, मसाला, अम्ल और तेल का प्रयोग वर्जित है। सात्त्विक आहार, दही की लस्सी और फल पथ्य है।

(ख) मुर्गी के अण्डों के छिलकों को जलाकर भस्म कर लें मात्रा १० ग्रेन, दिन में दो बार मक्खन के साथ प्रयोग कराएँ।

(ग) सुपारी पाक का प्रयोग छः-छः ग्राम की मात्रा में दिन में दो बार जल से या दूध से प्रयोग करवायें।

(घ) **चन्द्रप्रभावटी**—एक-एक वटी दिन में दो बार दूध के साथ ३-४ सप्ताह तक प्रयोग करायें।

(ङ) भुने हुए चनों की दाल २० ग्राम और किशमिश १० ग्राम मिलाकर प्रातः-सायं एक सप्ताह खाने से भी लाभ होता है।

## बाल रोग (Diseases of the Children)

**बाल ज्वर**—गोदन्ती भस्म २ ग्रेन, सफेद अभ्रक भस्म २ ग्रेन, दोनों को मिलाकर दिन में ३ बार मधु से चटायें। दो-तीन दिनों में साधारण ज्वर शान्त हो जाता है।

**अतिसार**—बड़ी इलायची, सौंफ, पुदीना, कचूर, माजू, काला जीरा और अजवायन का क्वाथ २-३ चम्मच दिन में ३-४ बार पिलायें। अथवा

बड़ी इलायची, पुदीना, हब्बुल्लास और दारचीनी का क्वाथ २-३ चम्मच दिन में ३-४ बार पिलायें। एक-दो दिन में विकार दूर हो जाता है।

**वमन**—जहरमोहरा को जल पर घिसकर दिन में एक-एक अंगुली ३-४ बार खिलायें। अथवा कंवलडोडा, छोटी इलायची, तबाशीर असली और कूजा मिश्री को समभाग लेकर चूर्ण बना लें। मात्रा १० ग्रेन, दिन में ३-४ बार। वमन रुक

जाता है।

**कृमिज अतिसार**—अजवायन, विडङ्ग और हब्बुल्लास सब तीन-तीन ग्राम का क्वाथ दिन में २-३ बार तीन-तीन चम्मच भर पिलायें। दो-तीन दिन में कीड़े निकालकर अतिसार भी रुक जाता है। पेट का अंफारा भी समाप्त हो जाता है।

**खाँसी**—मुलहठी, सौंफ और बड़ी इलायची का समभाग चूर्ण ६ से १० ग्रेन की मात्रा में दिन में तीन बार खिलायें। अनुपान—गरम जल अथवा मधु।

**काली खाँसी**—फिटकरी खील २ ग्रेन को २ ग्रेन चीनी के साथ मिलाकर दिन में दो बार खिलाएँ। सप्ताह भर तक लाभ हो जाता है। अथवा

कास दमन वटी को छः-छः घण्टों के अन्तर से ५ वर्ष के बच्चे को आधी, १२ वर्ष वाले को १ वटी, १६ वर्ष से दो-दो वटियाँ देवें।

**दूध की उल्टी होने पर**—चूर्णोदक के प्रयोग से दूध की उल्टियाँ समाप्त हो जाती हैं। पाचक शक्ति बढ़ती है और चूने की पूर्ति से शरीर हृष्ट-पुष्ट हो जाता है। मात्रा—एक वर्ष से कम अवस्था वाले बच्चे को, जितने महीने का शिशु है उतने चूर्णोदक के बिन्दु दूध में डालकर दिन में २-३ बार दें। १ वर्ष से ऊपर के बच्चे को १०-१५ बूंदें आधा कप दूध या जल में मिलाकर दिन में दो-तीन बार देने से दूध का वमन रुक जाता है।

**चूर्णोदक बनाने की विधि**—अनबुझा चूना ५० ग्राम को १ किलो जल में २४ घण्टे तक मिट्टी के पात्र में डाल दें। बीच में एक-दो बार लकड़ी से खूब हिलाएँ। २४ घण्टे के पश्चात् निथारकर बोतल में भर लें और काम में लायें।

**आँख दुःखने पर**—रसौंत, हल्दी और फिटकरी खील को पत्थर पर जल से घिसकर पपोटों पर लेप करने से आराम आता है।

**प्रतिष्याय**—केशर (जाफरान) को उष्णोदक पर घिसकर माथे पर लेप करने से प्रतिष्याय दूर होता है। दाँत निकालते हुए सभी विकारों को शान्त करने के लिए मसूढ़ों पर मधु और नमक मलने से लाभ होता है।

**रात्रिमूत्रण**—तिल और गुड़ का लड्डू एक-एक ग्राम की मात्रा में दिन में २-३ बार सप्ताह-दो सप्ताह खिलाने से आराम आता है। सिंघाड़े के आटे की रोटी खिलाने से लाभ होता है। फलों में कदली (केला) लाभदायक है। चाय का प्रयोग कम करने से भी आराम हो जाता है।

**अग्निदग्ध (Burn)**—तत्काल दग्ध पर शक्कर ८ तोला, नमक १ तोला और जल १०० ग्राम का घोल बनाकर, इसमें भीगा हुआ कपड़ा दग्ध स्थान पर लपेटकर रखो। अथवा

सरसों के तेल में मीठा सोडा या नमक मिलाकर लेप लगाने से आराम आता है। दग्ध के छाले फटकर जब व्रण हो जायें—

राल का सूक्ष्मचूर्ण २५ ग्राम, तिल तेल १०० ग्राम और जल २५० ग्राम। राल को तेल के साथ मिलायें अब जल को थोड़ा-थोड़ा करके लकड़ी की सलाई से मिलाते रहें। मक्खन जैसा घोल बन जाने पर, पक्षी के पर से लेप लगाते रहें। दग्धव्रणों का रोपण ८-१० दिन तक हो जाता है।

**कण्डू**—गन्धक अमलसार १० ग्राम, काली मिर्च चूर्ण १ ग्राम। दोनों को बारीक पीसकर शीशी में रखो। ग्राम भर औषधि को थोड़े से तेल के साथ मिलाकर इसका अभ्यंग धूप में करने से बच्चे का कण्डू दूर हो जाता है। बच्चे को नित्य स्नान कराना और साफ कपड़े पहनाने चाहिएँ।

**तालु गिरने पर**—मुर्गी के अण्डे का सफेद भाग १ नग को, तिल तेल २० ग्राम में मिलाकर रखें इसकी भीगी रुई का फोहा तालू पर रखें। नित्य ताजा लेप लगायें। सप्ताह भर तक बदलाते हुए विकार ठीक हो जाता है।

**सूखाहर योग**—जरकश (खूबकलां) १० ग्रेन सौंफ के अर्क में पीसकर दिन में दो बार बच्चे को खिलाने से सूखा रोग दूर हो जाता है। प्रयोग काल १-२ मास पर्यन्त।

**बाल पौष्टिक लेह**—गाय का ताजा मक्खन, मधु, मिश्री चूर्ण और गोदुग्ध सब १०-१० ग्राम लें और काली मिर्च १ नग चूर्ण। सब को मिलाकर साफ पात्र में ढककर रखें। इसका चौथा भाग दिन में चार बार चटाते रहें। प्रयोग काल २-३ मास पर्यन्त।

**बालामृत**—जरकश (खूबकला) ५० ग्राम, सरताननहरी ३० ग्राम, नीलोफर फूल १०० ग्राम, मुलहठी १०० ग्राम, काहजबान फूल (कशमीरी) २०० ग्राम, बांसा पञ्चांग १ किलो।

विधि—काष्ठ औषधियों को साफ करके और यवकुट करके १२ किलो जल में क्वाथ करें। ३ किलो शेष रहने पर उतारकर छान लें। इसके साथ चूर्णोदक (चूने का पानी) ७५० ग्राम मिलाकर पुन: पाकक्रिया करें। एक दो उबाल आने पर अब डेढ़ किलो खाँड मिलाकर कवाम करें। एक तार का कवाम करके उतारें। शीत होने पर शीशियों में भरलें। इसको रंगीन भी बना सकते हैं।

मात्रा—१ चमचा, भोजनोपरान्त, दोनों समय।

गुण—बच्चों का सूखारोग, अतिसार, वमन, कास, अजीर्ण, आध्मान, ज्वरादि सभी रोग दूर हो जाते हैं। यह स्कर्वी और पोलियो आदि रोग दूर करता है। पाचक संस्थान, नाड़ी संस्थान, रक्तवाहक संस्थान और अस्थिसंस्थान को शक्तिमान बनाता है। पंगु बालक चल-फिर सकता है। बच्चों का जीवनदाता यह शनक बालामृत बनाकर इसके चमत्कार देखें।

**मधुयष्टलादि चूर्ण**—श्वसनक ज्वरोक्त (निमोनिया) मधुयष्ट्यादि चूर्ण

बच्चों के श्वासोच्छ्वास संस्थान के रोगों के लिए बहुत गुणकारी महौषध है। यह बच्चों के वातश्लैष्मिक ज्वर, प्रतिष्याय, कास, श्वास, पार्श्वशूल और श्वसनक ज्वर के लिए अतीव गुणकारी है। कफ को पिघलाकर छाती को साफ कर देता है। इसको बनाकर आयुर्वेद चिकित्सा का चमत्कार देखें। सेवन विधि वहीं पर लिखी गई है।

**अग्निदग्ध** (Burn Uleers)—(क) अग्निदग्ध स्थान परतत्काल ग्लिसरीन का लेप लगायें अथवा शहद का लेप लगायें। अथवा

(ख) नारियल तेल १ भाग और चूर्णादक १ भाग, दोनों को मिलाकर इसका लेप लगायें। अथवा

(ग) सरसों का तेल और नमक का लेप लगायें अथवा आलुओं को पीसकर इसका लेप लगायें। अथवा

(घ) शक्कर ८ ग्राम, नमक १ ग्राम को जल १०० ग्राम में घोल बनाकर इसमें भीगा कपड़ा लपेटकर रखें।

उपरोक्त तात्कालिक उपायों से दाह और पीड़ा जाती है और छालें भी नहीं पड़ते।

**अग्निदग्ध रोपक मरहम**—सनायपत्र चूर्ण २० ग्राम, मेंहदी पत्र चूर्ण २० ग्राम, मोम २० ग्राम, तेल ६० ग्राम, घी ६० ग्राम।

विधि—तेल को गरम करके उसमेंमोम और घी मिलायें। अब शेष दो द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण मिलाकर, एक उबाल लाकर पात्र को नीचे उतारें। खूब हिलाकर खुले मुँह वाली शीशी में रखें। दग्ध व्रणों को कृमिघ्न सुहागा घोल (सुहागा १ भाग, शुद्ध उबाला हुआ जल ४० भाग) में सर्वप्रथम साफ करके लेप लगायें।

**कण्डू** (Scabies)—नारियल तेल २० ग्राम में आधा ग्राम काफूर मिलाकर स्नान से पहले इसका अभ्यंग शरीर पर करें। अथवा

गन्धक १० ग्राम और काली मिर्च चूर्ण १ ग्राम को सरसों के तेल के साथ मिलाकर अभ्यंग करें पश्चात् नीम साबुन और उष्णोदक से स्नान करें।

**दाद** (Exyma)—खुजली के साथ दाह और छोटी फुंसियाँ हों तो नारियल तेल अथवा नीम तेल को लगाने से कण्डू और दाद दूर हो जाता है।

**चम्बल हर लेप**—(क) गन्धक १० ग्राम, पारा १० ग्राम, नवसादर ठीकरी ५ ग्राम, नीलाथोथा १ ग्राम और सुहागा १० ग्राम।

विधि—पारा गन्धक की कज्जली बनाकर, शेषद्रव्यों को पीसकर वैसलीन ५० ग्राम के साथ लेप तैयार करें। इसका लेप चम्बल, दाद दद्रू के लिएलाभदायक है। कण्डू नाशक भी है।

(ख) फिनाइल ३ बूंद और काफूर २ टिक्की को वैसलीन ६ ग्राम से मिलाकर बनाया हुआ लेप भी गुणकारी है।

(ग) **दद्रूघ्न तेल**—जंगली उपले १ किलो, नारियलगिरी पुरानी १२५ ग्राम, तम्बाकू मला हुआ पुराना १६० ग्राम, नीलाथोथा १२ ग्राम और हुक्के का पुराना गठ्ठा १ नग। यवकुट करके सभी द्रव्यों को मिलाकर हाँडी में भर दें, पाताल यन्त्र द्वारा तेल निकालें। तेल को शीशी में भरकर रखें। रुई के फोहे से दद्रू पर दिन में दो बार लगाते रहें। १-२ सप्ताह तक आराम आयेगा।

**लाल मरहम**—सिन्दूर असली १०० ग्राम, गन्धक १० ग्राम, कत्था १० ग्राम, मुर्दासंग ५ ग्राम, यशद भस्म ५ ग्राम, रस कपूर डेढ़ ग्राम, दालचिकना डेढ़ ग्राम और वैसलीन सफेद २५० ग्राम। सभी द्रव्यों को सूक्ष्म पीसकर वैसलीन के साथ अच्छी प्रकार से मिलाकर शीशी में रखें। कण्डू, दाद आदि चर्मरोग के लिए अतीव लाभकारी मरहम है।

**काली मरहम**—तिल तेल २५० ग्राम, सिन्दूर लाल (असली) २० ग्राम, तुत्थ २ ग्राम, सत बिरोजा ६० ग्राम, गन्दा बिरोजा १० ग्राम, मोम १२५ ग्राम।

विधि—तेल को कढ़ाई में गर्म करके सिन्दूर डालें, चम्मच से हिलाते रहें। काला रंग होने पर उतारें, थोड़ा ठण्डा होने पर शेष पिसी हुई औषधियाँ मिलाकर खुली मुँह वाली शीशी में रखें। व्रण को पूय से अच्छी प्रकार शुद्ध करके कपड़े के टुकड़े पर मरहम लगाकर बन्धन करें। इससे सभी दुष्ट व्रण भी रोपित हो जाते हैं। परन्तु लगातार लगायें।

**विद्रधि हर मरहम**—तिल तेल २५० ग्राम, सिन्दूर असली ८० ग्राम, मोजदार संग ६ ग्राम, तुत्थ साढ़े चार ग्राम, जंगार साढ़े चार ग्राम, हिंगुल ६ ग्राम, सफेदा काशगरी ६ ग्राम।

विधि—तेल को कढाई में गरम करके सिन्दूर डालें, हिलाते हुए जब कृष्णवर्ण का हो जाए तो शेष औषधियाँ बारीक पिसी हुई डालें। नीचे उतारकर, मिलाकर चालन से हिलाते रहें। ठण्डा होने पर खुले मुँह वाली शीशी में रखें। हर प्रकार के फोड़े-फुँसी पर लगायें। फोड़ा पककर फट जाएगा। अब काली मरहम लगायें। व्रणरोपित हो जाएगा।

**सद्योव्रण चिकित्सा (ताजा घाव)**—कटे हुए स्थान से रक्त का प्रवाह बन्द करने के लिए तुरन्त तारपीन तेल में भीगी हुई रुई का फोहा रखकर बन्धन लगाए अथवा मिट्टी के तेल का फोहा रखकर बन्धन लगायें। बन्धन को खोले बिना २-३ दिन तेल को ऊपर से बन्धन पर डालते रहें, व्रण का रोपण हो जाता है।

**नाड़ीव्रण (नासूर)** (Necrosis)—साँप की केंचुली को जलाकर दो पात्रों में सम्पुट करके, आग में रखकर जलाकर राख बना लो। थोड़ी-सी राख को बढ वृक्ष (वट) के दूध की ८-१० बूंदों में मिलाकर मलमल कपड़े का टुकड़ा, इससे लतपत करके नाड़ीव्रण में भर दें। सप्ताह के पश्चात् यदि आवश्यकता पड़े तो दूसरी वर्ति भर सकते हैं। नाड़ीव्रण और कण्ठमाला भी ठीक हो जाती है।

**मोच, चोट और भग्न**—गेहूँ का आटा २५० ग्राम, हल्दी चूर्ण १२ ग्राम, दोनों को कुमार गन्दल के गूदे से गोंदकर अधपकी रोटी बनायें। तिल तेल से एक ओर चुपड़कर मोचादि के स्थान पर बाँधे। दो-चार बार ऐसा करने से लाभ हो जाता है। खाने के लिए शिलाजीत १ ग्राम गौ दूध एक कप के साथ प्रयोग करायें।

**रक्तशोधक चूर्ण**—शुद्ध गन्धक १ ग्राम, काली मिर्च आधा ग्राम, त्रिफला चूर्ण ६ ग्राम। तीनों मिलाकर एक मात्रा है। दिन में दो बार। अनुपान—अमलतास का गूदा २५ ग्राम लेकर १२५ ग्राम कोष्णजल में घोलकर छान लें, इसको प्रातः ७ बजे की मात्रा के ऊपर पी लेवें और अपराह्न ५ बजे को कोष्णजल से लेवें। गुण—नये और पुराने चर्म रोग दूर हो जाते हैं और कण्डू आदि एक-दो सप्ताह में समाप्त हो जाते हैं। सेवन काल ३-४ सप्ताह तक। पथ्य—दूध, घी, सब्ज तरकारी आदि सात्त्विक भोजन।

**शीत पित्त** (Urtiscaria)—अजवायन चूर्ण ५० ग्राम और ५० ग्राम गुड़ दोनों को परस्पर घोटकर दो-दो ग्राम के वटक बनाएँ। मात्रा—२ वटक, दिन में तीन वार। अनुपान—ताजा जल। ३ से ७ दिन तक नया पुराना शीत पित्त दूर हो जाता है।

**आँत उतरना** (Hernia)—योगराग गुग्गुलु १ वटी दिन में दो बार रास्ना सप्तक क्वाथ के साथ लेने से व्याधि दूर हो जाती है। प्रयोग काल १-२ सप्ताह।

**अधिमाँस हर लेप**—कुष्ठ, वत्सनाभ, जदवार खताई, रेवन्द कश्मीरी। समभाग लेकर सूक्ष्म पीसकर फिनाईल विलायती के साथ लेप तैयार करके अधिमांस पर लगायें। अधिमांस पिघलकर जल बनकर प्रवाहित होगा और समाप्त हो जाएगा।

**गंज हर लेप**—नारियल तेल और मिट्टी का तेल समभाग मिलाकर शीशी में रखें। सिर पर थोड़ा-थोड़ा निरन्तर लगाते रहने से गंज दूर हो जाता है। सिर का नीम सोप से प्रक्षालन भी करते रहना चाहिए।

**शिवत्रकुष्ठहर वटी** (Leucoderma)—बावचीदाना ५०० ग्राम लेकर काली गाय के मूत्र में २१ दिन भिगोने को रखें। नित्य ताजा गो मूत्र डालते रहें। इसके पश्चात् बाबची को जोर से रगड़ते हुए छिलका उतार लें और छाया में सुखा लें। अब इस शुद्ध बाबची के समान शुद्ध गन्धक और गेरू लेकर खरल में अदरक के स्वरस से भावना देकर रीठे के समान बटक बना लें और शीशी में सुखाकर रखें।

प्रयोग विधि—एक वटक को नित्य १२५ ग्राम जल में, रात भर भिगोने को रखें। वटक को जल में पीसकर डालें। प्रातः इस जल को छानकर पीलें।

शीशे के पात्र में नीचे बैठी हुई दवाई को सफेद दागों पर लगायें। प्रयोगकाल ३ वर्ष तक प्रयोग करें।

अपथ्य—मांस हर प्रकार का, दूध, दही, चावल, तेल, अम्ल पदार्थों और नमक और विरुद्ध भोजन से।

पथ्य—गेहूँ का फुल्फा, चना, छोले और मूँग की दाल, हरी तरकारियाँ, गोघृत, काली मिर्च, धनिया, हल्दी, सौंफ और मोटी इलायची।

# दूसरा भाग

**धन की प्राप्ति–**

पहला अध्याय

# धन की प्राप्ति

## कामनायें और उनकी पूर्ति

मनुष्य के जीवन में अनगिनत कामनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, जिनको वह प्राप्त करना चाहता है। यह कामनायें अनेक प्रकार की होती हैं। जैसे स्वास्थ्य को सुरक्षित रखते हुए दीर्घायु की कामना; काम-वासना की पूर्ति के लिए स्वस्थ, सुन्दर और सुशिक्षित नारी की कामना; बच्चों के पालन-पोषण, शिक्षणप्रशिक्षण के साथ-साथ उनके सुखी जीवन की कामना, मनोहर, सुसज्जित, सर्वसामग्री सम्पन्न और सुवासित निबासगृह की कामना; सुख-सम्पदा युक्त ऐश्वर्य जीवन की कामना और इसी प्रकार की अन्य अनेक कामनायें होती हैं।

इन सब कामनाओं की पूर्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है। धन से वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं और कामनाएँ पूरी की जा सकती हैं। बाल्यावस्था से मरण-पर्यन्त पालन, पोषण, अध्ययन, प्रशिक्षण, विवाह, मकान, सामान, पोशाक और दूसरे अनेक प्रकार की वस्तुओं के लिए धन होना चाहिए। इसलिए धन का उपार्जन करना अत्यन्त आवश्यक है।

## साधनहीनता पाप है

**न ह्यतः पापात्पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायु।**—च० सू० ११।५

साधनहीन मनुष्य को दीर्घायु की कामना नहीं करनी चाहिए, ऐसा करना महा पाप है। क्योंकि साधनहीन मनुष्य धन नहीं कमा सकता। धनहीन दरिद्र मनुष्य अपने आपको सम्भाल नहीं सकता, वह संसार में एक मृतक के समान होता है।

## धन से सुख और मान प्राप्ति

**यस्यस्ति वित्तं स नरः कुलीनः, स पण्डितः स श्रुतिमान गुणज्ञः।**
**स एव वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति॥**

अर्थात् जिसके पास धन है वह ऊँचे कुल वाला, बड़ा विद्वान, शास्त्र जानने वाला और बड़ा गुणवान माना जाता है। वह अपनी ओर आकर्षित करने वाला होता है। उसको महान वक्ता भी मानते हैं।

**धनवान बनने के साधन**—कई प्रकार के व्यवसाय हैं, जिनको अपनाकर धन कमाया जा सकता है। जैसे वाणिज्य, कृषि, नाना प्रकार के पशुपालन, नाना प्रकार की शिल्पकारी और कलाकारी, औद्योगिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों के काम, नौकरी

और मजदूरी के बहुरंगी व्यवसाय। इनमें से कोई भी काम अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुकूल चुनकर अपनाना चाहिए। अपनाकर निम्नोक्त ढंग से इसको चलाना चाहिए—

**कार्यकौशल्यता**—कोई भी व्यवसाय अपनाने से पहले उसमें योग्यतापूर्वक कार्य-कौशल्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए। यह प्रशिक्षण से प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य अपने काम में जितना निपुण होगा, उतनी ही योग्यता के साथ वह अधिक धन भी कमा सकेगा। अशिक्षित कर्मचारी अपने जीवन का बहुमूल्य समय व्यर्थ में ही खो बैठते हैं, उनकी कमाई नकारात्मक होती है। कार्यकौशल्यता ही धनवान बनने की कुञ्जी है। आज मुकावलों का युग है, जो अधिक योग्य होगा, उसी की अधिक कमाई होगी।

**सद्व्यवहार**—प्रत्येक काम में सत्व्ययहार (ईमानदारी) को अपना आदर्श बनाना चाहिए। इससे काम को चार चाँद लगते हैं, वह उन्नति करता हुआ बहुत आगे निकलता है। अपने व्यवसाय में लूट-खसूट और धोखाबाजी को स्थान नहीं देना चाहिए। कुकर्मों का फल बुरा होता है। ऐसा करने से लाभ के स्थान पर हानि ही पहुँचती है।

**कर्म फलों का अनिवार्य भोग**—असत् व्यवहार (बेईमानी) से धन कमाना पाप है। इसका फल अपने आप को ही भोगना पड़ता है। कहा गया है—

**"यः करोति नरः पापं न तस्यात्मा ध्रुवं प्रियः।**
**आत्मना हि कृतं पापं आत्मनैव हि भुज्यते॥"**

अर्थात् मनुष्य जो पाप करता है, वह अपनी आत्मा अर्थात् अपने शरीर से वैर करता है। क्योंकि अपने आप किये हुए पापकर्मों का बुरा फल, अपने आपको ही भोगना पड़ता है। अपराधी को ही न्यायाधीश दण्ड देता है।

कर्मशास्त्र के अनुसार, मनुष्य जो भी कोई सुकर्म या कुकर्म करता है, वह कर्म उसको तब तक नहीं छोड़ते, जब तक वह उनका अच्छा या बुरा फल नहीं भोग लेता है। यह कर्म उसकी अपनी छाया की तरह उसके साथ ही चलते रहते हैं। कहा भी है—

**"यथा धेनु सहस्त्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।**
**तथा पुरा कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥"**

अर्थात् जिस प्रकार बछड़ा हजारों गायों में से अपनी ही गौ माता के पीछे-पीछे चलता है, उसी प्रकार पहले किये हुए कर्म, कर्ता के पीछे-पीछे चलते हैं। यह पहले किये हुए कर्म, पिछले जन्मों के हों या इस जन्म के, इनसे तभी मुक्ति होगी, जब इन कर्मों का फल भोग लिया जायेगा। कर्मफलों को भोगने के बिना, छुटकारा नहीं मिल सकता।

**दृढ़ संकल्प और उद्योग**—धन कमाने के लिए मनुष्य को साधन चाहिए।

साधन होकर कार्य कुशलता भी होनी चाहिए। और इसके साथ-साथ काम, सत्-व्यवहार से चलाया जाना चाहिए। यह सब बातें ठीक हैं। परन्तु उद्योग के बिना काम चल नहीं सकता। काम करने के लिए पुरुषार्थ चाहिए और जो भी काम किया जाये, उसको पक्की इच्छा शक्ति के साथ अर्थात् दृढ़संकल्प से किया जाना चाहिए। हो सकता है कि काम करते-करते कुछ रुकावटें बीच में कभी-कभी खड़ी हो जाती हैंतो उनको दृढ़संकल्प युक्त पुरुषार्थ से ही दूर किया जा सकता है। स्मरण रहे, जो काम पक्के निश्चय से किया जाता है वह कभी अधूरा नहीं रहने पाता। कहा भी गया है—

**"उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः।**
**न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥"**

अर्थात् उद्योग से सब काम बनते हैं। केवल खयाली घोड़े दौड़ाने से काम नहीं बनते। यदि शेर सोया पड़ा रहे, तो उसके मुँह में, अपने आप, कोई शिकार नहीं घुसता।

संसार में वही मनुष्य और वही जाति जीवित रह सकती है, जो उद्यमशील हो। काम करने में आलस्य नहीं करना चाहिए। आलस्य विपदाओं की जड़ है। आलस्य और ऐश्वर्य में मग्न रहकर, कई वंश और राज्य नष्ट हुए हैं, जिनका आज कोई चिह्न भी नहीं मिलता है।

संसार में जो महान् पुरुष हुए हैं, उन्होंने अपनी महानता, अपने उद्योग बल और दृढ़संकल्प से प्राप्त की है। वह रात्रि में भी काम करते रहते थे। उन्होंने दृढ़संकल्प से काम को हाथ में लिया और पुरुषार्थ से उसको पूरा करके संसार में अपना नाम अमर रखा।

**"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**
**यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥"** —गीताजी अ० २।६

अर्थात् जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को वश में रखा है, वह बुद्धिमान् ज्ञानी लोग, रात्रि में जागरण अर्थात् काम करते हैं और सर्वसाधारण जनता सोती रहती है। बुद्धिमान लोगों के जीवन का एक-एक क्षण काम करते हुए बीतता है। वह अकर्मी रहकर अपना जीवन बरबाद नहीं करते। मनुष्य को कर्मठ बनना चाहिए।

**बुद्धि और बल का सहयोग**—जिस प्रकार एक पक्षी अपने दो पंखों के सहारे जीवित रह सकता है और अपनी सुरक्षा भी कर सकता है, उसी प्रकार मनुष्य भी बुद्धि और बल (वीरता) की दो विभूतियों की सहायता से जीवित रह सकता है और सुरक्षित भी। बुद्धि के प्रसाद से मनुष्य लाभान्वित कर्मों के द्वारा उन्नति के शिखर तक पहुँच जाता है और वीरता के द्वारा वह अपनी सुरक्षा करता हुआ अपने समाज और अपनी सभ्यता को भी सुरक्षित रख सकता है। बुद्धि का विकास

होता है नाना प्रकार के अध्ययन से, और वीरता आती है वीर महापुरुषों के पदचिह्नों पर चलने से, उद्योगी और कर्मठ बनकर। आज के युग में मानव राक्षसों और अनर्थकारी मानव राक्षसों से निपटने के लिए केवल शारीरिक बल ही पर्याप्त नहीं, इसके लिए सुशिक्षित शस्त्रधारी वीर वनने की आवश्यकता है। इन दो विभूतियों से मनुष्य जाति जीवित रह सकती है और सुरक्षित भी।

**मित्र और आप्त महापुरुषों की अनुमति**—जिस प्रकार बुद्धि की अनुमति से काम हाथ में लेना चहिए उसी प्रकार मित्रों और आप्त महापुरुषों की अनुमति से भी काम हाथ में लेना चाहिए। उस काम में लाभ रहता है। कहा भी है—

**"सुहृद्भिराप्तैरसकृद्विचारितं स्वयं च बुद्ध्या प्रविचारिताश्रयम्।**
**करोति कार्यं खलुयः स बुद्धिमान् स एवं लक्ष्म्या यशसां च भाजनम्॥"**

अर्थात् जो मनुष्य मित्रों और आप्त महापुरुषों से विचार-विमर्श करके, अपनी बुद्धि से सोच-समझकर, काम करते हैं वे बुद्धिमान हैं, धन और यश पाते हैं।

लेखक यहाँ मित्र शब्द पर दो बातें लिखना आवश्यक समझता है। मित्र की पहले परीक्षा लेनी चाहिए। यदि वह परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है तो सब कुछ ठीक है। नहीं तो खाने-पीने वाले और मुँह पर मीठी बातें सुनाने वाले मित्रों की संसार में कोई कमी नहीं है। कहा गया है—

**"परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।**
**वर्जयेदेतादृश्यं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥"**

अर्थात् ऐसा मित्र, जो पीछे-पीछे काम को बिगाड़ने वाला हो, और सामने आकर मीठी-मीठी बातें करता हो, ऐसे मित्र को उस दूध जैसे दिखाई देने वाले विष से भरे घड़े की तरह दूर फेंकना चाहिए जो जीवित रखने के बदले मार डालने वाला हो।

आज कल के संसार में सच्चा मित्र मिलना बड़ा कठिन है। सच्चा मित्र अपने मित्र को कठिनाइयों में फँसा हुआ देखना नहीं सह सकता। वह अपने मित्र का कष्ट दूर करने के लिए, अपने शरीर को दांव पर लगाता है और तब तक आराम नहीं लेता जब तक उसका दुःख दूर नहीं हो जाता। वह स्वार्थी नहीं होता।

**"असंपतौ परो लाभो गुह्यस्य कथनं तथा।**
**आपद्विमोक्षणं चैव मित्रस्यैतत्फल त्रयम्॥"**

अर्थात् गरीबी में सहायता करना, रहस्य की बातों को परस्पर न कहना, और आपत्ति काल में सहायता करके छुटकारा दिलाना, यह तीन लाभ जिससे मिल सकें; वह मित्र है अन्यथा नहीं। मित्र के पास लेने के हाथ नहीं होते, उसके देने के हाथ होते हैं। सच्चा मित्र संसार में पुण्य कर्मों के प्रताप से ही मिलता है।

**मित्र बनाने के उपाय**

(१) दूसरों के साथ मेल-जोल रखकर उनके दुःख-सुख में भाग लेने से मित्र

बनाये जा सकते हैं।

(२) दूसरों को मित्र बनाने के लिए अपना समय, बुद्धि और बल निष्काम भाव से, उनका काम बनाने के लिए लगाना पड़ता है।

(३) दूसरे मनुष्य के साथ वार्तालाप नम्रतापूर्व मधुर वचनों से करना चाहिए। मधुर भाषण में मिठास होती है, यह मन में समा जाते हैं।

(४) दूसरे मनुष्य को अपना बनाने के लिए, उसकी विचारधारा को समझ लेना चाहिए। फिर अपनी विचारधारा से तोलना चाहिए और आगे बढ़ना चाहिए। दूसरे का मन बदलना; बहुत कठिन काम होता है।

(५) दूसरे मनुष्य का मन निष्कामभाव से, नम्रता से और सद्व्यहार से बदलना सम्भव है, अन्यथा नहीं।

(६) दूसरे मनुष्य को यह नहीं कहना चाहिए कि तुम गलती पर हो या तुम्हारी बात से मैं सहमत नहीं हूँ, चाहे वह गलती पर ही क्यों न हो। ऐसा कहने से वह आपका शत्रु बन जायेगा। क्योंकि आपने उसकी मानहानि की, उसकी योग्यता पर प्रहार किया, आपने उसकी अस्तित्व की चाहत को समाप्त किया।

(७) किसी मनुष्य की नुक्ताचीनी नहीं करें, प्रत्युत उसकी अच्छी बातों को ही कहते रहना चाहिए, जो आपको मालूम हों।

(८) दूसरे मनुष्य के मन में यह बैठ जाये कि आप उसको सच्चा, सज्जन और सरल स्वभाव वाला मनुष्य समझते हैं।

(९) सच पूछो तो दूसरे को मित्र बनाने के लिए अपना अहंकार भी समाप्त करना पड़ता है।

**बान्धव**—प्रसंगवश मित्रों के वर्णन के साथ बान्धवों का वर्णन, यहाँ पर करना असंगत नहीं होगा। बान्धव भी मित्रों के समान सहानुभूति और प्रेम रखते हैं। कहा भी है—

**"उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रु संकटे।**
**राजाद्वरे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥"**

अर्थात् बान्धव वह है जो त्योहारों पर, विवाह आदि हर्षनीय अवसरों पर, मुसीबत में, अकाल पीड़ित दिनों में, शत्रुओं के आक्रमण पर, मुकदमों और सरकारी मामलों को निपटाने में, तथा किसी के मरने के अवसर पर, सहायता करने और सहानुभूति प्रकट करने के लिए आये। यदि बान्धव में यह गुण हैं तो ठीक है। यदि उसमें यह गुण नहीं है तो मेरे विचार में उनसे दूर रहकर ही जीवन यात्रा निभानी चाहिए। मित्रता और बान्धवता परस्पर के प्रेम पर आधारित हैं। यह प्रेम दोनों ओर से होना चाहिए। एक ओर से प्रेम का होना कोई अर्थ नहीं रखता। कहा भी है—

**"ददाति प्रतिग्रहणाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।**
**भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ।।"**

अर्थात् प्रेम के छः लक्षण हैं। वस्तुओं का आदान और उनका प्रदान, रहस्य की बातों को सुनना और सुनाना तथा भोजन खाना और खिलाना। जहाँ पर यह छहों बातें दोनों ओर से विद्यमान हों, वहाँ पर ही प्रेम रह सकता है।

आज के संसार में मित्रों और बान्धवों में प्रेम का अभाव है और यही मनुष्य के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। उसको आगे बढ़ने के बदले, पीछे को ही धकेलता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सँभलकर, अपनी जीवन यात्रा चलाने के लिए, अपनी टाँगें मजबूत बनाये। दूसरों पर तभी विश्वास रखा जा सकता है जब वह स्वयं विश्वासपात्र बना हो।

**आप्त महापुरुष**—यह उच्चकोटि के महापुरुष होते हैं जो निर्लोभी और समदृष्ट होते हैं। इनके वचन संशयरहित और सत्य होते हैं। इनके बनाये हुए ग्रन्थ, शास्त्र कहलाते हैं। वह भी विश्वस्त और अनुकरणीय होते हैं। इसका वर्णन पीछे किया गया है। इनकी अनुमति से किए जाने वाले काम सिद्ध होते हैं। क्योंकि इनकी बुद्धि निर्मल होती है।

अब पाठकों को ज्ञात हो गया कि धन-उपार्जन करना एक समस्या है। इस कामना को पूरी करने के लिए निम्न ढंग से तैयारी करनी पड़ती है—

(१) साधन अर्थात् जीवन-निर्वाह के लिए कोई व्यवसाय चुनकर हाथ में लेना और इसको करने के लिए तैयारी करना।

(२) कार्य कौशल्यता, प्रशिक्षण से प्राप्त की गई हो।

(३) दृढ़संकल्प और पुरुषार्थ से रुकावटों को दूर करते हुए आगे बढ़ना चाहिए।

(४) मित्रों और आप्तों की अनुमति से काम करना चाहिए।

(५) सत्व्यवहार से काम चलाना चाहिए।

(६) बुद्धि के उपायों से काम चलाना चाहिए।

(७) शक्तिमान बनकर विरोधी तत्वों को सामने से हटाना चाहिए।

उपरोक्त सात बातें अपनाकर, मनुष्य धनवान बन सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। धन कमाना मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य कर्म है। यह मनुष्य के जीवन की आधारशिला है। इससे सांसारिक सुख प्राप्त हो सकता है और परलोक की शान्ति भी।

**धन का फल**—कहा गया है **दत्त भुक्त फलं धनम्**। अर्थात् दान देना और जीविका चलाने में खर्चना, यह धन के दो फल हैं।

(१) धन कमाकर उसको अपनी उन्नति के कामों पर खर्च किया जाता है जिससे जीवन सुखी बन जाता है। और इसके साथ-साथ अपने परिवार के सभी

व्यक्तियों का जीवन भी सुखी बनाया जा सकता है।

(२) धन कमाकर उसमें से थोड़ा-सा भाग दान में देना चाहिए, जिससे दरिद्रों को राहत पहुँचे। दान निष्काम भाव से, हर्ष के साथ देना चाहिए। यह परोपकार कहलाता है। इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं।

**परोपकार ही धर्म है—**

**"संक्षेपतः कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेन वः।**
**परोपकारः पुण्याय पापाय पर पीडनम्॥**

अर्थात् धर्म की विस्तृत व्याख्या को छोड़कर संक्षेप में दो शब्दों में स्पष्ट करते हैं, कि दूसरों को सहायता करना अर्थात् 'परोपकार' धर्म कहलाता है, किसी को दुःख पहुँचाना पाप है। अतः अपनी मासिक आय में से कम से कम १% तक दान देने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती।

**आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वं पश्यति योऽर्जुन।**
**सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥** —गीताजी अ० ६।३२

अर्थात् हे अर्जुन, जो मनुष्य अपनी आत्मा के समान सभी मनुष्यों के साथ, सुख और दुःख दोनों अवस्थाओं में, एक समान दृष्टि रखता है, वही बड़ा योगी है। वह परम शान्तिपद पाता है। इसलिए दान से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। दान देने से विश्व भातृ भाव उजागर हो जाता है। मन निर्मल हो जाता है जो परमात्मा के समीप, द्वार पर पहुँचा देता है। इससे आगे जाकर, परलोक भी सुधर जाता है।

धन कमाना एक बड़ी समस्या है। ऐसा करने के लिए मनुष्य को पहले से ही, सतर्क रहना चाहिए। दम्पति को चाहिए कि वह बाल्यावस्था से ही, बालक को उसके बढ़ौत के साथ-साथ तैयार करता रहे। उसके पालन-पोषण, शिक्षण-प्रशिक्षण की ओर ध्यान रखे। उसको साथ-साथ सदाचार की शिक्षा भी देता रहे। उसके जीविका सम्बन्धी काम का प्रबन्ध करे। उस काम की कार्यकौशल्यता दिलाने के लिए उसके प्रशिक्षण का प्रबन्ध करे। तभी तो वह बड़ा होकर अपनी टाँगों पर खड़ा हो सकता है और धन कमाकर अपना भविष्य बना सकता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो वह अपनी जीविका नहीं चला सकता जिसके कारण वह अपने लिए और अपने परिवार के लिए भी भार रूप ही सिद्ध होगा। ऐसे दम्पत्ति, जो बच्चों के शिक्षण और प्रशिक्षण का भार सम्भाल न सकते हैं, उनको बच्चे उत्पन्न नहीं करने चाहिएँ। वह अपनी सन्तान उत्पत्ति, परिवार कल्याण केन्द्र के द्वारा सीमित या बन्द करा सकते हैं।

## चार प्रकार के पुरुष

**एते पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्यये।**
**सामान्यास्तु परार्थमुपभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥**

**तेऽमी मानव राक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।**
**येऽतुघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।।** —नीतिशास्त्र

अर्थात् संसार में चार प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं—

(i) **महात्मा पुरुष**—यह अपने स्वार्थ को छोड़कर परार्थक पुण्य कर्म करते हैं जिनसे संसार का कल्याण हो रहा है ।

(ii) **सज्जन पुरुष**—यह अपने परहानि नकारक पुण्य कर्मों से दूसरों का तब तक उपकार करते हैं जब तक उनको अपनी हानि की सम्भावना नहीं होती । इनसे संसार का व्यवहारधर्म चलता रहता है ।

(iii) **मानवराक्षस**—यह अपने पापकर्मों से अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि पहुँचाते हैं । यह दुर्जन कहलाते हैं ।

(iv) **अनर्थकारी मानवराक्षस**—यह अपने पापकर्मों से बिना अपने किसी लाभ के दूसरों को हानि पहुँचाते हैं तथा उनका सर्वनाश करने के लिए अपनी हानि भी सहन कर लेते हैं ।

पुण्य कर्मों के प्रताप से मनुष्य उन्नति कर लेता है और ऊर्ध्वगति पाता है और देवयोनियों में जन्म लेता है । जबकि पापकर्मों से अवनति को जाता है और अधोगति पाता है, और निकृष्ट पशुपक्षी योनियों में जन्म लेता है । मिश्रित कर्मों के फलस्वरूप मानवयोनि में जन्म मिलता है । मनुष्य को चाहिए कि वह अपना जीवन सफल बनाने के लिए पुण्य कर्मों को ही करता रहे ऐसा करते हुए वह सांसारिक सुख के साथ-साथ पारमार्थिक शान्ति भी प्राप्त कर सकता है वह अपने परहानि नकारक कर्मचक्र को वढ़ाता हुआ परार्थक कर्म में लय कर डालता है । जब मनुष्य की दृष्टि खुल जाती है तो सारा संसार उसको अपना ही कुटुम्ब भास्ता है । कहा भी गया है—

**अयं निजः परोवेति गणना लघुवेतसाम ।**
**उदार चरितानां तु वसुधैव कुटम्बकम् ।।**

अर्थात् संकुचित हृदय वाले यह कहते रहते हैं कि यह अपना है और वह पराया है परन्तु विशाल हृदय वाले समस्त संसार को अपना परिवार मानते हैं । परार्थक कर्मों से मनुष्य बन्धन से छूटकरमुक्त हो जाता है ।

शुभमऽस्तु ।

# तीसरा भाग

## जीवनमुक्ति—

पृष्ठ संख्या

## पहला अध्याय

# परमात्मा (कर्ता)

### परमात्मा सृष्टिकर्ता है

हमारा यह अटल विश्वास है कि इस ब्रह्माण्ड के निर्माता सर्वशक्तिमान परमात्मा हैं। हमारे पूज्य आप्तजनों के शास्त्र भी इस विश्वास का समर्थन करते आये हैं। हमारे त्रिकालदर्शी महर्षियों ने योग द्वारा खोज करके, मूल प्रकृति की ब्रह्मशक्ति को जगत की उत्पत्ति का कारण बताया है। जब दृश्यमान जगत प्रकट नहीं था, तब यह शक्ति परमात्मा में लीन रहती है। हिरण्यगर्भ में लीन जीवों को अपने कर्मफल को भोगने के लिए, ईश्वर ने अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति-शक्ति की सहायता से, 'एकोऽहं वहुस्याम:' इस ईक्षण के द्वारा सृष्टि की रचना की।

हम देखते हैं कि संसार का सम्पूर्ण सामाजिक गठन और विधि-विधान विश्वास पर चल रहा है। यदि विश्वास न हो तो सारा व्यवहार ठप्प होकर रह जाता है। यह विचारधारा सत्य होती है। समझ लें एक युद्ध हो रहा है, दोनों ओर से हजारों लोग मर रहे हैं, कुछ समय के पश्चात् सन्धि हो रही है और युद्ध में शान्ति आ जाती है। यहाँ क्षेत्र में युद्ध और सन्धि होने में, मनुष्य की विचारधारा काम कर रही है और वहाँ संसार की सृष्टि और प्रलय के बारे में, परमात्मा की विचारधारा काम कर रही है। दोनों विचारधारायें सत्य हैं।

विकासवाद को मानने वाले केवल प्रकृति (मैटर) को ही सृष्टि का रचयिता मानते हैं। वह ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। उनका कहना है कि विकास प्रक्रिया में परमाणुओं के मेल से चेतना स्वयमेव आ जाती है। परन्तु यह एक मनघडन्त कल्पना है। परमाणुओं का मेल अपने आप, क्रम के अनुसार नहीं हो सकता। मेल कराने के लिए किसी ज्ञानवानकर्ता की आवश्यकता होती है जो मेल कराने का काम करे। चरक महर्षि का आदेश—

**'कर्ता हि करणै योगात् कारणं सर्व कर्मणाम्'।** —च० श० १।४६

अर्थात् कर्ता ही करण (पंचभौतिक प्रकृति) की सहायता से सभी कार्य कर सकता है। किसी काम को करने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है—एक कर्ता की, दूसरे करण की जिससे काम बनाया जाता है। जैसे मिट्टी के अवयवों को मिलाकर घड़ा बनाने वाला कुम्हार होता है। यहाँ कुम्हार कर्ता है और मिट्टी करण है।

परन्तु प्रकृति जड़ (निर्जीव) है, इसके अवयवों को जोड़ने से निर्जीव द्रव्य

ही बन सकते हैं, चेतन जीव (जानदार) नहीं बन सकते। चेतन सृष्टि में सम्मिलित सभी जीवों को जीवित रखने के लिए कर्ता के अतिरिक्त चेतन सत्ता का संयोग इनके साथ होना चाहिए तभी इनमें जीवत्व आ सकता है और विकास भी सम्भव हो सकता है। यह जीवत्व (चेतना) जीवात्मा के संयोग से चेतन सृष्टि में आ जाता है। जिन्दगी का स्रोत यही है, इसका संयोग जीवधारियों के साथ सृष्टि में आदिकाल से ही चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में श्री गीताजी का आदेश निरीक्षण कीजिए—

**न जायते म्रियते वा कदाचित नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः।**
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥**

—श्री गीता० २।२१

अर्थात् जीवात्मा कभी उत्पन्न नहीं होता, न ही यह किसी समय पर मर जाता है, एक बार आकर या होकर सदा के लिए यह बना रहता है, यह न मिटने वाला है, सदा बना रहने वाला है, सनातन है, शरीर के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होता है।

वेदान्त शास्त्र ने चेतन सत्ता का अस्तित्व पृथक् माना है और इसको जीवात्मा के नाम से सम्बोधित किया है। यह परमात्मा का अंश है।

ऊपर लिखित चर्चा से हम निम्न निर्णय पर पहुँचे—

(१) परमात्मा इस ब्रह्माण्ड के कर्ता (रचने वाले) हैं।

(२) प्रकृति सृष्टि रचाने में करण का काम देती है। यह सृष्टि की अपादान कारण है।

(३) जीवात्मा, यह चेतन धातु है, इसके संयोग से चेतन सृष्टि को जीवत्व प्राप्त हो जाता है।

आइये, उपरोक्त तीनों विषयों पर विस्तार से चर्चा करेंगे, ताकि मनुष्य को तीसरी एषणा अर्थात् जीवन-मुक्ति प्राप्त होने में मार्गदर्शन मिल सके।

**आत्मा के दो प्रकार**—आत्मा दो प्रकार का है—परमात्मा और जीवात्मा। (पंचदशी प्रकरण १४।६)। परमात्मा सूर्य के समान एक है और जीवात्मा जल-पात्रों में दृश्यमान सूर्यबिम्बों के समान अनेक है।

**परमात्मा निराकार है**—उसका कोई आकार नहीं, वह अव्यक्त है। निराकारावस्था निष्क्रियावस्था होती है। ऐसी अवस्था में कोई काम नहीं किया जा सकता है।

**परमात्मा साकार भी है**—इनके निराकार और साकार रूपों में पहचान का कोई भेद नहीं, जैसे जल की तरल अवस्था और ठोस अवस्था। हिमखण्ड अवस्था जल की ठोसावस्था है, यह पिघलकर फिर जल की तरल अवस्था में आ जाता है जो इसकी निराकार अवस्था है। दोनों में कोई भेद नहीं।

परमात्मा साकार अवस्था में आकर ही क्रियाशील हो जाते हैं और 'एकोऽहं-

बहुस्याम:' का ईक्षण, ईश्वर होकर करते हैं और मूल प्रकृति, जो उनकी अपनी मायाशक्ति है, उसके द्वारा विविध नामों और आकारों की चेतन और अचेतन सृष्टि उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार परमात्मा अव्यक्त से व्यक्तावस्था में आ जाते हैं। यह जगत उसका विराट स्वरूप है। इसमें उत्पन्न सभी प्रकार की चेतन वा अचेतन सृष्टि उसी का बाहरी रूप है।

**परमात्मा सत्-चित् आनन्द स्वरूप** है। सत् वस्तु एक होती है। 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य श्रुति) अर्थात् अद्वैत रूप परमात्मा सद्रूप है। सत् वस्तु सदा रहने वाली वस्तु होती है। एक होते के कारण न उसका आदि है और न अन्त। इसलिए वह नित्य और शाश्वत है।

परमात्मा चित् स्वरूप होने से चेतन है। इसी के अंश जीवात्मा के संयोग से चेतन सृष्टि में चेतना (जीवत्व) आ जाती है। जीवन शक्ति का स्रोत केवल यही है। अचेतन सृष्टि में जीवात्मा का संयोग नहीं होता है।

परमात्मा आनन्दस्वरूप है। जीवधर्म विषयानन्द से ही सभी जीवों का जन्म होता है। सुख, ऐश्वर्य भोग वाले आनन्द से सभी प्राणी जीवित रहते हैं। सुषुप्ति काल के स्वरूपभूत आनन्द में अन्ततः लय को प्राप्त हो जाते हैं। सम्पूर्ण जगत् आनन्द से भरपूर है, यह इससे कैसे पृथक् हो सकता है। अतः परमात्मा स्वभाव से ही आनन्दस्वरूप है। इस आनन्द बिम्ब का लेशमात्र ही सारे ब्रह्माण्ड को थामे हुए सृष्टि का सर्वतोमुखी व्यवहार धर्म नियमबद्ध ढंग से चला रहा है।

उपासना की दृष्टि से स्मरण रहे कि जड़ द्रव्यों अर्थात् अचेतन सृष्टि में परमात्मा का सतस्वभाव व्यक्त रहता है। शेष दो स्वभाव चित्त और आनन्द अव्यक्त रहते हैं। इसलिए जड़ द्रव्यों में रूप और आकार को छोड़कर सत् रूप परमात्मा की उपासना करनी चाहिए।

चेतन सृष्टि में परमात्मा के दो स्वभाव सत् और चित्त व्यक्त रहते हैं। रज और तम के प्रभाव से आनन्द का स्वभाव छिपा हुआ रहता है। जब कभी सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है तो उस अवस्था में आनन्द का स्वभाव भी व्यक्त हो जाता है। ऐसी दशा में परमात्मा के तीनों स्वरूपों—सत्, चित्त और आनन्द का ध्यान करना चाहिए और उनकी रज और तम वृत्तियों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए।

**परमात्मा सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ** है। इस सम्बन्ध में श्री गीता जी का आदेश है—

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वताक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतश्श्रुतिमन्नलोके सर्वमावर्तयति तिष्ठति॥"

—गीता० अ० १३।१३

अर्थात् परमात्मा के हाथ-पाँव सर्वत्र हैं; सर्वत्र उसके नेत्र, सिर और मुख हैं; सर्वत्र

उसके कान हैं; समस्त ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेरे हुए ठहरा है; अतः वह सभी स्थानों पर विद्यमान हैं, वह सब कुछ करने के समर्थ हैं। वह सब प्रकार का ज्ञान रखते हैं, वह ज्ञान और प्रकाश के भण्डार हैं।

**परमात्मा त्रिकालदृष्टि रखते हैं**—जिस प्रकार एक नाटककार किसी मनुष्य की जीवनी अर्थात् उसके बाल, यौवन और वृद्धावस्था से होते हुए मरणपर्यन्त के खेल, भिन्न दृश्यों और परदों पर दिखाता है, उसी प्रकार परमात्मा भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों की भिन्न-भिन्न बातें भी जानते हैं। वह त्रिकालज्ञ हैं।

**परमात्मा असंग है**—परमात्मा संसार के मायाजाल में रहते हुए भी संसार से दूर रहते हैं, जैसे कमलपत्र जल में रहता हुआ भी जल से निर्लिप्त रहता है। वह संसार के निर्माता होकर भी संसार से दूर रहते हैं।

**परमात्मा के पास सब एक समान**—इस सम्बन्ध में श्री गीताजी का आदेश सुनिये—

**"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः।"**

—श्री गीता० अ० ९।२९

अर्थात् ईश्वर के पास सब भूत-प्राणी एक समान (बराबर) हैं, न उनको किसी के साथ द्वेष है और न राग। श्री गीताजी का उपदेश धर्मनिरपेक्षपरक है और सर्वधर्म समभाव की शिक्षा देता है। इस शिक्षा से विश्वभातृभाव को बढ़ावा मिलता है। हमें सर्वधर्म समभाव के कारणभूत वैदिक धर्म का अनुकरण करके इसका प्रचार और प्रसार करना चाहिए।

**परमात्मा एक है**—एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'। (ऋग्वेद) परमात्मा एक है, उसको बहुत से नामों से पुकारते हैं। परमात्मा के समान दूसरा कोई नहीं। जिस प्रकार कोई घर का स्वामी जब घर पहुँचता है तो कोई उसको पिता के रूप में, कोई पुत्र के रूप में, कोई भ्राता के रूप में और कोई उसको पति के रूप में देखती है। उसी भावना के अनुसार उसका स्वागत भी करते हैं। उसी प्रकार भक्त भी अपनी भावना के अनुसार एक ही परमात्मा को भिन्न-भिन्न इष्टों के रूप में देखते हैं।

**परमात्मा के कार्य**—परमात्मा के तीन बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य हैं—

(1) सृष्टि का निर्माण करना, इसका पालन करना और फिर इसका प्रलय भी। इन तीनों क्रियाओं से परमात्मा की महान शक्तियों का ज्ञान हो जाता है। शक्तियों को प्रयोग में लाकर ही लाभ उठाया जा सकता है, नहीं तो शक्तियों के होने का क्या लाभ है। इससे संसार में आस्तिकवाद को बढ़ावा मिलता है। नास्तिकवाद से संसार में उथल-पुथल मच जाती है।

(II) मनुष्यों को अपने-अपने कर्मों के अनुसार उचित फल का मिलना।

इससे मनुष्य को अपना आचार-विचार सुधारने में सहायता मिलती है, क्योंकि उसको कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य कर्मों के परिणाम की जानकारी प्राप्त हो जाती है।

(iii) धर्म की मर्यादा को स्थापित रखना। श्री गीताजी का आदेश—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यऽहं॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥"—गीता अ० ४।७/८

अर्थात् जब-जब धर्म की हानि हो जाती है, अधर्म को बढ़ावा मिलता है, तो ईश्वर अवतरित होते हैं। अधर्मियों का नाश करने के लिए, धार्मिक मनुष्यों को बचाने के लिए और धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए ईश्वर युग-युग में यह कार्य करने के लिए अवतरित होते हैं।

**परमात्मा ब्रह्माण्ड के शासक हैं—वह आनन्दस्वरूप है, उनके शासन में मनुष्य दुःख क्यों पाता है ?**

परमात्मा ने मनुष्य को सुख भोगने के लिए जन्म दिया है, यहाँ तक कि उसको आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति के लिए अर्थात् परमशान्ति पद प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र रूप से साधना करने का मार्ग भी बताया है। इसीलिए उसको बुद्धि भी प्रदान की गई है। वह सुबुद्धि के प्रसाद से अपने सुकर्मों के द्वारा संसार को अपने लिए स्वर्ग बना सकता है और सुख भोग सकता है। कर्मशास्त्र के अनुसार मनुष्य का सुखी या दुःखी जीवन, उसके अपने किये हुए कर्मों का फल है। परमात्मा का इसमें कोई हाथ नहीं, वह असंग है।

परमात्मा की शरण में जाने की फिर क्या आवश्यकता है, जब कर्मशास्त्र के आधार पर, मनुष्य अपने जीवन को सुखी वा दुःखी बनाने वाला स्वयं ही है ?

ऐसा कहना यथार्थ नहीं। परमात्मा सर्वशक्तिमान है, वह जो चाहें कर सकते हैं। न्याय के विधि-विधान के अनुसार, संसार का काम ठीक ढंग से चलता रहता है, नहीं तो अत्याचार फैलकर संसार में जीवनयात्रा कठिन ही नहीं असम्भव भी हो सकती है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पृथ्वी आदि भी विधि-विधान के आधार पर अपना-अपना काम चलाते हुए संसार का उपकार करते हैं। वैसे तो राजा के पास पूर्ण अधिकार होते हैं। परमात्मा सब कुछ कर सकते हैं। वह अदृश्य से भी सहायता कर सकते हैं। देखें कौरव पाण्डव काल में, जब अबला द्रौपदी को दुर्योधन ने भरी सभा में नग्न करना चाहा, तो श्रीकृष्ण ने अदृश्य से सहायता की। दुष्ट, द्रौपदी की साड़ी उतारते रहे, पर वह लम्बी होती चली गई। फलस्वरूप वह नंगी होने से बच निकली।

इसी प्रकार दुष्ट हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को मारने के लिए, लोहे का एक स्तम्भ आग में तपाकर लाल करवाया और प्रह्लाद को इसके साथ आलिंगन करने का आदेश दिया। ऐसे आपत्तिकाल में उसने श्रीराम जी से सहायता की याचना की। तत्काल ही प्रह्लाद को, उस तप्त लाल स्तम्भ पर एक च्यूंटि चलती हुई दिखाई दी। तो उसको ज्ञान हुआ कि यह तप्तस्तम्भ जब च्यूंटि को जला नहीं सकता, तो मुझे भी नहीं जला सकता। फलस्वरूप उसने स्तम्भ के साथ आलिंगन किया, और वह बच निकला। इसी प्रकार हमारे आप्तग्रन्थों में बहुत से ऐसे

उदाहरण मिलते हैं, जिनसे इस बात की पुष्टि होती है कि सर्वशक्तिमान परमात्मा जो चाहें कर सकते हैं और किसी भी समय कर सकते हैं। इसलिए मनुष्य को सदा परमात्मा की शरण में रहना चाहिए और अपनी उपासना से उसका कृपापात्र बनने का यत्न करना चाहिए। इसी में उसका कल्याण निहित है।

**परमात्मा अनन्त हैं**—श्री गीताजी का आदेश—

**"ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो।**
**यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः॥"** —गीताजी

अर्थात् असुरगणों और देवगणों में से कोई भी परमात्मा का अन्त नहीं पा सका। ध्यान में अवस्थित केवल योगी-महापुरुष ही उसको मन के द्वारा अनुभव करते हैं। उसका रहस्य कोई नहीं पा सका, वह अनन्त है।

**परमात्मा अनादि है**—महर्षि चरक का आदेश—

**'प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः।"** —च० श० १।५३

अर्थात् परमात्मा उत्पन्न नहीं हुए हैं। वह उत्पत्ति और नाशरहित हैं। अतः अनादि हैं।

**परमात्मा का निवास**—परमात्मा सर्वव्यापक है। वह कौन-सा स्थान है जहाँ यह उपलब्ध नहीं। इसका सबसे निकटतम स्थान मनुष्य का मन है। मनुष्य को इसको ढूँढने के लिए कहीं दूर भटकने की आवश्यकता नहीं, वह उसके मन मन्दिर में ही विराजमान रहते हैं। इस सम्बन्ध में श्री गीताजी का आदेश पढ़िए—

**"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**
**भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥"** —श्री गीता० अ० १।६१

अर्थात् परमात्मा सब प्राणियों के हृदय में वास करता है। सब भूत-प्राणियों को, अपने रचाये हुए संसार के मायावी यन्त्रों में नचाता है।

यहाँ हृदय शब्द से अभिप्राय मन है। इस सम्बन्ध में अमर कोष का निम्न सूत्र अवलोकन करें—

**'चित्तंतु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः।** —अमरकोष

अर्थात् चित, चेतस, हृदय, स्वान्त, हृत, मानस और मन यह सब शब्द मन के पर्यायवाचक शब्द हैं। इसलिए हृदय शब्द के मन का ग्रहण हो जाता है। अब जीवात्मा परमात्मा का निवासस्थान निश्चय करने से प्रथम यह निर्णय करना है कि मन का निवासस्थान कहाँ है क्योंकि जीवात्मा मन से पृथक् नहीं रह सकता। इसका कारण यह है कि जीवात्मा का आधार मन है—मन के आधार पर ही जीवात्मा देहान्तरगमन करती है। मन, जीवात्मा और परमात्मा के निवासस्थान के विषय पर इस पुस्तक के प्रथम भाग के सातवें अध्याय में विस्तार से चर्चा हुई है। वहाँ पर स्पष्ट हुआ है कि परमात्मा का स्थान यौगिक चक्रीय शरीर के अनुसार सहस्रार 'ब्रह्मरन्ध्र' है, जो मन के निकट स्थित है। आयुर्वेद की अपनी स्वतन्त्र विचारधारा भी यही है। परमात्मा जीवात्मा का निवासस्थान मन के साथ ही मस्तिष्क के एक देश में हो सकता है। यह स्थान 'भ्रूमध्य स्थान' अथवा 'सहस्रार' (ब्रह्मरन्ध्र) है। दोनों स्थान यौगिक चक्रीय शरीर के अनुसार भी मान्य हैं।

दूसरा अध्याय

# मूल प्रकृति (करण)

## मूल प्रकृति का परिचय

प्रकृति जड़ है। इसमें परमात्मा का सत् स्वभाव व्यक्त रहता है। जड़ता के कारण चित्त और आनन्द के दो स्वभाव इसमें प्रकट नहीं होते।

प्रकृति में प्राकृत रूप से तीन गुण विद्यमान रहते हैं— सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। सत्त्वगुण शुद्ध होता है। इसमें क्षमा, उदारता और वैराग्यादि गुण होते हैं, इसको शान्तवृत्ति कहते हैं। रजोगुण दोषयुक्त होता है, इसमें तृष्णा, लोभ और रागादि गुण होते हैं, इसको घोरवृत्ति कहते हैं। तमोगुण भी दोषयुक्त होता है, इसमें भय, आलस्य और सम्मोहन आदि गुण होते हैं। सत्त्वगुण की शुद्ध वृत्ति, रजोगुण और तमोगुण की मलिन वृत्तियों से सदा आवृत्त रहती है। यह प्रकृति का नियम है।

परमात्मा के सत् स्वभाव से युक्त प्रकृति के सत, रज और तम गुणों की साम्यावस्था को मूल प्रकृति कहते हैं।

**प्रलयावस्था**—मूल प्रकृति की साम्यावस्था को प्रलयावस्था कहते हैं। ऐसी अवस्था में मूल प्रकृति अव्यक्त रहती है। सृष्टि का निर्माण करने वाले सभी तत्त्व परापर क्रम से एक दूसरे में लीन होते हुए अन्त में मूल प्रकृति में समा जाते हैं। इसी प्रक्रिया के अनुसार चेतन और अचेतन सृष्टि जगत् का बीज भण्डार, हिरण्यगर्भ में लीन होकर पड़ा रहता है। मनुष्य की जीवात्मा भी, कारण शरीर धारण करके, इसी हिरण्यगर्भ में लीन होकर पड़ी रहती है और जन्म धारण करने की प्रतीक्षा में रहती है। बीज रूप में पड़ी होने से यह जीवात्मा प्राज्ञजीव कहलाती है।

**मूल प्रकृति के दो प्रकार हैं**—माया और अविद्या।

(१) **माया**—माया सत्त्वगुण प्रधान होती है और सर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त होकर परमात्मा के वश में रहती है। यह परमात्मा की मायाशक्ति कहलाती है। शक्ति सदा शक्तिमान में रहती है। जैसे अग्नि में विद्यमान शक्ति, अपनी शक्तिमान अग्नि से भिन्न नहीं रहती। ईश्वर की यह मायाशक्ति, ब्रह्मशक्ति कहलाती है। परमात्मा इसी मायाशक्ति से सम्पन्न होकर संसार की यह सम्पूर्ण चराचर सृष्टि रचाता है। परमात्मा मायाशक्ति की उपाधि से ईश्वर बनता है।

**सृष्टि की रचना**—ईश्वर सृष्टि रचाने का ईक्षण करते हैं 'एकोऽहं बहुस्यामः।' अर्थात् मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ। तो विचार उत्पन्न होकर मायाशक्ति गतिशील हो जाती है। मूल प्रकृति के गुणों में तारतम्यभाव उत्पन्न हो जाता है और सृष्टि की निर्माणक्रिया आरम्भ हो जाती है।

महर्षि चरक का आदेश—

**कर्ता हि करणैर्योगात् कारणं सर्वकर्मणाम्।** —च०श० १।४६

अर्थात् कर्ता—करने वाला ईश्वर, करण—मूलप्रकृति (मायाशक्ति) के सहयोग से सब कर्मों के करने का कारण होता है। किसी वस्तु को बनाने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है, एक बनाने वाले कर्ता का, दूसरे उस मसाले (करण) का, जिससे वस्तु बनाई जा सके। यहाँ कर्ता ईश्वर हैं और मसाला मूलप्रकृति। मूलप्रकृति में तारतम्य भाव उत्पन्न होकर उससे महत्त (बुद्धि) उत्पन्न हो जाती है, महत्त से अहंकार, अहंकार से पाँच महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार आठ प्रकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रक्रिया के साथ सोलह विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना और और घ्राण; पाँच कर्मेन्द्रियाँ—हस्त, पाद, वाक्, पायु और उपस्थ; पाँच अर्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा एक मन; इस प्रकार १६ विकार उत्पन्न हो जाते हैं—

हिरण्यगर्भ में लीन पड़े हुए चेतन और अचेतन बीज भण्डारों से संसार की सम्पूर्ण सृष्टि इन ही ८ प्रकृतियों और १६ विकारों से उत्पन्न हुई है। सृष्टि में दो प्रकार की सृष्टि सम्मिलित है, चेतन द्रव्यों से चेतन सृष्टि और अचेतन द्रव्यों से जड़ सृष्टि उत्पन्न हुई है।

(१) चेतन सृष्टि, कारण शरीरों के प्राज्ञजीव वाले बीज भण्डारों से उत्पन्न हो जाती है। यह ८ प्रकृतियों और १६ विकारों के संयोग से बनी हुई है, जैसे—**'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरेन्द्रियं अचेतनम्।'** अर्थात् इन्द्रिय, मन और जीवात्मा सहित द्रव्यों को चेतन द्रव्य कहते हैं, और इनसे रहित जो द्रव्य हैं, उन्हें अचेतन द्रव्य कहते हैं। मनुष्य की गणना चेतन सृष्टि में आ जाती है, इसीलिए मनुष्य को २४ राशि संज्ञक पुरुष कहा गया है—

**'चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुष संज्ञकः।'** —च० श० १।१६

(२) अचेतन सृष्टि जो बनी है वह अचेतन सृष्टि के बीज भण्डारों से बनी है जो हिरण्यगर्भ लीनावस्था में पड़े थे, उनसे उत्पन्न हुई है। यह केवल प्रकृति के पाँच महाभूतों से बनी है, इनके साथ इन्द्रियादि का संयोग नहीं होता। कहा है—

**'सर्वं प्रव्यं पञ्चभतिकम्।** —च० श० १।१६

अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य पाँच महाभूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के संयोग से बने हैं। इस प्रकार हिरण्यगर्भ में लीन पड़े हुए सजीव और निर्जीव

बीजभण्डारों से संसार की चेतन सृष्टि और अचेतन सृष्टि का निर्माण हुआ है ।

(२) **अविद्या**—मूल प्रकृति का दूसरा प्रकार अविद्या कहलाती है । अविद्या रजोगुण और तमोगुण प्रधान होती है । वह अपनी शक्ति से जीवात्मा को परमात्मा स्वरूप से हटाकर अपने वश में रखती है और उसको संसार के मायाजाल में फँसाती है । जीवात्मा को अपनी वास्तविकता से हटाकर तीन प्रकार के शरीरों —स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के साथ संयोग कराती है । उसको संसार के भोग-पदार्थों का भोक्ता बनाती है और प्रवृत्तिमार्ग पर चलाकर आवागमन के बन्धन में फँसा डालती है । अविद्या ही अज्ञान कहलाती है । जीव के सभी सुखों और दुःखों का कारण यही अविद्या (अज्ञान) है । इसी अविद्या की उपाधि से परमात्मा, जीवात्मा बन जाता है । इसीसे चेतन सृष्टि में जीवत्व भी आ जाता है ।

सृष्टि निर्माण के सम्बन्ध में श्री गीताजी का आदेश देखिए—

**'मम योनि महदब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यऽहम् ।**
**सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।"**

अर्थात् ईश्वर महत् प्रकृति (बुद्धि तत्त्व) के करण से, समस्त चराचर सृष्टि रचाते हैं । इस आदेश के अनुसार ईश्वर सृष्टि के कर्ता हैं और प्रकृति कारण है । यही कारण है कि ईश्वर को जगत्पिता और मूल प्रकृति को जगत्माता के शब्दों से पुकारा जाता है ।

परमात्मा की लीला विचित्र है । सृष्टि रचाने से पहले वह सत्रूप ब्रह्म एक था और एक मूल प्रकृति थी । यह अव्यक्तावस्था में लीन पड़ी थी । सर्गकाल आने पर परमात्मा को सृष्टि रचाने का ईक्षण हुआ, मूल प्रकृति गतिशील हो गई, इसमें तारतम्य भाव उत्पन्न हुआ, इसके दो भाग बन जाते हैं । एक माया कहलाती है दूसरी अविद्या । माया सत्त्वगुण प्रधान होती है, यह परमात्मा की ब्रह्मशक्ति कहलाती है । सर्गकाल में परमात्मा, मायाशक्ति की उपाधि से ईश्वर बन जाता है और अविद्या की उपाधि से जीवात्मा बन जाता है । ईश्वर बनकर माया शक्ति के द्वारा हिरण्यगर्भ में विलीन बीजों से विविध प्रकार के नामों और आकारों की चेतन और अचेतन सृष्टि उत्पन्न करते हैं । यह ब्रह्माण्ड उस निराकार परमात्मा का विराट शरीर है, उसका बाहरी रूप है ।

मूल प्रकृति का दूसरा भाग अविद्या कहलाती है । यह रज और तम प्रधान होती है । इसके प्रभाव द्वारा अविकारी परमात्मा, विकारी जीवात्मा बनकर चेतन सृष्टि में प्रविष्ट होती है और इस भोग्यरूपा जगत् का भोक्ता बन जाती है ।

## तीसरा अध्याय

# जीवात्मा और प्रवृत्तिमार्ग (१)

आयुर्वेद जीवनशास्त्र तथा अन्य सभी वेदान्त शास्त्रों में भी आत्मा, जीवात्मा और परमात्मा शब्दों का उल्लेख बार-बार आया है। आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण हो जाता है। परन्तु इनमें थोड़ा-सा भेद भी है। इनमें कुछ समान धर्म भी पाये जाते हैं और कुछ विरोधी धर्म भी। जब तक जीवात्मा अविद्या से दूर निर्मुक्त रहती है, तब तक यह परमात्मा के साथ समान धर्म रखती हुई कोई भेद नहीं रखती। उसी का स्वारूप्य बनकर एकत्व भाव को प्राप्त कर लेती है। परन्तु जब इसका संयोग अविद्या के द्वारा, ८ प्रकृतियों और १६ विकारों से बने हुए २४ राशि संज्ञक पुरुष के साथ हो जाता है, तब यह परमात्मा से दूर कटकर रह जाती है। ऐसा होने पर इस जीवात्मा का संग शरीर के साथ रहता है। इसी लगाव के कारण यह शरीर के सुख-दुःख की भागी बन जाती है और त्रिविध तापों में फंसकर दुःख भोगती रहती है।

परमात्मा की विचित्र लीला है। सृष्टि रचनाकाल में ही मूल प्रकृति के द्वारा ऐसा विधान बन जाता है कि वह अपनी रज और तम प्रधान अविद्या के द्वारा, जीवात्मा को अपने वश में करके रख डालती है और इसको जगत् में उत्पन्न भोग्य पदार्थों का भोक्ता बना डालती है। यदि ऐसा विधान न बना होता, तो संसार की सृष्टि को उत्पन्न करने का प्रयोजन ही क्या था ? कौन इन भोग्य पदार्थों का भोक्ता बन जाता ? कौन इन सुख-ऐश्वर्य प्रदायक भोग्य सामग्री द्रव्यों को प्रयोग में लाता ? अविद्या ने इस कार्यभार को सम्भाला और पूरा करके दिखाया, जीवात्मा को प्रवृत्ति-मार्ग पर चलाकर संसार के मायाजाल में फँसाकर रखा, इसको कर्मफलों का भोग भोगने के लिए जन्मजन्मान्तरों तक आवगमन के बन्धन में डाल दिया। आइये, यहाँ प्रवृत्तिमार्ग पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

**प्रवृत्ति मार्ग**

**'प्रवृत्ति मूलमघस्य।'**

—चरक महर्षि

अर्थात् प्रवृत्ति पाप का मूल है। मनुष्य की उन्नत्ति में यदि कोई रुकावट बनकर सामने खड़ी हो जाती है तो वह अविद्या है। इसी अविद्या के कारण मनुष्य धक्के खाता हुआ पथभ्रष्ट हो जाता है और कठिनाइयों में फंसकर अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्य का जीवन दुःखी बन जाता है। वह त्रिविध तापों में फंस जाता है।

**प्रवृत्ति के आठ प्रकार—**

(१) **अहंकार**—ऐसा पुरुष अपने आपको जाति, रूप, धन, बुद्धि, शील, विद्या, वय, वीर्य और प्रभाव वाला मानता है।

(२) **सङ्ग**—पुरुष के वह सभी कर्म (जो मन, वचन और शरीर से किये जाते हैं), जो बन्धन का कारण बनते हैं, सङ्ग कहलाते है।

(३) **संशय**—कर्मफल भोगने होते हैं या नहीं; मोक्ष होता है या नहीं; मनुष्य योनि के अतिरिक्त अन्य योनियाँ हैं या नहीं, जैसे भूत-प्रेत-पिशाचादि। इसको संशय कहते हैं।

(४) **संप्लव**—अपने को विशेष व्यक्ति, विशेष बुद्धिमान और स्वभाव सिद्ध वाला मानना संप्लव कहलाता है।

(५) **अभ्यवपात**—अपने को बड़ा परिवार वाला, मित्रवान, नौकर-चाकर वाला मानने वाला अभ्यवपात कहलाता है।

(६) **विप्रत्यय**—कार्य और अकार्य, शुभ और अशुभ, हित और अहित आदि-आदि द्वन्द्वों में विपरीत जानकारी रखने वाला विप्रत्यय कहलाता है।

(७) **अविशेष**—ज्ञान और अज्ञान, प्रकृति और विकृति, शुद्ध और अशुद्ध, प्रवृत्ति और निवृत्ति में समान दृष्टि रखने वाला अविशेष कहलाता है।

(८) **अनुपाया**—व्रत, पूजापाठ, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्या आदि में दिन-रात पड़े रहना या कामकाज में अस्त-व्यस्त रहना, अनुपाया कहलाता है।

उपरोक्त आठ प्रकार की प्रवृत्ति में जीवात्मा दिन-रात फँसी रहती है। यही संसार का मायाजाल है। इसमें फँसा रहने से मनुष्य जन्म-जन्मान्तर तक आवागमन के चक्र में घूमता रहता है और कभी सुख और कभी दुःख भोगता रहता है। कर्मफल का भोग समाप्त होने पर ही इसको आवागमन से छुटकारा मिल सकता है और जीवनमुक्ति पाकर परम शान्ति प्राप्त कर सकता है।

महर्षि चरक के आदेश का अवलोकन करें—

**'रजस्तमोभ्यामविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते।**
**येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहंकार पराश्च ये॥**
**उदयप्रलयौ तेषां** ................।' —च० श० १।६८-६९

अर्थात् अहंकारभाव से युक्त, रज और तम दोषों के कारण, बुद्धि के दूषित होने से मनुष्य को प्रज्ञापराध हो जाता है, फलस्वरूप उसको शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त दूषित सकाम कर्मों का फल भोगने के लिए उसको जन्म धारण करने पड़ते हैं और वह बन्धन में फँस जाता है। इस प्रकार त्रिविध तापों से घिरकर उसका जीवन दुःखी बन जाता है।

'प्रवृत्ति मूलमघस्य।' अर्थात् प्रवृत्ति पाप का मूल कारण है। अविद्या के कारण जीवात्मा सांसारिकता के रंग में अस्तव्यस्त होकर अपनी वास्तविकता को भूल जाती है और दोषपूर्ण प्रवृत्ति मार्ग पर चलती है जो इसको भोग चिन्तन में में ही फँसाएँ रखती है।

**परमात्मा और जीवात्मा के कतिपय विरोधी धर्म**

(१) स्वप्रकाश परमात्मा सूर्य रूप से एक है, जबकि जीवात्मा मायाकल्पित

उपाधियों के अनुसार, जलपात्रों में पड़े हुए सूर्यप्रतिबिम्बों की अनेकता के समान अनेक है।

(२) परमात्मा सर्वज्ञ है जबकि जीवात्मा को करणों के द्वारा ज्ञान होता है।

'आत्म ज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते ॥' —च० श० १।५४

अर्थात् आत्मा ज्ञानवान है, परन्तु यह ज्ञान इसको मन आदि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त हो जाता है। यदि यह करण अयोग्य या विकृत हों तो ज्ञान नहीं होता।

(३) परमात्मा अनादि है और निःसंग होने के कारण जन्मरहित है। परन्तु २४ राशि संज्ञक पुरुष (जीवात्मा) बार-बार जन्म धारण करती रहती है।

'प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेष कर्मजः ॥' —च० श० १।४३

अर्थात् परमात्मा अनादि है अतः जन्म मरण रहित है। परन्तु यह जीवात्मा जो ८ प्रकृतियों + १६ विकारों और चेतनधातु के संयोग से बना हुआ २४ राशि संज्ञक पुरुष कहलाता है, वह मोह, इच्छा और द्वेषात्मक सकामकर्मों के फलस्वरूप जन्म धारण कर लेती रहती है। बन्धन में फँसी रहती है।

(४) परमात्मा संगदोषों से निर्लिप्त रहता है, जैसे कमल-पत्र जल में रहता हुआ भी जल से निर्लिप्त रहता है। परन्तु जीवात्मा, अविद्या के वशीभूत होने के कारण रज और तम दोषों से लिप्त रहती है अर्थात् आवृत्त होकर ढकी रहती है। जीवात्मा स्वयं तो सब कुछ देखती रहती है, परन्तु उसको कोई नहीं देख सकता। जैसे परदे के अन्दर छिपी हुई महिला स्वयं तो सबकुछ देखती रहती है, परन्तु उसको कोई नहीं देख सकता।

(५) परमात्मा महान् है और जीवात्मा इसका अंश है। इन दोनों में एकत्व भी है। जैसे जल का बुदबुदा जल का अंश है, जल से ही बनता है, और जल ही में लीन हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा अज्ञान के कारण, परमात्मा से कटी हुई दूर रहती है, परन्तु ज्ञान प्राप्ति पर परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर लेती है।

(६) परमात्मा महान् है और जीवात्मा इसका अंश है। दोनों में अपना-अपना अस्तित्व भी है और एकत्व भी। जैसे पारद के सूक्ष्म कण, अपना-अपना अस्तित्व भी रखते हैं और फिर पारद के ढेर में समा भी जाते हैं।

उपरोक्त प्रवृत्ति मार्ग की व्याख्या से पाठकों को विदित हो गया कि इस पथ पर चलने से जीवात्मा मायाजाल में फँस जाती है और इसी अविद्या के कारण तीन प्रकार के रोगों में फँस जाती है और दुःख उठाती रहती है। इससे मुक्त रहने का उपाय यह है कि प्रवृत्ति मार्ग को त्यागकर निवृत्ति मार्ग को अपनाया जाए, ऐसा करके ही यह सुखी बन सकती है और परमात्मा के निकट आ सकती है।

आईये अब निवृत्ति मार्ग पर थोड़ा बहुत प्रकाश डालेंगे।

चौथा अध्याय

# जीवात्मा और निवृत्ति मार्ग (२)

## निवृत्ति मार्ग का स्वरूप

'निवृत्तिरपवर्गः तत्परं प्रशान्तं तत्तदक्षरं, तदब्रह्म, स मोक्षः।'

—चरक स०

अर्थात् निवृत्ति अपवर्ग है, वही शान्ति पद है, वही अमर पद है, वही मोक्ष है।

'रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धये निवर्तते ॥' —च० श० २।३६

अर्थात् राजसिक और तामसिक दोषों से युक्त सकाम कर्मों के करने से, इस २४ राशि संज्ञक पुरुष को कर्मफलों को भोगने के लिए, बार-बार आवागमन के चक्र में फँसकर जन्म लेना पड़ता है। इस प्रवृत्ति मार्ग पर चलते हुए मनुष्य तीनों प्रकार के दुःखों से, शारीरिक, मानसिक और आत्मज रोगों से पीड़ित हो जाता है। अब योगाभ्यास की ओर लग जाता है तो योगाभ्यास के द्वारा जब मन के दोष —रज और तम दूर हो जाते हैं, तोइनके स्थान पर सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है, तो मन सकाम दूषित कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता, इससे निवृत्त हो जाता है तो यह निवृत्ति पुरुष को तीनों तापों से छुटकारा दिलाती है अर्थात् आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति हो जाती है।

जीवन के उतार-चढ़ावों से मनुष्य दुःखी हो जाता है और घबराकर इन दुःखों से छुटकारा पाने का कोई प्रतिकार ढूँढ़ता है। इसी खोज में उसको या तो किसी आप्तागम के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है अथवा किसी ज्ञानी महात्मा के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। इनके द्वारा मनुष्य को निवृत्ति मार्ग का दिग्दर्शन हो जाता है, जिस पर चलने से मनुष्य को अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। उसे मालूम हो जाता है कि वह पाँच महाभूतों का बना हुआ स्थूल शरीर नहीं, वह तो अविनाशी जीवात्मा है, जो सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा का अंश है। इस आत्मज्ञान को प्राप्त करके ही दुःखों से मुक्ति मिल सकती है और अविद्या दूर होकर तीनों तापों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। मनुष्य यह जानकारी प्राप्त करके आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अपना जीवन-लक्ष्य नियुक्त करता है और दृढ़संकल्प युक्त होकर पुरुषार्थ में जुट जाता है।

## पथदर्शक गुरु के लक्षण

आत्मज्ञान प्राप्ति के पथदर्शक आत्मज्ञानी महात्मा होते हैं। वह रज और तम

दोषों से निर्मुक्त मन वाले निर्लोभी महात्मा होते हैं। उनके सत्संग में रहकर, उनके दिखाये हुए मार्ग पर चलने से, आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। स्मरण रहे कि साधु वेष में कुछ कपटी और पाखण्डी महात्मा भी होते हैं, वह विद्वानों की तरह बड़ी-बड़ी बातें भी करते हैं, ऐसा लगता है कि वे बड़ी पदवी के महात्मा हैं। जब तक उनकी परीक्षा न ली जाये, तब तक उनकी बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। उनकी परीक्षा तीन अवसरों पर ली जा सकती है—(i) जब वह भूखे हों, (ii) जब वह रोगी या दुःखी हों, (iii) जब दो अपशब्द उनके अपमान में कहे जायें। तो इन तीनों परीक्षाओं की प्रतिक्रियायें देख लेनी चाहिएँ, यदि इनमें वह अविचल रहें, तो वह निःसन्देह महात्मा हैं, उनकी चरणधूलि सिर पर चढ़ायें, उनको निःसंकोच अपना गुरु स्वीकार करें।

## निवृत्ति प्राप्त करने के उपाय

निवृत्ति प्राप्त करने के बहुत उपाय हैं उनमें से कुछ उपाय नीचे लिखे जाते हैं। जैसे—

(१) लोक और पुरुष में समानता देखने से। जो इस प्रकार से है—

| लोक | की समानता | | पुरुष से | | लोक की समानता | | | पुरुष से | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पृथ्वी | " | " | मूर्ति | " | वसु | " | " | मुख | " |
| अग्नि | " | " | जठराग्नि | " | मरुत | " | " | उत्साह | " |
| जल | " | " | क्लेद | " | विश्वेदेवा | " | " | इन्द्रियां | " |
| वायु | " | " | प्राण | " | तम | " | " | मोह | " |
| आकाश | " | " | सुषिर | " | ज्योति | " | " | ज्ञान | " |
| ब्रह्मा | " | " | आत्मा | " | संग | " | " | गर्भाधान | " |
| प्रजापति | " | " | मन | " | सतयुग | " | " | बाल्यावस्था | " |
| इन्द्र | " | " | अहंकार | " | त्रेतायुग | " | " | यौवनावस्था | " |
| सूर्य | " | " | ग्रहणशक्ति | " | द्वापरयुग | " | " | वृद्धावस्था | " |
| रुद्र | " | " | क्रोध | " | कलियुग | " | " | रोगावस्था | " |
| सोम | " | " | प्रसन्नता | " | प्रलय | " | " | मरण | " |

उपरोक्त समानता को समझकर इसके प्रभाव से दोषात्मक विचार कम उत्पन्न होने लगते हैं और द्वन्द्वभाव में भी कमी आने लगती है। अपने-पराये का भेदभाव कम होकर मन में शुद्धि आने लगती है। फिर रागद्वेष के स्थान पर प्रेम उजागर हो जाता है, जिससे वह सभी प्राणियों के साथ एकसमान भाव से व्यवहार करने लगता है। यह समानता निवृत्ति मार्ग पर चलाने में एक उपाय का काम देती है।

(२) मोक्षशास्त्रज्ञों के आदेशों पर चलना और किसी आत्म ज्ञानी महात्मा का कृपापात्र बनना भी एक अच्छा उपाय है।

(३) आप्तोपदेश अर्थात् वेद, उपनिषद्, भागवत, रामायण, भगवद्गीता आदि निवृत्ति मार्ग का दिग्दर्शन कराते हैं। उस मार्ग पर चलना चाहिए।

(४) सज्जनों की संगति में रहने से, सदाचार और सद्व्यवहार के पालन से, इस मार्ग को ग्रहण करने में सहायता मिलती है।

(५) सभी प्राणियों की निष्काम सेवा और योगाभ्यास करना निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ होने का एक बड़ा उपाय है।

(६) मिथ्याज्ञान रूपी इच्छा, द्वेषात्मिका प्रवृत्ति को हटाना, निवृत्ति मार्ग पर आने का एक और महान उपाय है।

(७) इन्द्रियों को मन के वश में, मन को बुद्धि के नियमन में और बुद्धि को आत्मा का अनुगामी बनाकर निवृत्ति मार्ग पर चलना, समर्थ बनने का एक महत्वपूर्ण उपाय है।

(८) सर्वसंकल्प संन्यासी बनकर अहंकार को समाप्त करने से निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ होकर आगे बढ़ना एक सफल दृढ़ उपाय है।

उपरोक्त सभी उपायों की सहायता से सत्याबुद्धि उत्पन्न हो जाती है क्योंकि इनसे मन शुद्ध हो जाता है। फिर सुबुद्धि की सहायता से साधक योग साधना में लग जाता है। योग साधना की सिद्धि पर शान्ति पद प्राप्त कर लेता है। चरक-संहिता में आदेश—

"एतैरविमलं सत्त्वं शुद्धच्युपायैर्विशुद्धचति।
शुद्ध सत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते।
योगं यया साधयते सांख्यः संपद्यते यया।
याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम् ॥" —च० श० ५।१६

अर्थात् निवृत्ति मार्ग पर चलने से मन के दोष रज और तम घट जाते हैं, सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है, जिससे मन शुद्ध हो जाता है। मन की शुद्धि से बुद्धि भी शुद्ध हो जाती है। शुद्ध बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं, बुद्धि के शुद्ध होने से मनुष्य को प्रज्ञापराध नहीं होता, फलस्वरूप वह शारीरिक और मानसिक रोगों से सुरक्षित रहता है। इसके अतिरिक्त सुबुद्धि के प्रसाद से मन योगसाधना की ओर लग जाता है। धीरे-धीरे मन आत्मतत्व में अवस्थित हो जाता है और इसके पश्चात् आत्मज्ञान प्राप्त करके परमानन्दस्वरूप परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है जो अजर, अमर और शान्तपद है।

## जीवात्मा और परमात्मा के कुछ सामान्य धर्म

चार महावाक्य—हमारे आप्त ग्रन्थों में चार महावाक्य पाये जाते हैं—

(१) 'अहं ब्रह्मोऽस्मि' (ब्रहदारण्यक, १-४-१०) अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ।

(२) 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्योपनिषद् ६-८-१०) अर्थात् वह तुम हो।

(३) 'अयमात्मा ब्रह्म'। (बृहदारण्यक, २-५-१६) अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है।

(४) 'प्रज्ञानं ब्रह्म'। (ऐतरेयोपनिषद, ५-१) अर्थात् प्रज्ञानं ब्रह्म है।

ऊपर लिखे हुए चार महावाक्यों में 'अहम्', 'त्वम्', 'अयम्', और 'प्रज्ञानम्' शब्द जीवात्मा के लिए आये हैं और 'ब्रह्म', 'तत्', 'ब्रह्म' 'ब्रह्म' शब्द परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि इस प्रकार के शब्दों में कुछ विरोधी धर्म भी पाये जाते हैं, तथापि दोनों में चैतन्यता होने के कारण एकता पाई जाती है। अज्ञानी लोग शरीर को ही आत्मा समझते हैं, परन्तु शरीर नाशवान है और विकारयुक्त है जबकि जीवात्मा इनसे रहित है।

उपर्युक्त महावाक्यों में से उदाहरण के लिए एक महावाक्य, 'अहं ब्रह्मोऽस्मि' को लेते हैं। अविद्या के कारण मायाजाल में फँसकर जीवात्मा, अपने सत्-चित्-आनन्दस्वरूप को भूलकर दुःख भोगता है। किसी पूर्वजन्म के अर्जित पुण्य के प्रताप से उसको आप्तागमों के अध्ययन का अवसर प्राप्त हो जाता है अथवा कोई ज्ञानी महात्मा मिलता है, उनके सम्पर्क में आकर इस दुःखी जीव को दिग्दर्शन अथवा दीक्षा मिलकर अपनी वास्तविकता का ज्ञान मिलता है। 'अहं ब्रह्मोऽस्मि' अर्थात् मैं (जीवात्मा), ब्रह्म (परमात्मा) हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ। इस प्रकार की जानकारी प्राप्त करके आत्मज्ञान साधन में गुरु दर्शित मार्ग द्वारा योग साधना में जुट जाता है, जिसके द्वारा उसे त्रिविध दुःखों से मुक्ति मिलकर अन्त में शान्ति प्राप्त हो जाती है। जीवात्मा का एकत्व परमात्मा के साथ हो जाता है। जैसे–मान लीजिए, घर में एक कर्मचारी रखा जाता है, कामकाज में निपुणता रखता है, बड़ा गुणवान है और अपना कर्त्तव्यपालन बड़ी ईमानदारी से करता है। कुछ समय बीतने पर अपने सद्व्यवहार से वह घर का एक व्यक्ति ही माना जाता है। उसकी सेवा से, घर का स्वामी, उस पर सन्तुष्ट हो जाता है। अब वह घर के सभी व्यक्तियों को बुलाकर उन्हें कहता है, कि अब से आगे मुझमें और इस नौकर में कोई भेद न रखा जाये, मैं और यह एक हैं इसका आज्ञा पालन उसी प्रकार से होता रहे, जिस प्रकार से मेरा होता आया है। ऐसा कहने पर नौकर को स्वामी पद प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार जब साधक निरन्तर योग साधना से 'अहं ब्रह्मोऽस्मि' के पद पर पहुँच जाता है, फिर परमात्मा के साथ इसी खोज के कारण, एकत्व को प्राप्त हो जाता है। जैसे नमक की डली समुद्र की गहराई की खोज में उसी में घुलमिल होकर एकत्व प्राप्त कर लेती है।

**जीवात्मा और परमात्मा एकसमान सत्चित् आनन्दस्वरूप हैं।**

जीवात्मा में सत् और चित् के दो स्वभाव व्यक्त रहते हैं, परन्तु आनन्द का स्वभाव, मन के घोर और मूढ़ वृत्तियों अर्थात् रज और तम दोषों के कारण, आवृत्त रहता है, प्रकट नहीं होता है। जब योग साधना के निरन्तर अभ्यास से रज और

तम के मैले परदे जीवात्मा के ऊपर से हट जाते हैं तो स्वप्रकाशस्वरूप जीवात्मा का आनन्द स्वभाव भी प्रकट हो जाता है। जैसे परदे में छिपाया हुआ मुख, परदा उठाकर प्रकट दिखाई देता है।

निरात्मवादी सत्‌रूप जीवात्मा के प्रति भ्रान्त दृष्टि रखते हैं, क्योंकि वे शरीर में स्थित इस जीवात्मा को आँखों से देख नहीं सकते। भला एक आध्यात्मिक अपरोक्ष द्रव्य को स्थूल आँखों से कैसे देखा जा सकता है ? ऐसे द्रव्य को अनुमानों और युक्तियों से, दृष्टान्तों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है, न कि प्रत्यक्ष आँखों से। आइये, जीवात्मा के अस्तित्व पर थोड़ी-बहुत चर्चा करेंगे और इसके अस्तित्व को और भी स्पष्ट करने का यत्न करेंगे।

हम देखते हैं कि मनुष्य प्रतिदिन तीन अवस्थाओं में से गुजरता है—जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों अवस्थाओं में हम आत्मा को साक्षी रूप से अपने शरीर के भीतर मन के एक देश में स्थित देख पाते हैं। वह कैसे ? थोड़ा ध्यान देकर इसे आप पढ़ें और इस पर मनन भी करें।

**जागृत**—सबसे प्रथम हम जागृत अवस्था को लेते हैं। हमारे शरीर में पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ हैं—कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नाक। इनसे हम क्रमपूर्वक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं; और यह ज्ञान जागृत-अवस्था में उत्पन्न होता है। कान, त्वचा, नेत्र आदि भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषय भिन्न-भिन्न ज्ञान हैं। विषयों की भिन्नता को पृथक् रखें। अब जो ज्ञानमात्र शेष रह जाता है, उस पर विचार करें। वह ज्ञान एक ही है जिस प्रकार घटाकाश, मठाकाश और कमण्डलु आकाश के भिन्न-भिन्न पात्र हैं, परन्तु उनमें भासित होने वाला आकाश एक ही है।

**स्वप्न**—अब स्वप्नावस्था को लेते हैं। इसमें भी जागृतकाल के समान शब्द आदि विषयों में भेद होते हैं, परन्तु उनसे उत्पन्न ज्ञान जो प्राप्त होता है, वह भी एक ही है। भेद केवल इतना है कि जागृत अवस्था का विषय ज्ञान बहुत दिनों तक स्थायी रहता है, जबकि स्वप्न अवस्था का विषय ज्ञान अस्थायी होता है, उसकी केवल प्रतीति मात्र होती है। परन्तु दोनों अवस्थाओं में एक समान होता है, भेद कोई नहीं होता। श्रुति का वचन है 'तयो सांवदेकरूपा न भिद्यते।' अर्थात् दोनों अवस्थाओं का इन्द्रिय विषयजन्य ज्ञान, एक समान होता है, भिन्न नहीं होता।

**सुषुप्ति**—अब सुषुप्तावस्था को लेते हैं। इस अवस्था में पुरुष अज्ञानावस्था में मूर्च्छित जैसा पड़ा हुआ होता है। यदि पुरुष से पूछा जाये, तू कहाँ था ? तो वह कुछ भी नहीं बता सकता है। उसको पता ही नहीं होता कि वह कहाँ था। उसका उत्तर यह मिलता है कि उसे कोई बोध नहीं कि वह कहाँ था। उसके उत्तर से अज्ञानता का बोध होता है और वह भी स्मृतिमात्र ही होता है।

अनुभव के बिना स्मृति नहीं होती और जागृतावस्था में ज्ञान के बिना अनुभव

नहीं हो सकता । इसलिए सुषुप्ति विषयक अबोध का अनुभव सुषुप्ति में ही किया गया । चूँकि जागृतावस्था में अनुभव से ही ज्ञान होता है, इसलिए स्मृति जो कुछ भी है, उसकी विद्यमानता अनुभव से ही होती है । जैसे किसी का पुत्र विदेश में रहता हो, वह स्मृति से ही यह ज्ञान रखता है कि वह मेरा पिता है । इसलिए सुषुप्ति काल का स्मृतिरूप बोध (ज्ञान) जागृतावस्था और स्वप्नावस्था के ज्ञान के समान एक ही है, भिन्न नहीं ।

जिस प्रकार एक दिन में प्राप्त जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में, एक ही ज्ञान की सिद्धि होती है, उसी प्रकार भूतकाल में भी ज्ञान एक ही था और आगामी कालों, वर्षों, शताब्दियों, युगों और कल्पों में भी ज्ञान का एक ही होना सिद्ध होता है । इसलिए ज्ञान एक होने के कारण, इस ज्ञान की न कहीं उत्पत्ति दिखाई देती है और न ही कहीं इसका अन्त दिखाई देता है । न इसका कहीं उदय हैं और न ही कहीं अस्त दिखाई देता है । अन्य दूसरा भी कोई बोध नहीं, जो इसका साक्षी हो सके । इन सभी बातों से यही सिद्ध होता है कि ज्ञान नित्य है ।

इस ज्ञान का कोई साक्षी नहीं । यही अपने समकालीन पदार्थों का साक्षी है। यह दीपक के समान सबको प्रकाश करता है, इसलिए यह स्वप्रकाश स्वरूप है । इसके प्रकाश से मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियों और उनके विषयों द्वारा जीवन का समस्त अन्तर-बहि तथा जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का व्यवहार धर्म चल रहा है । यही मनुष्य शरीर के मन में साक्षी रूप में स्थित, जीवात्मा है ।

**'आत्मा परमप्रेमास्पदं'** अर्थात् आत्मा परम प्रेम का विषय है, परम प्रेम का विषय होने के कारण परमानन्दस्वरूप है । जो परमानन्दस्वरूप नहीं होगा, वह प्रेम का विषय भी नहीं हो सकता । आनन्द बिम्ब का लेशमात्र सभी भूतप्राणियों को आनन्दित किये रखता है और संसार का व्यवहार भी इसी के प्रसाद से चल रहा है । आत्मा का आनन्द स्वभाव उसका अपना प्राकृतिक गुण है ।

उपर्युक्त चर्चा से सिद्ध होता है कि जीवात्मा और परमात्मा एक समान सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हैं ।

## जीवात्मा अंश है परमात्मा का

'न जायते म्रियते वा कदाचित् नाऽयंभूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—गीताजी

अर्थात् जीवात्मा कभी उत्पन्न नहीं होती, न ही यह किसी समय पर मरती है । एक बार आकर या होकर सदा के लिए बनी रहती है । यह अजर, अमर, सदा रहने वाली, सत्वस्तु, शाश्वत और सनातन है । इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा, परमात्मा का अंश बनकर आई है ।

जिस प्रकार पारद के ढेर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश बन जाते हैं और यह अंश मिलकर एक-दूसरे में समाते हुए पारद के ढेर में एकत्व प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा का अंश होकर परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है ।

## जीवात्मा का निवासस्थान

जीवात्मा का आश्रय मन है; आधार और स्थान भी मन ही है, दोनों एक साथ रहते हैं और एक साथ ही देहान्तर गमन भी करते हैं। इन सभी बातों की चर्चा प्रथम भाग के सातवें अध्याय में विस्तृत रूप से प्रमाणों के साथ की गई है। अतः जीवात्मा का निवासस्थान भ्रूमध्य स्थान (शिरोहृदय) है। यहीं पर मन का स्थान भी है। आयुर्वेद जीवन विज्ञान की दृष्टि से मन का निवासस्थान मस्तिष्क में 'भ्रूमध्य स्थान' सिद्ध किया गया है। यही स्थान जीवात्मा के निवास का भी हो सकता है। दोनों एक साथ में रहते हैं। इनका परस्पर निकटतम सम्बन्ध रहता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मीविद्या में जीवात्मा परमात्मा को 'भ्रूमध्य निलय' कहा गया है। यह सूत्र भी भ्रूमध्य स्थान की ही पुष्टि करता है। इस स्थान पर पूर्ण चन्द्रमा की ज्योति की भाँति ज्योतिस्वरूप जीवात्मा का ध्यान करने से मनुष्य दीर्घायु सम्पन्न स्वस्थ जीवन प्राप्त कर लेता है और सदा प्रसन्न-चित्त रह सकता है।

पाँचवाँ अध्याय

# अष्टांग योग

## योग का परिचय

**महर्षि चरक का आदेश—**

आत्मेन्द्रिय मनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते ।
सुखं दुखं, अनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ।।
निवर्तते तदुभयं, वशित्वं चोपजायते ।
सशीररस्य, योगस्तं ऋषयो विदुः ।।

—च० श० २।२३८/२३९

अर्थात् पुरुष को सुख या दुःख तभी प्रतीत होता है, जब मन का संयोग इन्द्रियों और उनके विषयों के साथ होता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती हैं, इसलिए इनके द्वारा संसार का बहिर्ज्ञान प्रतीत होता है, आध्यात्मिक ज्ञान प्रतीत नहीं होता। परन्तु जब मन का संयोग इन्द्रियों से हटकर आभ्यान्तर की ओर जाकर आत्मा में अवस्थित हो जाता हैं, तब पुरुष को शरीर के अंग-प्रत्यंग होते हुए भी सुख-दुःख का ज्ञान नहीं होता। पुरुष वशी हो जाता है। इस स्थिति को चित्तवृत्ति निरोध कहते हैं, इसी को योग कहते हैं।

योग के आठ अंग हैं। पहले पाँच अंगों से व्यक्तिगत और समाजगत जीवन सुधरता है। जीवन संतुलित और संयमित हो जाता है। साधक में दैवीगुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है, शेष तीन अंगों से मन अन्तर्मुखी हो जाता है और मन का आत्मा के साथ संयोग होकर पुरुष को विश्वदृष्टि प्राप्त हो जाती है। सम्पूर्ण सृष्टि में परमात्मा का वास एकसमान भाव से भास हो जाता है।

भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग 'योग' है, जो प्राचीनकाल से योगियों द्वारा प्रचलित किया हुआ चला आ रहा है। इसी महत्त्व से भारतवासी अनेक प्रकार की विषम परिस्थितियों को लाँघकर और विदेशी शासकों के अत्याचार लूट-खसोट, और मारधाड़ से वचकर, आज तक जीवित रह सके हैं। बचाव का इतना विशाल काम सन्तोष और त्याग की भावनाओं से सम्भव हो सका, जो योग संस्कृति की देन हैं। आज यदि भारतवासी अपना शीश ऊँचा करके चल रहे हैं, यह इसी योग संस्कृति की देन है। यह योगसंस्कृति व्यक्तिगत और समाजगत जीवन की सुधारक है। यह शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की निर्माता है; यही जीवनमुक्ति दातृ है। यह शरीर के तीनों तापों—आधि, व्याधि और उपाधि

का नाशक है। यही इसकी विशेषता है। इसका नये वैज्ञानिक ढंग से प्रचार और प्रसार करने की आवश्यकता है। इससे जगत् का कल्याण सम्भव हो सकता है। यह सदाचार सुधारक है। यह आतंकवाद नाशक है।

**योग के प्रकार**—योग चार प्रकार के हैं—भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग और कर्मयोग। भक्तियोग में भक्तजन परमात्मा को भगवान मानकर उसकी साकार उपासना करते हैं और प्रेम की पराकाष्ठा को पहुँचकर अपना अहंकार समाप्त कर, परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर डालते हैं। शेष योगों में निराकार उपासना से परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त करने के लिए अष्टांग योग की साधना करनी पड़ती है। आइये, यहाँ हम अब अष्टांग योग पर प्रकाश डालेंगे।

**योग साधना**—योग के आठ अंग हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम. (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि।

### १. यम

यम पाँच प्रकार का है—(i) अहिंसा, (ii) सत्यं, (iii) अस्तेय, (iv) ब्रह्मचर्य, (v) अपरिग्रह।

(i) **अहिंसा**—मन, वचन और कर्म से किसी को दुःख न देना अहिंसा कहलाता है। हिंसा अकर्त्तव्यकर्म है। हिंसक पापियों को ठिकाने लगाने के लिए दण्ड देना चाहिए, विशेषकर प्राणद्रोही, समाजद्रोही और देशद्रोही शत्रुओं को। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्।' नहीं तो आतंकवाद फैलकर देश की शान्ति भंग हो जायेगी।

(ii) **सत्य**—वाणी से सदा सत्य वचन बोलने चाहिएँ। सत्यवादी निर्भय और विश्वस्त होता है, उससे न्याय मिलता है। मनुष्य का सच्चा और विश्वस्त मित्र, उसका अपना सत्यवचन होता है। सत्स्वरूप परमात्मा को पाने के लिए सत्यवचन को अपनाना चाहिए। यद्यपि यह कड़वे भी होते हैं, परन्तु यदि किसी सच्चाई को बोलने में किसी अप्रिय प्रतिक्रिया के निकलने की आशङ्का हो, तो मौन धारण करना ही श्रेष्ठ है। स्मरण रहे, न्यायाधीश का सच्चा और ईमानदार होना अत्यन्त आवश्यक है।

(iii) **अस्तेय**—किसी वस्तु को चुराना, अथवा स्वामी की अनुपस्थिति या उसकी जानकारी के बिना वस्तु को उठाकर ले जाना अथवा बलात्कार से किसी की वस्तु को हर लेना चोरी कहलाता है। यह भी अकर्त्तव्यकर्म है और सदाचार पतन का चिह्न है, जो आतंकवाद का मूल कारण है।

(iv) **ब्रह्मचर्य**—इस पुस्तक के पहले भाग के तीसरी अध्याय में लिखा गया है कि मनुष्य का शरीर सात धातुओं से बना है। इन सभी धातुओं का सार धातु शुक्र (वीर्य) धातु है। शरीर का बल और मन का उत्साह इसी धातु की पुष्टि पर निर्भर करता है। महर्षि चरक का आदेश—

**"आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयादस्य बहूनरोगान्मरणं वा नियच्छति ॥"**

अर्थात् आहार का परम सारधातु शुक्र है, इसकी रक्षा करनी चाहिए। इसके क्षय होने से अर्थात् क्षीण होने से, बहुत-से रोग उत्पन्न हो जाते हैं अपितु मृत्यु तक भी हो जाती है। पूर्वाचार्यों ने जीवन के प्रथम २५ वर्षों के भाग को ब्रह्मचर्याश्रम कहा है। इस आश्रम में नवजात शिशु समुचित पालन-पोषण से बाल्यावस्था से गुजरता हुआ युवावस्था में प्रवेश कर पाता है। इस अवस्था से गुजरते हुए बालक को विद्याभ्यास और योगाभ्यास की शिक्षा के साथ-साथ जीविका सम्बन्धी किसी एक यथोचित औद्योगिक कार्य या व्यवसाय का प्रशिक्षण भी दिया जाना आवश्यक है, ताकि वह स्वावलम्बी बन सके और उसमें मनुष्यत्व भी आ सके और वह जीवन के प्रत्येक कार्य विभाग में सफल रह सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब बालक का स्वास्थ्य पूर्णरूप से ठीक हो और ऐसा होने के लिए शुक्रधातु की पुष्टि और उसका संरक्षण अत्यन्त आवश्यक है, ऐसा हमारे पूर्वाचार्यों का मत है। उन्होंने हमें हिताहार-विहार को अपनाने के साथ-साथ वीर्य धातु की रक्षा के लिए सावधान रहने के लिए पर्याप्त जोर दिया है।

ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् युवक यदि इच्छुक हो, तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सकता है और विवाहित जीवन धारण कर सकता है। मनुष्य को उपनिषदों में काममय कहा गया है। मनुष्य में कामेच्छा का मनोव्यापार अधिक पाया जाता है। यह मनुष्य की एक सहज प्रवृत्ति है जिसको रोका नहीं जा सकता। विवाहित जीवन धारण करने से जहाँ कामेच्छा की पूर्ति हो जाती है, वहाँ सदाचार की मर्यादा भी भंग नहीं होती और संसार का व्यवहार धर्म चलता रहता है। कई वैज्ञानिकों का मत है कि कामेच्छा के दमन से मानस रोग हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में महर्षि चरक के निम्न सूत्र की ओर ध्यान दें—

**'रजस्तमश्च मनसौ दोषौ।
तयोः विकारः काम, क्रोध लोभादयः।'** —च० वि० ५।११

अर्थात् रज और तम, मन के दो दोष हैं, इनके विकार काम, क्रोध, लोभ आदि हैं।

स्मरण रहे कि मन के यह विकार (भाव) सामान्यावस्था में रोगोत्पादक नहीं होते। यह जीवित शरीर के लक्षण होते हैं। यदि यह लक्षण जीवित शरीर में उपलब्ध न हों तो ऐसा व्यक्ति मृतक माना जाता है। भावों की यह सामान्यावस्था, जीवित शरीर की स्वस्थावस्था कहलाती है। परन्तु जब मन के यह भाव प्रज्ञापराध के कारण असामान्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब यह अशस्त कर्म कहलाते हैं, जो रोगों के उत्पन्न करने का कारण बन जाते हैं।

मन की चंचलता के कारण ही मानसिक विकार असामान्यावस्था को प्राप्त होकर रोगोत्पादक बन जाते हैं। योगाभ्यास द्वारा मन की चंचलता में कमी आती

है, मन शुद्ध होता जाता है उसमें स्थिरत्व आता रहता है। अब यह बुद्धि के नियमन में रहकर काम करने लगता है। बुद्धि की शुद्धि, जो मन की शुद्धि से सम्भव हुई है, उसके प्रसाद से मनुष्य को प्रज्ञापराध अब नहीं हो जाता। फलस्वरूप वह शारीरिक और मानसिक रोगों के आक्रमणों से सुरक्षित रहता है। मन की चंचलता में कमी आ जाने से, मन के भाव असामान्यावस्था को प्राप्त नहीं हो जाते। मन शान्त रहता है और ब्रह्मचर्य के पालन में रत रहता है। अतः यह कहना मिथ्या है कि ब्रह्मचर्य के पालन से कामेच्छा का दमन हो जाता है।

भारतीय अध्यात्मशास्त्रज्ञों की मान्यता यह है कि मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे आत्मा है। योगसाधना के द्वारा संशोधित और अनुशासित मन के सहयोग से मनुष्य संसार में सुखैश्वर्य सम्पन्न स्वस्थ-दीर्घ-जीवन के साथ-साथ परलोक की शान्ति भी प्राप्त कर लेता है और साधक महापुरुष, मन से पार जाकर परमात्मा से एकत्व प्राप्त कर लेता है। आधुनिक वैज्ञानिक अभी तक मन से आगे बढ़े नहीं पाये हैं। उनकी दृष्टि अभी तक खुली नहीं है। इसी कारण वह कामेच्छा दमन को रोगोत्पादक मानते हैं। जब उनकी दृष्टि मन से आगे बढ़ेगी, जीवात्मा को वास्तविक मनुष्य होने का प्रमाण-पत्र देंगे, तभी उन्हें यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

ब्रह्मचर्य का पालन अनुशासित मन से सम्भव हो सकता है। सत्संग में रहकर मन सात्त्विक बनता जाता है और दोषों से मुक्त रहकर शुद्ध बनता जाता है। मन की शुद्धि के फलस्वरूप बुद्धि शुद्ध हो जाती है, उसमें मेधा शक्ति आ जाती है और प्रज्ञापराध समाप्त हो जाता है। मनुष्य जीवन के प्रत्येक कार्यक्षेत्र में सफल रहता है। उसमें पूर्ण मनुष्यत्व लाता है, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बनाने में सहायता करता है। इसका पालन-तन-मन से करना चाहिए।

(ङ) **अपरिग्रह**—अनेक प्रकार की वस्तुओं को संग्रह करना अपरिग्रह कहलाता है। वस्तुओं को संग्रह करना ठीक नहीं होता, क्योंकि बाजार में वस्तुएँ अदृश्य हो जाती हैं। इनका अकाल पड़ जाता है। जिससे जनता दुःखी हो जाती है। हाँ, यदि उपहार के रूप में कोई वस्तु मिल जाए तो वह वस्तु रखी जा सकती है। नहीं तो स्वार्थ भाव से ली या दी गई वस्तु उधार होती है, वह कहीं भी किसी भी अवस्था में, इसी जन्म या अगले जन्म में वापस करनी पड़ती है।

इसके अतिरिक्त बहुत सी वस्तुओं को एकत्रित करना मन को अशान्त बनाता है। इनकी देखभाल करनी पड़ती है, इसलिए मनुष्य बन्धन में फँसा रहता है। योगाभ्यासी के लिए तो यह एक बखेड़ा ही है इससे तो उसका मन चंचल ही रहेगा।

**२. नियम**

नियम पाँच प्रकार का है। (क) शौच, (ख) सन्तोष, (ग) तप,

(घ) स्वाध्याय, (ङ) ईश्वर प्रणिधान ।

(क) **शौच**—शौच दो प्रकार का होता है—शारीरिक (बहिः) शुद्धि और मानसिक (आन्तरिक) शुद्धि। शारीरिक शुद्धि का विस्त् त उल्लेख इस पुस्तक के प्रथम भाग में आया है। मानसिक शुद्धि सद्वृत (सदाचार) से आती है। सदवृत पालन से सदाचार बनता है। सदाचारी का मन सदा ही अच्छे विचारों से भरा रहता है, उसका मन सत्त्वगुण प्रधान होता है। अन्तर्शुद्धि का दर्शन कर्मेन्द्रियों के द्वारा होता रहता है। ऐसा सज्जन सभी को सुख पहुँचाता है और उपकार करता रहता है।

(ख) **सन्तोष**—यदि कोई बात संसार में लाभकारी हो सकती है तो वह सन्तोष है। ऐसा मनुष्य परमात्मा में विश्वास रखता है। मनुष्य अपनी जीवन यात्रा सुखपूर्वक चलाता हुआ सन्तुष्ट रहता है, वह वर्तमान परिस्थिति में पुरुषार्थ करता हुआ अपनी उन्नति करने में लगा रहता है। ऐसे सज्जन का मन दूसरे मनुष्यों की तुलना में कम चंचल होता है।

(ग) **तप**—जीवन के उतार-चढ़ाव में और द्वन्द्वभावों में मन को स्थिर रखना तप कहलाता है। वह यम और नियम के दस आदर्शों का प्रकाण्ड पालक होता है। वह वचनबद्ध महात्मा होता है। सदाचार का नमूना होता है और मौन रहना पसन्द करता है। संसार के मायाजाल से दूर रहना पसन्द करता है।

(घ) **स्वाध्याय**—अच्छे आदर्शनीय आप्तागमों, पुस्तकों का पठन-पाठन करते रहना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय से मनुष्य में सहनशक्ति आ जाती है। वह अपने काम में पर्वत के समान अविचल रहता है।

स्वाध्याय से मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि होकर बुद्धि का विकास हो जाता है। मानसिक वृत्तियाँ ठीक होती चली जाती हैं जिससे मनुष्य सदाचार निर्माण की ओर लग जाता है। ऐसा ही फल सत्संग से भी मिलता है। सत्संग से मनुष्य में दैवीगुण वृद्धि पाते हैं, उसमें मनुष्यत्व आ जाता है। मनुष्य को अपने उद्धार के लिए स्वाध्याय और सत्संग का अवलम्बन करना चाहिए। कुसंग से मनुष्य का पतन हो जाता है। कहा भी है—

**'असतां संगदोषेन साधवो यान्ति विक्रियां।**
**दुर्योधन प्रसंगेन भीष्मो गोहरणे गतः॥'**

अर्थात् दुर्जनों के साथ संग रखने से सज्जन पुरुष भी बिगड़ जाते हैं। देखें दुर्योधन के साथ संग रखने से भीष्म गाय चुराने के लिये गया।

(ङ) **ईश्वर प्रणिधान**—संसार का सम्पूर्ण व्यवहार और सामाजिक गठन तथा विधि-विधान विश्वास पर चलता है। सर्वशक्तिमान परमात्मा इस संसार के निर्माता हैं। यही इसके पालक और संहारकर्त्ता भी हैं। उसकी शरण में रहने

से मनुष्य निर्भय होकर रहता है। यह अपने कर्मफलों का भोग दूसरों के साथ मिलकर प्रयोग में लाता है, क्योंकि सब कुछ परमात्मा का ही दिया हुआ है। परमात्मा पर विश्वास रखकर जो भी काम हाथ में लिया जाये, वह सफल हो जाता है। उसका कृपापात्र बनने के लिए उसकी शरण में रहना चाहिए और वन्दना करनी चाहिए।

**सदाचार**—उपरोक्त नियमों के पालन से व्यक्तिगत जीवन सुधरता है। यम और नियम बड़े महत्त्वपूर्ण अंग हैं, जिनके द्वारा व्यक्तिगत जीवन, आचार-विचार और सामाजिक अनुशासन और सुगठन सुधार जाता है। सुख और शान्ति भौतिक वस्तुओं के संग्रह में नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो धनवान ही सुखी होता। जो व्यक्ति जितना धनी होता है, वह उतना ही अधिक दुःखी और चंचल दृष्टिगोचर होता है। सच पूछो तो शन्ति बाहर से खरीदी नहीं जाती, यह अपने अन्दर की वस्तु है। जो मनुष्य अपने जीवन में यम और नियम का पालक होगा, जीवन को जितना संतुलित और संयमित बनाएगा, वह उतना ही अधिक सुखी होगा।

यम और नियम के दस आदर्श अपनाने से मनुष्य में सभी दैवीगुण आ जाते हैं। मनुष्य का आचार-विचार सुधर जाता है। इसके सुधार से मनुष्य की शुभ-कार्यों की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। उसके निरन्तर अभ्यास से सदाचार बनता है जिसके प्रसाद से मनुष्य में पूर्ण मनुष्यत्व आ जाता है। मनुष्यत्व का लक्षण सदाचार है। सदाचार जीवन की विभूति है और योगाभ्यास ही मनुष्य को सदाचार के गुणों से मालामाल करता है।

**सदाचारी मनुष्य के लक्षण**—(१) सदाचारी अपने वचन का पक्का होता है, वह अपने वचन को अपने जीवन से भी मूल्यवान समझता है।

(२) सदाचारी किसी काम को हाथ में लेकर पूरा करके ही विश्राम लेता है। वह दृढ़संकल्प युक्त पुरुषार्थ से काम चलाता हुआ आगे बढ़ता रहता है। वह धैर्य और सहनशक्ति से कठिनायों का मुकाबला करता हुआ आगे बढ़ता रहता है। वह कोई भी कार्यभार सँभाल सकता है।

(३) सदाचारी विद्वानों की सभा में मान पाता है और स्वयं भी विद्वान होकर विद्वानों का आदर करता है।

(४) सदाचारी माता-पिता का आज्ञाकारी पुत्र होता है। भाईयों, बहनों और मित्रों का प्यारा होता है।

(५) सदाचारी ईश्वर और गुरु का भक्त, अपनी धर्मपत्नी का भगवान और आप्तजनों तथा महात्माओं का सेवक होता है।

(६) सदाचारी अपने निकटवासियों का हितैषी होता है। वह वृद्ध, सम और न्यून वयस्थों के साथ भक्ति, प्रेम और स्नेह करने वाला होता है।

(७) सदाचारी दीन-दुःखियों और दरिद्रों का सहायक और सभी प्राणियों

का निष्काम सेवक होता है।

(८) सदाचारी अतिथियों का सत्कार करने वाला होता है, उनको भगवत्-स्वरूप मानकर सेवा करता है।

(९) सदाचारी दूसरे मनुष्य के दोषों को देखकर, उनके विरुद्ध अपना निर्णय शीघ्रतापूर्वक नहीं देता। सम्भवतः वह अपनी वास्तविकता या योग्यता को छुपाने के लिए आरम्भ में उल्टी-सीधी बातें करता हो, पश्चात् वह मित्र बने।

(१०) सदाचारी का मन प्रसन्न रहता है, प्रसन्नता मनुष्य की विभूति है।

(११) सदाचारी किसी मनुष्य को स्थायी बुरा नहीं मानता, सम्भव है कि समय पाकर वह सुधर जाये। दुर्जन, समय पाकर सज्जन भी बन सकता है।

(१२) सदाचारी येन-केन-प्रकारेण अपना उत्तरदायित्व निभाता रहता है तथा अन्य व्यक्ति का हक नहीं छीनता।

(१३) सदाचारी किसी वस्तु को उसके स्वामी से आज्ञा पाये बिना उठाकर नहीं ले जाता।

(१४) सदाचार से मनुष्यत्व आ जाता है, समाज सुगठित हो जाता है, और देश शक्तिमान बन जाता है तथा विश्व में शान्ति स्थापित रहती है। सदाचारी बनने के लिए योगसाधना एक कर्त्तव्य कर्म है। यही आतंकवाद को समाप्त करने का स्थायी उपाय है।

→ (१५) — अ० भा०

## ३. आसन

हवादार कमरे में एक चादर को चार तहों में मोड़कर बिछाना चाहिए। उस पर चौकड़ी लगाकर बैठने को आसन कहते हैं। आसन पर कमर, पीठ, ग्रीवा और सिर को सीधा और ऊँचा रखकर बैठते हैं। इस पर बैठकर योगासन, प्राणायाम, पूजापाठ, जप और ध्यानादि किये जाते हैं।

आसन कई प्रकार के होते हैं। यह बैठकर, खड़े होकर तथा लेटकर किये जाते हैं। आसनों से शरीर में स्थिरता आती है। मांसपेशियों और जोड़ों की जकड़ाहट दूर हो जाती है। शरीर के सभी अंग-प्रत्यंग सक्रिय और स्वस्थ बन जाते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ यह मानसिक स्वास्थ्य भी बनाता है।

चौकड़ी लगाकर बैठने के चार प्रकार हैं—(१) पद्मासन, (२) सिद्धासन, (३) स्वास्तिक आसन, (४) सुखासन।

(१) **पद्मासन**—विधि—दाएँ पैर को बाईं राण पर और बाएँ पैर को दाईं राण पर रखें और हाथों को अपने-अपने ओर के घुटनों पर फैलाकर रखें।

(२) **सिद्धासन**—एक एड़ी को गुदा के मुँह पर और दूसरी एड़ी को मूत्रेन्द्रिय की जड़ पर इस प्रकार से रखें कि दोनों टखने एक दूसरे के साथ जुड़

जाएँ। दोनों हाथों को घुटनों पर रखें।

(३) **स्वस्तिक आसन**—बाएँ पैर को दाईं राण के समीप और दाएँ पैर को बाईं राण और टाँग की मांस पेशियों के बीच में रखें और हाथों को घुटनों पर रखें।

(४) **सुखासन**—दोनों पैरों को राणों के बीच में रखें। दोनों घुटनों को छाती के बराबर ऊपर रखें। अब इनको ९-१० इंच की दूरी पर रखकर कपड़े से बाँधकर रखें। दोनों हाथों को खुले हुए मिलाकर सामने कपड़े पर रखें। यह आसन वृद्धों के लिए उपयोगी है।

ऊपरलिखित चार आसनों में से किसी भी आसन पर बैठा जा सकता है। आसन पर बैठकर रीढ़ की अस्थि ग्रीवा और सिर ऊँचा और सीधा रखें। मन में यह भावना रखें कि मैं पर्वत की, चट्टान के समान आसन पर बैठ गया हूँ। अब मुझे कोई शक्ति, इस आसन पर से उठा नहीं सकती। इस भावना से आसन पर बैठकर अपनी क्रिया आरम्भ करें।

यहाँ केवल चार उपयोगी योगासनों की विधियाँ लिखी गई हैं। जिनका अभ्यास करने से शरीर, मन और आत्मा स्वस्थ और प्रसन्न रहते हैं। शरीर शक्तिमान बनकर मन भी शक्तिमान बन जाता है।

**चार प्रकार के योग आसन**—(१) शीर्षासन, (२) सर्वाङ्गासन, (३) मत्स्यासन, (४) पश्चिमोत्तानासन।

**शीर्षासन**—चार तह बिछी हुई चादर के आसन पर दो घुटनों पर बैठें। दोनों हाथों की अंगुलियों को एक-दूसरे में फँसाकर बन्द रखें और कुहनियों तक पृथ्वी पर फैलाकर रखें। सिर को बँधे हुए हाथों पर रखें। अब दोनों टाँगों को शनैः-शनैः सीधा ऊपर को उठायें ताकि सिर, ग्रीवा, पीठ, कमर और टाँगे सीधे लकीर की भाँति ऊपर को खड़े रहे। १५ सेकिण्ड या कुछ अधिक समय तक इसी अवस्था में रहकर शनैः-शनैः टाँगों को नीचे उतारें। यह सर्वरोग नाशक आसन है। यह शरीर को शक्तिमान बना देता है।

**सर्वाङ्गासन**—आसन पर पीठ के बल लेट जाएँ। टाँगों, बँक्षण और कमर को सीधा ऊपर उठायें। दोनों हाथों से कमर को सहारा दें। टाँगें न हिलें। अब चिबुक को छाती में दबाकर रखें। १५ सेकिण्ड या अधिक समय के पश्चात् टांगों को शनैः-शनै नीचे उतारें। इसको करने के शीघ्र पश्चात् मत्स्यासन करना चाहिए। ताकि ग्रीवा ठीक हालत में आए। यह थाईराइड ग्रन्थि को शक्ति देता है। जिससे शरीर की सारी ग्रन्थियाँ और अङ्ग-प्रत्यङ्ग अपना-अपना काम ठीक करते हैं। इससे वृद्धावस्था दूर रहती है।

**मत्स्यासन**—पद्मासन से आसन पर बैठ जायें। अब कमर के बल पर आसन पर लेट जायें। सिर की पीछे की ओर पृथ्वी से इस प्रकार लगायें कि दूसरी

ओर से वंक्षण पृथ्वी पर लगकर धड़ का पुल बन जाये । हाथों को पैरों की अंगुलियों पर रखें । यह विबन्धहर तथा जीर्णकासश्वास नाशक हैं ।

**पश्चिमोत्तानासन**—आसन पर बैठकर लकड़ी की भाँति टाँगों को फैलायें । पैरों की अंगुलियों को हाथों के अंगूठे से पकड़ें । धड़ को आगे की ओर मोड़ते हुए सांस को शनैः-शनैः बाहर छोड़ते रहें । सिर को धीरे-धीरे घुटनों तक लायें । मुँह को घुटनों के बीच लायें । साँस को तब तक बन्द रखें, जब तक न सिर ऊपर चढ़कर अपनी वास्तविक दशा पर आ जाये । अब साँस ठीक प्रकार से लें । यह स्थौल्य नाशक तथा यकृत् वृद्धि और प्लीहा वृद्धि नाशक है ।

**४. प्राणायाम**

प्राण एक सर्वव्यापक शक्ति है । जो ब्रह्मांड में विद्युत चुम्बक आदि शक्तियों के साथ आकाश में व्याप्त रहती है और विशेष करके वायुमण्डल में ओषित् गैस के साथ मिश्रित रूप से विद्यमान रहती है । यही प्राणशक्ति मनुष्य के शरीर, मन और जीवात्मा के पीछे खड़ी रहती है । आत्मज्ञान अभ्यास में प्राणायाम एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । प्राणायाम अभ्यास में निपुणता आने से मन में स्थिरता आ जाती है । इसकी सहायता से आगे जाकर जीवात्माज्ञान प्राप्ति में सहायता मिल जाती है । इस प्राणशक्ति का आधार सर्वशक्तिमान परमात्मा हैं ।

यह प्राणशक्ति श्वासोच्छ्वास द्वारा ओषित गैस के साथ फेफड़ों में पहुँच जाती है । फिर रक्त संचार में शरीर के सारे कोषों को अमृतरूपी प्राणशक्ति से सींचती है, जिससे शरीर में शक्ति का संचार होता रहता है । और मन भी शक्तिमान बना रहता है । जिसके कारण इसमें सहनशक्ति बढ़ जाती है । और इससे स्थिरत्व आने लगता है । इससे मन की चंचलता में कमी आने लगती है । श्वास-उच्छ्वास क्रिया के साथ संवेगों का गहरा सम्बन्ध है । प्राणायाम के द्वारा श्वास की क्रिया पर नियन्त्रण प्राप्त करके हम मन पर संवेगों का नियन्त्रण कर सकते हैं, जिससे मन भी शान्त रह सकता है ।

**प्राणायाम की विधि**—प्राणायाम के तीन भाग हैं—(१) पूरक, (२) कुम्भक, (३) रेचक ।

**(१) पूरक**—दाहिने नथने को दाहिने अंगूठे से बन्द करें । बायें नथने से प्राण वायु को फेफड़ों में धीरे-धीरे दस सेकिण्ड तक भरते रहें । फिर बायें नथने को दायें हाथ की कनिष्ठिका और अनामिका अंगुलियों से बन्द कर दें ।

**(२) कुम्भक**—दोनों नथनों को बन्द रखकर प्राणवायु को ४० सेकिण्ड तक फेफड़ों में बन्द रखें ।

**(३) रेचक**—बायें नथने से दोनों अंगुलियाँ धीरे-धीरे उठाते हुए साँस को धीरे-धीरे बीस सेकिण्ड तक फेफड़ों से बाहर निकालते रहें । यहाँ तक आधा प्राणायाम समाप्त हो गया ।

अब दायें नथने से दायाँ अँगूठा उठाकर धीरे-धीरे दस (१०) सेकिण्ड तक प्राणवायु को फेफड़ों में फिर भर दें। और इस नथने को इसी अँगूठे से बन्द रखें। अब प्राणवायु को चालीस (४०) सेकिण्ड तक फेफड़ों में बन्द रखें। फिर बायें नथने से धीरे-धीरे अँगुलियाँ उठाकर वीस (२०) सेकिण्ड तक साँस को फेफड़ों से बाहर निकालें। यह ऊपरलिखित सारी क्रिया, एक प्राणायाम की है। इसी प्रकार प्रातः-सायं पाँच-पाँच प्राणायाम प्रतिदिन करते रहें। प्रति सप्ताह एक-एक प्राणायाम बढ़ाते जायें। यहाँ तक कि दोनों समय ४०-५० प्राणायाम प्रतिदिन किये जाने चाहिएँ।

**प्राणायाम का समय-निपात बढ़ाना**—प्राणायाम की संख्या बढ़ाते हुए प्राणायाम क्रिया का समय-निपात भी बढ़ाते रहें। इसको १ : ४ : २ से २ : ८ : ४ या ३ : १२ : ६ तक बढ़ाकर ले जायें। धीरे-धीरे इस अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है और मन में कई प्रकार की मानसिक शक्तियाँ उजागर हो जाती हैं। यह सिद्धियाँ कहलाती हैं। जिस मनुष्य में यह सिद्धियाँ उजागर हुई होती हैं उसको सिद्ध कहते हैं।

**सगर्भ प्राणायाम**—प्राणायाम करते हुए परमात्मा के किसी एक पवित्र नाम या मन्त्र का जाप प्राणायाम विधि के अनुसार किया जाता है। जैसे हिन्दू धर्मावलम्बी 'ॐ' को पवित्र नाम और गायत्री मन्त्र को पवित्र मन्त्र मानते हैं। तो प्राणायाम करते हुए पूरक में पाँच ॐ या एक मन्त्र, कुम्भक में बीस ॐ या चार मन्त्र और रेचक में दस ॐ या दो मन्त्रों का जाप मन से करना चाहिए। सगर्भ प्राणायाम से कार्य-सफलता शीघ्र मिलती है। और ऐसा करने से मन को भी अपने मनन का काम मिलता है। वह काम में लगा रहता है।

प्राणायाम करते समय जब पूरक किया जा रहा हो, तो मन में यह भावना रखनी चाहिए कि प्राणवायु के फेफड़ों में भरने के साथ-साथ मन को दैवी सम्पत्त के गुणों से भर दिया जा रहा है। जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दान, दया और अक्रोध (शान्ति) आदि से। इसी प्रकार जब रेचक किया जा रहा हो तो साँस को छोड़ने के साथ-साथ राक्षसीय अवगुण भी मन से बाहर निकाल दिये जा रहे हैं। जैसे दम्भ, दर्प, घमण्ड और क्रोध, ईर्ष्या आदि। सब कुछ विचारधारा पर अव-लम्बित होता है। जैसी भावना होती है वैसा ही फल भी मिलता है। ऐसी भावना से किया हुआ प्राणायाम शीघ्र ही मन को साफ और शुद्ध कर डालता है।

**प्राणायाम का समय**—प्राणायाम करने का सर्वोत्तम समय प्रातःकाल है। विशेष करके सूर्योदय से आधा घण्टा पूर्व से आधा घण्टा पश्चात् तक का। साधक को प्रातः चार, साढ़े चार बजे बिस्तरे से उठना चाहिए। फिर शौच से निवृत्त होकर दन्तधावन, व्यायाम और स्नानादि करना चाहिए। यह सारा काम एक घण्टे में शीघ्रतापूर्वक समाप्त कर लेना चाहिए। साढ़े पाँच बजे पूजा-पाठ के कमरे में प्रवेश

करना चाहिए। यह कमरा पहले ही सुसज्जित और सुशोधित रखा हुआ होना चाहिए जो हवादार भी हो। इसमें चार तहों वाली चादर बिछाकर आसन पर बैठ जाना चाहिए। कमरे में धूप जलाकर इसको सुगन्धित करें। यदि समय हो तो योगासन भी १५-२० मिनट के लिए करें। सगर्भ प्राणायाम का अभ्यास सूर्योदय के आधे घण्टे के पश्चात् तक करें। इसी में जप भी होता रहता है और ध्यान भी किया जाता है। जप में जीभ नहीं हिलनी चाहिए, मन से मन्त्र-जाप करना चाहिए। दो-ढाई घण्टे का यह समय दिन का सबसे अमूल्य समय होता है। जो मनुष्य के दैव को बदलने वाला होता है। आलस्य में या नींद में इस अमूल्य समय को व्यर्थ में गँवाना नहीं चाहिए। यह योगाभ्यासियों को योगाभ्यास के लिए, विद्यार्थियों को विद्याभ्यास के लिए और सर्वसाधारण जनता को अपने जीविका सम्बन्धी काम के लिए अत्यन्त उपयोगी समय है। अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त करने के अभिलाषी मनुष्य, इस दिव्य समय को अपने हाथ से जाने न दें। इसमें जीवन की उन्नति का रहस्य गोपित है। इसका ध्यान रखें। स्मरण रहे जिसने यह समय व्यर्थ में गँवाया उसने सारा दिन ही व्यर्थ किया।

**प्राणायाम का महत्त्व**—प्राणायाम योग-साधना पद्धति का एक वैज्ञानिक आविष्कार है। जिसके द्वारा साकार स्थूल शरीर के श्वासोच्छ्वास संस्थान के यन्त्रों की सहायता से निराकार प्राणवायु को निराकार सूक्ष्मशरीरधारी मन के प्रशिक्षण कार्य के लिए भेजा जा रहा है। यह प्राणवायु वहाँ पहुँचकर अपने वैज्ञानिक ढंग से मौलिक प्रशिक्षण देकर मन को चंचल शून्य तथा स्थिर बनाने में सहायता करता है, जिसके आधार पर मन अगली परीक्षाओं में सम्मिलित होने के योग्य बनता है। फिर अपने पुरुषार्थ और अभ्यास से उनमें उत्तीर्ण होता हुआ निराकार जीवात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। वही निराकार परमात्मा का स्वरूप है। इस प्रकार हम साकार उपासना के मार्ग से निराकार परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। यह ज्ञान प्राप्त कराने वाला, निराकार प्राणवायु का सूत्र है। यही साकार शरीर को निराकार मन से मिलाने वाला है। यदि यह सूत्र कट जाये तो मनुष्य पंचत्व को प्राप्त होता है। फिर जीवन लक्ष्य अधूरा ही रह जाता है। इस दुर्लभ जीवन को सफल बनाने के लिए समय के एक-एक अमूल्य क्षण का सदुपयोग करना ही बुद्धिमानी है।

**प्राणायाम क्रिया के नियम**—(१) भोजन खाते ही, भरे पेट या थका-माँदा होने की दशा में प्राणायाम नहीं करना चाहिए।

(२) नियत समय पर स्वच्छ हवादार कमरे या एकान्त क्षेत्र में नदी के तीर पर प्राणायाम का अभ्यास किया जाना चाहिए।

(३) प्राणायाम करते हुए समय निपात का ध्यान रखना चाहिए।

(४) पूरक और रेचक शनैः-शनैः करना चाहिए।

(५) आसन सुदृढ़ हो, मुख पूर्व की ओर हो और आँखें बन्द करके सामने की ओर बैठना चाहिए। रीढ़ की अस्थि और शिर को सीधा ऊपर रखकर बैठें ! जाप करते हुए जिह्वा न हिले। मन को एकाग्र करके पूर्ण चन्द्रमा की भाँति ज्योति स्वरूप जीवात्मा परमात्मा का ध्यान भ्रूमध्य स्थान पर करना चाहिए।

स्मरण रहे कि योग साधना में योगासन, प्राणायाम, ब्रह्मचर्य, सदाचार और सात्त्विक भोजन एक साथ चलते हैं। प्रसंगवश अब सात्त्विक भोजन पर थोड़ा बहुत यहाँ पर प्रकाश डालेंगे—

**सात्त्विक भोजन और मेधा (प्रज्ञा)**—लेखक ने पीछे धातुओं के अध्याय में यह बात आपको स्पष्ट की है कि हमारा शरीर, खाद्य पदार्थों के समान गुणों के आधार पर पोषित होता है। खाद्य पदार्थों के समान गुणों से, समान गुण वाले शरीर के धातु वृद्धि पाते हैं और विरुद्ध गुणों के उपयोग से इन धातुओं का ह्रास हो जाता है। इस प्रकार से भोजन पर ही शरीर जीवित है ! जैसा अन्न वैसा मन। भोजन के गुणों का प्रभाव मन पर भी पड़ता है और बुद्धि पर भी।

**"वर्णः प्रसादः सौस्वर्य जीवितं प्रतिभा सुखं।"**
**तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्॥** —च० सू० २७।३४६

अर्थात् अन्न से ही शरीर को वर्ण, बल, पुष्टि और सुख तथा जीवन, मन की प्रसन्नता और बुद्धि की धारणा शक्ति मेधा प्राप्त होती है। यदि मनुष्य सौम्य गुण प्रधान भोजन सेवन करेगा तो उसके शरीर और मन पर सौम्य प्रभाव ही पड़ेगा। क्योंकि उसके शरीर में सौम्य गुणों की वृद्धि होगी। सौम्यगुण प्रधान भोजन सात्त्विक भोजन कहलाता है। इसको समयोग–शाकाहारी भोजन भी कहते हैं। ऐसे भोजन में हरी तरकारियाँ, दालें, दूध, दही और घी का प्रयोग होता है।

दूसरे प्रकार के भोजन में मांस, मत्स्य, अण्डा, मदिरा तथा अधिक मिर्च-मसालेदार भाजियों का प्रयोग होता है। यह भोजन आग्नेय गुण प्रधान होता है। ऐसे भोजन के प्रयोग से शरीर में आग्नेय गुणों की वृद्धि होती है। फलस्वरूप मन पर भी आग्नेय प्रभाव पड़ता है। आग्नेय प्रभाव से मन में उत्तेजना आ जाती है जो मन की स्वाभाविक चंचलता को और भी बढ़ाता है। ऐसा भोजन राजसिक भोजन कहलाता है। इसको समयोग मांसाहारी भोजन भी कहते हैं।

मत्स्य मांस युक्त राजसिक भोजन के प्रयोग से आग्नेय गुणों के साथ-साथ शरीर और मन में विशेषकर हिंसात्मक गुण भी आ जाते हैं, जो एक राक्षसीय गुण है। जो बन्धन के कारण बन जाते हैं।

सात्त्विक भोजन के अभ्यास से सत्त्वगुण प्रधान मन बन जाता है। मन शुद्ध होकर बुद्धि भी शुद्ध हो जाती है। मन बुद्धि के नियन्त्रण में आकर काम करने लगता है। मन की चंचलवृत्ति कम होती रहती है और इसमें स्थिरता आने लगती है।

मन में सत्त्वगुण की वृद्धि से बुद्धि में मेधाशक्ति आ जाती है, बुद्धि तीक्ष्ण और पारदर्शक बन जाती है, जो रहस्यमय गुत्थियों को सुलझाने में समर्थवान बन जाती है। **यही प्रज्ञा कहलाती है।** अब इसके द्वारा जो भी निर्णय लिया जाता है वह सत्यता के आधार पर शुद्ध होता है। निर्णय इस प्रकार का होता है कि यह कार्य करना है और इस प्रकार से करना है, वैसा करने से कार्यसफलता मिल जाती है। मनुष्य का मन सत्त्वगुण की प्रधानता से शुभभावनाओं का आगार बन जाता है। जिनसे शुभकर्मों की ओर प्रवृत्ति हो जाती है और फलस्वरूप शुभफल प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य प्रसन्नचित्त रहता है, वह अहित आहार-विहार न करता हुआ और आयुर्वेदिक-जीवन शास्त्र के नियमों का पालन करता हुआ शारीरिक और मानसिक रोगों का ग्रास नहीं बन जाता और स्वस्थ-दीर्घ-जीवन प्राप्त कर लेता है।

कर्मों से ही प्रारब्ध बन जाता है जिनका फल भोगना पड़ता है कुछ इस जन्म में भी और कुछ अगले जन्मों में भी। इस प्रारब्ध या दैव (किस्मत) को मनुष्य अपने कर्मों से ही बना लेता है। इसलिए मनुष्य अपने जन्म में जो सुख-दुःख भोगता है वह उसको अपने कर्म-फलों के अनुसार ही भोगना पड़ता है। मनुष्य जब सात्त्विक प्रधान मन के प्रसाद से आगे बढ़ता हुआ निष्कामपरक कर्मों पर तत्पर रहता है तो वह कर्मफलों के भोग से मुक्त रहता हुआ आवागमन के बन्धन में नहीं पड़ता। वन जीवनमुक्ति भी पाता है।

## ५. प्रत्याहार

साधक अब योगसाधना के उपकरणों से लैस होकर दृढ़संकल्प और पुरुषार्थ युक्त होकर काम कर रहा है। वह सदाचार, योगासन, ब्रह्मचर्य, प्राणायाम और अब सात्त्विक भोजन का सहारा लेकर क्षेत्र में निकल आया है। वह बड़ी भक्ति, लग्न और विश्वास के साथ भयंकर यातनाओं और कठिनाइयों का विरोध करता हुआ क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ चुका है। वह अहंकार को समाप्त करने के लिए द्वन्द्वभाव से ऊपर होकर काम करने लगता है। साधक का मन निर्मल होता जा रहा है। अष्ट सिद्धियाँ बीच में आकर उसको प्रलोभन दे रही हैं। पर इन प्रलोभनों का साधक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसने एक परमात्मा को पाने के लिए सब कुछ दाव पर लगाया है। उसको अब सारूप्य, सायुज्य, सालोक्य और सामीप्य धाम प्राप्त करने की अभिलाषा है। वह इससे कम अब कुछ मानने वाला नहीं है।

साधक अब सार्थक 'परहानि नकारक इच्छाओं' को परार्थक इच्छाओं में धीरे-धीरे परिणत करता जा रहा है। इस प्रकार सुबुद्धि की सहायता से निष्काम कर्म-योग का उपासक बनता जा रहा है। मन में बहुत कुछ स्थिरत्व आ चुका है। अब आत्मज्ञान क्षेत्र को लाँघकर द्वार पर पहुँच चुका है और प्रवेश-आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा है। उसका अहंकार भी अब बहुत कुछ नष्ट होता जा रहा है।

मन को जब शरीर के साथ जोड़कर रखा जाए, तो मन में काम, क्रोध, लोभ और मोह रूपी विकार उत्पन्न होते रहते हैं। और इसके साथ-साथ अहंकारात्मक द्वन्द्वभाव अर्थात् इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, लाभ-हानि और अपना-पराया भाव आदि उत्पन्न होते रहते हैं। जब मन परमात्मा की ओर लग जाता है तो उस समय मन कामना शून्य हो जाता है। कोई इच्छा या द्वन्द्वभाव उत्पन्न नहीं होता। आप देखते हैं कि जागृत और स्वप्न अवस्था में मनुष्य सुख और दुःख का अनुभव करता है, सुषप्ति अवस्था में नहीं। इससे सिद्ध होता है कि सुख और दुःख मन की उपज हैं।

मन में उत्पन्न होने वाली कामनाओं को मन से ही दूर करना प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार से इन्द्रियों को प्रतिकूल वस्तुओं या विषयों की ओर जाने से रोका जा सकता है। जब कभी कोई कामना मन में उपजे, जो प्रायः प्रबल होती हैं, जो जीर्ण अशुभ अभ्यास के कारण उत्पन्न होती हैं। उस समय कमरे से बाहर निकल आना चाहिए और किसी काम को हाथ में उठाना चाहिए। अथवा कोई पुस्तक उठाकर पढ़नी चाहिए। अथवा साधक सावधान होकर अपने मन को कहे कि तुम मेरे नौकर हो मैं तुम्हारी इस कामना को नहीं मानता। फिर मन उस कामना को छोड़ने के लिए वाधित होगा।

प्रत्याहार से मन कामनाशून्य हो जाता है और वह मनुष्य के अज्ञानुकूल काम करने लगता है। मन की इच्छाओं को चारों ओर से ढूंढ-ढूंढकर लाकर एक स्थान पर संग्रह किया जाता है। इसके लिए नियमपूर्वक अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। इस अभ्यास से कुछ काल के पश्चात् मन में अधिक स्थिरता आने लगती है, जिससे मन शान्त रहता है। जिस ध्येय पर ध्यान करने का अभिप्राय होता है, उसकी झलक दिखाई देने लगती है। कभी वह झलक दिखाई देने लगती है और कभी नहीं। स्थायी नहीं रहती। साधक का ध्येय जीवात्मा है। जो मनुष्य के मन में वास करती है। वह जीवात्मा ज्योतिस्वरूप है जो शीर्ष के अग्रभाग ललाट खण्ड में भ्रूमध्य स्थान पर मन के आश्रित विराजमान हैं। योग साधना के पहले पाँच अंगों अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार से साधक का जीवन संयमित और संतुलित हो जाता है। मन शुद्ध हो जाता है। मन की शुद्धि से चित्त भी शुद्ध हो जाता है। चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। फिर धारणा, ध्यान और समाधि से मन अन्तर्मुखी हो जाता है। निरन्तर अभ्यास से आत्मतत्व में अवस्थित होकर इसका साक्षात्कार कर लेता है।

### ६. धारणा

साधक योगाभ्यास में रत है। उसने मिथ्या ज्ञान रूप इच्छा-द्वेषात्मक प्रवृति मार्ग को तिलांजलि दे दी है। वह अब निवृत्ति मार्ग पर आरुढ़ हो चुका है। कहा गया है "निवृत्ति सुखमपवर्गाय" निवृत्ति से जीवन मुक्ति या शान्ति पद प्राप्त हो जाता है। इस दृढ़ विश्वास से वह अब अहंकार मुक्त हो रहा है। जो भी कर्म

करता है, निष्काम भाव से परमात्मा को समर्पण करता रहता है। इस अवस्था में साधक का मन प्रवाही रूप में, जीवात्मा रूपी ध्येय के मनन में मग्न रहता है। धारणा में ध्येय की झलक को पकड़ा जाता है और सांगोपांग रूप में थोड़ी देर के लिए मन को स्थिर करके देखा जाता है। जिस प्रकार दीप की ज्वालाशिखा, शान्त वायु वाले किसी कमरे में रखकर, इधर-उधर हिलती नहीं, इसी प्रकार, अब मन भी चलायमान नहीं होता है। धारणा से मन अधिक स्थिर हो जाता है। परन्तु इसके लिए बहुत अभ्यास की आवश्यकता है। धारणा में मन को ऐसी बुनियाद या आधार पर लगाया जाता है कि यह ध्येय रूप जीवात्मा पर लगाया जा सके।

**७. ध्यान**

इस अवस्था में साधक का मन प्रवाहीरूप से ध्येय को जानने के लिए यत्न करता है। मन, जो जीवात्मा का मन्दिर है। इसमें ज्योतिस्वरूप जीवात्मा को साक्षात्कार करने के लिए एकाग्रचित होकर ध्यान करता है। वह सब प्रकार की इच्छाओं और द्वन्द्वभावों से मुक्त संकल्प विकल्प शून्य हो जाता है और पर्वत के समान अविचल होकर ध्यान में मग्न हो जाता है। वह अपने शरीर और माया-रूप संसार को भूल जाता है। केवल स्थिर मन से जीवात्मा को ढूंढ निकालने में प्रवाहित हो जाता है। इस अवस्था में मन थोड़े से समय के लिए ज्योतिस्वरूप जीवात्मा को ढूँढकर निकाल कर दर्शन भी कर पाता है और प्रवाही अभ्यास से इस समय को बढ़ाता जा रहा है।

**अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति**—योग साधना की प्रक्रिया में इस पद पर पहुँच कर मन की निर्मलता से साधक को अमानुषीय शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह योग के आठ ऐश्वर्यबल कहलाते हैं। जो निम्न में लिखे जाते हैं—

**योग के आठ ऐश्वर्य बल—**

**आवेशश्चेतसोज्ञानमर्थानां छन्दता क्रिया।**
**दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥**
**इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।**
**शुद्ध सत्त्व समाधानात्तत् सर्वमुपजायते ॥**

—च० श० २/१४०।१४१

अर्थात् योगी को मानसिक शुद्धि होने पर निम्न प्रकार की आठ असाधारण शक्तियां (सिद्धियाँ) मिल जाती हैं।

(१) **आवेश**—योगी दूसरे मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर सकता है।

(२) **चेतसोज्ञानं**—योगी अपने विचारों को आकाश तरंगों के द्वारा दूसरे मनुष्य के मन में जहाँ चाहे वहाँ पहुँचा सकता है और वहाँ से उसके विचार अपने मन तक ला सकता है।

(३) **अर्थानां छन्दता क्रिया**—योगी अपनी इच्छा के अनुसार विषयों को भोग सकता है।

(४) **दृष्टि**—योगी की दृष्टि खुल जाती है। वह भूत, भविष्यत और वर्तमान की बातें जानता है। अर्थात् उसको त्रिकालदृष्टि होती है।

(५) **श्रोत्रं**—योगी दूर की बात सुनकर बता सकता है।

(६) **स्मृति**—योगी को पूर्वजन्मों की स्मृति हो जाता है।

(७) **अदर्शन**—योगी अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण कर सकता है और अदृश्य भी हो सकता है।

(८) **कान्ति**—योगी को अमानुषीय कान्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु उच्च-कोटि का योगी इन सिद्धियों के प्रलोभन में नहीं आता। कारण कि उसको आत्म-ज्ञान प्राप्त करने में रुकावट आयेगी। वह वहीं पर पड़ा रहेगा, आगे नहीं बढ़ेगा।

## ८. समाधि

समाधि अन्तिम (आठवाँ) अंग है। इस अवस्था में पहुँचकर अपने ध्येय रूपी जीवात्मा का साक्षात्कार होता है। साधक अब पूर्णरूप से संकल्प-विकल्प शून्य हो चुका होता है। अहंकार का लेशमात्र भी समाप्त हो चुका होता है। द्वार में प्रवेश पाने की उत्कण्ठा मन में है। तन, मन अर्पण करके सब कुछ भूल चुका है। चित्त में एकाग्रता अब पूर्णरूप से आई है। ध्याता, ध्यान और ध्येय का अस्तित्व मिल कर एकाकार हो गया है। अब ध्येय ही शेष रह गया है। समाधि लगाकर तत्पर निर्मल मन से उसकी खोज कर रहा है। प्रेम की ज्वाला मन में दहक उठी है। आत्मसमर्पण कर चुका है कि इतने में वह द्वार में प्रवेश पाता है। वह ज्योति स्वरूप जीवात्मा का साक्षात्कार कर पाता है। अब आनन्द से पुलकायमान हो जाता है। उसको सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश का भास होता है। वह ब्रह्मभूत बन जाता है। वह जीवन मुक्ति पाता है। परमात्मा का सारूप्य, सायुज्य, सालोक्य और सामीप्य धाम पाकर अमरपदवी पाता है। उसको आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति हो जाती है। अब उसको जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है।

अ० आ०

**जीवन मुक्ति**

**"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।**
**बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम्॥"** —कठोपनिषद्

अर्थात् मनुष्य की जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि स्थिर हो जाती हैं, योगाभ्यास के द्वारा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से उपराम हो जाती हैं। मन अहंकारात्मक रज और तम दोषों से मुक्त होकर बुद्धि सहित स्थिर हो जाता है। तो अन्तर्मुखी होकर समाधि में जीवात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। वह परमगति अर्थात् जीवन मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

→ अ० आ०

मोक्ष प्राप्ति के सम्बन्ध में चरक संहिता का निम्न सूत्र देखें—

**"माक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्म संक्षयात् ।**
**वियोगः सर्व संयोगैरपुनर्भव उच्यते ।।"** —च० श० २।२४२

अर्थात् राजसिक और तामसिक इच्छा-द्वेष रूपी द्वन्द्वभाव युक्त दोषात्मक कर्मों के नष्ट होने से; बलवान कर्मफल अर्थात् सकाम कर्मों का जो अवश्य भोक्तव्य कर्म-फल होते हैं उनके नष्ट होने से; और अपने सम्बन्धियों, शरीर, बुद्धि और अहंकार से निवृत्ति होने पर अर्थात् सर्वकल्पसंन्यास से अमरपद प्राप्त हो जाता है। अहंकार के नाश होने से ममत्व का समावेश समत्व में हो जाता है। योगी पुरुष 'ईशावास्यमिदं सर्वं' मानकर विश्वप्रेम रस के आस्वादन में निष्काम सेवा परक होकर पूर्णकाम और पूर्णशान्त स्थिति में रहते हैं। वह परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त कर लेने पर सारूप्य, सायुज्य, सालोक्य और सामीप्य धाम प्राप्त कर लेते हैं। निष्काम परक प्रसन्नचित्त मुक्त योगीजन, संसार में भी रह सकते हैं और रहते हैं परन्तु उनको पहचानना कठिन है। → अ० भी०

**योग ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है**—मोक्ष प्राप्त करने का साधन अष्टांग योग है। योगीजन इस मार्ग को अपनाकर परम-आनन्द पदवी प्राप्त कर लेते हैं। महापुरुष प्राचीनकाल से इसको तीनों तापों अर्थात् आधि, व्याधि और उपाधि का नाशकबतलाते हैं। आयुर्वेद भी स्पष्ट शब्दों में अष्टांगयोग की साधना को जीवन मुक्ति का मार्ग बतलाता है। इस सम्बन्ध में महर्षि चरक का उपदेश है—

**'एतत्त्देकमयनं मुक्तै मोक्षस्य दर्शितम् ।**
**तत्त्वस्मृतिबलं, येन गता न पुनरागताः ।।**
**अयनं पुनराख्यातमेत द्योगस्य योगिभिः ।**
**संख्यात धर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्यचायनम् ।।'**

—च० श० १/१५०-१५१

अर्थात् जो योगी जीवनमुक्त हुए हैं, उन महान तपस्वी योगियों के द्वारा योग को मोक्ष का मार्ग बताया गया है। योगसाधना से उन महापुरुषों ने तत्त्वस्मृति बल प्राप्त कर लिया, अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लिया। इस योगविद्या को समझकर, इस पर चलने वाले सत्पुरुष परमानन्द पद प्राप्त कर लेते हैं, वह फिर संसार के मायाजाल में नहीं फँसते। धर्म के मर्म को जानने वाले मुक्त योगी महापुरुषों ने यह तत्त्वस्मृतिबल बताया है जो मोक्ष का मार्ग है।

**योगसाधना दिनचर्या का एक कर्त्तव्यकर्म है, यह त्रिविध तापनाशक है**—(क) योगसाधाना के पहले पाँच अंगों अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार से साधक का जीवन संयमित और संतुलित हो जाता है। मन शुद्ध बन जाता है। मन की शुद्धि से बुद्धि भी शुद्ध हो जाती है। बुद्धि के नियमन में रहकर मन काम करने लगता है और हिताहार-विहार के सेवन से कायकशरीर

नीरोग रहता है।

(ख) योग से मन शुद्ध होकर सत्त्व प्रधान बन जाता है, रज और तम नियतन में रहकर असामान्यावस्था को प्राप्त नहीं हो जाते। आचार-विचार सुधर जाते हैं, फलस्वरूप मानसिक शरीर भी नीरोग रहता है और मन प्रसन्न रहता है। योगसाधना मानसिक रोगों की रामबाण औषधि है।

(ग) योगसाधना से मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है और जन्ममरण के बन्धन से छूट जाता है, अब वह आत्मज दु:खों से भी छुटकारा पाता है। इस प्रकार मनुष्य के तीनों ताप नष्ट हो जाते हैं। वह परमात्मा से एकत्वभाव प्राप्तकर लेता है। अत: योगसाधना को अपने जीवन का एक अंग बनाना मनुष्य का एक कर्त्तव्य कर्म है।

तप: पूत योगी महापुरुषों ने अपने अनथक प्रयासों से इस योग-संस्कृति को जन्म दिया और अपने जीवन को इसमें ढाल लिया। इसके आधार पर भारत की संस्कृति जीवित रही और असंख्य विपरीत परिस्थितियों से टक्करें खाती हुई आगे बढ़ती आती रही। आज हम जो भारतवासियों को अपना शीष गौरवतापूर्वक ऊँचा किये हुए चलते देख रहे हैं, यह इसी योगसंस्कृति की ही देन है। इसकी शिक्षा भारत के प्राचीन संस्कृत साहित्य, सांख्य और योगदर्शनशास्त्रों से चली आ रही है और यह आयुर्वेद जीवनशास्त्र की आधार शिला है। आयुर्वेद गत ५००० वर्षों से भी अधिक काल से इसके प्रसार और प्रचार में अपना योगदान देता आया है और रोगियों के स्वास्थ्यसंवर्द्धन और रोग-निवारण में अग्रसर रहकर काम करता आया है, सदाचार निर्माण का शिक्षण और प्रशिक्षण देता आया है और संसार में मनुष्यत्व का जन्मदाता बनकर मनुष्य को उन्नति के शिखर तक पहुँचाया है, इस योगसंस्कृति को स्थापित रखना और पुनर्जीवन प्रदान करना हमारा परम-कर्त्तव्य है। इसको देश के सभी क्षेत्रों और वर्गों तक प्रसार और प्रचार के द्वारा पहुँचाना है, ताकि समाज में उत्पन्न हुई सभी प्रकार की बुराइयों, कमजोरियों और सदाचारपतन का सर्वनाश सम्भव हो सके और सभी देशवासी सुसंगठित होकर भ्रातृभाव से आगे बढ़ते हुए उन्नति के शिखर तक पहुँच सकें। यही समय की पुकार है।



# प्रार्थना

१. ईश्वर हमारे ! सब कुछ तुम ही हो,
मानव जन्म यह सफल हो जाये ।।
यह मन तो अपना नाच नचाये,
कुछ कर न पाये दिन ही गंवाये ।
मार्ग दिखा दो भटकते न जायें,
समय अब हाथ से जाने न पाये ।।
ईश्वर हमारे ! सब कुछ तुम ही हो,
मानव जन्म यह सफल हो जाये ।।

२. सुबुद्धि देकर उद्योगी होवें,
दृढ़संकल्प से सब काम बनायें ।
समय का भरपूर लाभ उठाकर,
कामनाओं तीनों को प्राप्त कर लें ।।
ईश्वर हमारे ! सब कुछ तुम ही हो,
मानवजन्म यह सफल हो जाये ।।

३. योगसाधना से, मन को सुधाकर,
अनुगामी बुद्धि के, इसको बनायें ।।
आचार-विचार का सुधार पाकर,
शुद्धभावनाओं से, शान्ति फैलायें ।।
ईश्वर हमारे ! सब कुछ तुम ही हो,
अ. ग्रा. ३/२ मानवजन्म यह सफल हो जाये ।।

४. अध्यात्मज्ञान से, समभाव पाकर,
सर्व-धर्म-समभाव, वाद अपनायें ।
अपना पराया भेद हटाकर,
संसार भर में, एकता को लायें ।।
ईश्वर हमारे ! सब कुछ तुम ही हो,
मानवजन्म यह सफल हो जाये ।।

५. सेवक की मानव से, यह प्रार्थना है,
परोपकार जो, मानवधर्म है ।
निष्कामभाव से, इसे अपना कर,
दुर्लभ यह जन्म, सार्थक हो जाये ।।
ईश्वर हमारे ! सब कुछ तुम ही हो,
मानवजन्म यह, सफल हो जाये ।।

लेखक—वैद्य शम्भु नाथ कौल, 'सेवक' आयुर्वेदाचार्य गोल्डमेडलिस्ट

अवशिष्ट पत्र

पृष्ठ ८ पंक्ति ५ से।

स्थूल शरीर: इस के द्वारा जागृतावस्था में ही कर्म किये जा सकते हैं। पुण्य और पाप भेद से कर्म दो प्रकार के होते हैं। इन के ही फलस्वरूप पुनर्जन्म की रूपरेखा बन जाती है। पुण्य कर्मों से देवयोनियों में, पापकर्मों से (पशु-पक्षि-जीव-जन्तु) नारकीय योनियों में और पाप और पुण्य के मिलेजुले कर्मों से मनुष्य योनि में जन्म लेता है।

सूक्ष्म शरीर:- इस के द्वारा जागृत और स्वप्नावस्था में किये जाने वाले कर्मों के भोग से प्राप्त सुख अथवा दुःख की अनुभूति हो जाती है। जैसे भोजन का खाया जाना, यह स्थूलशरीर का कर्म है और भोजन का स्वाद अनुभव करना, यह सूक्ष्मशरीर की अनुभूति है।

कारणशरीर: इस के द्वारा जीवात्मा के आनन्द स्वभाव के सुख दुःख का अनुभव सुषुप्ति अवस्था में किया जाता है। गहरी नींद जैसी बेसुध अवस्था में आत्मा के आनन्द का रस लेने में कारण शरीर ही समर्थ होता है। कारण शरीर में, स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के द्वारा किये जाने वाले और किये गये सभी स्थूल और सूक्ष्म कर्मों का अभिलेख संग्रह हो जाता है, यही जन्ममरण का कारण बनकर बन्धन में डालता है।

पृष्ठ ४८/५— ऐसी अवस्था में शरीर में अग्नि फैल कर ज्वर चढ़ जाता है।

पृ० ६०/३०— जिस में कन्या योग्यता के प्रदर्शन में उत्तीर्ण

पृ० ६८/२८— मनुष्य को प्रतिदिन उपयोग में आने वाले खाद्यपदार्थों के गुणों का ज्ञान होना चाहिए जैसे शीत, उष्ण, गुरु, लघु आदि गुणों का। इस की सहायता से वह अपने स्वास्थ्य की वर्तमान स्थिति के अनुसार हिताहार भोजन की राशि नियुक्त कर सकता है, और अपने शरीर के दोषों, अग्नि, धातुओं और मलों को समावस्था में पोषण करता हुआ स्वस्थ-दीर्घ-जीवन पा सकता है हिताहार का विधि विधान पीछे लिखा गया है।

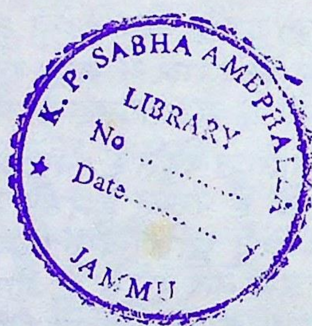
पृ० ८६/६— प्रक्षालन करे, अथवा विधिपूर्वक स्नान करे।

पृ० ६५/१६— रखने के लिए और सन्तुलित बनाने के लिए।

पृ० ११०/१३— सत्त्व, रज और तम मानसिक गुणों के कारण, मन में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विचार उठते रहते हैं। विचार कर्मों के बीज होते हैं। शुभ विचारों से शुभ कर्म किये जाते हैं, उन के फलस्वरूप शुभ फल प्राप्त होकर मनुष्य प्रसन्न चित्त रहता है। इसके विरुद्ध अशुभ विचारों से अशुभ कर्मों के फलस्वरूप जीवन दुःखी बन जाता है। बिना सोचे समझे किसी आवेश में आकर कोई काम नहीं करना चाहिए।

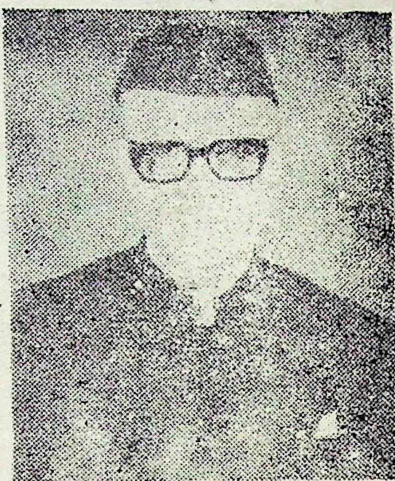
पृ० १७०/२३ — छान लें अथवा ३-४ उबाल लाकर ३ किलो अंक निकालें।
पृ० १७४/७ — विबन्ध की दशा में २-३ चमच भर त्रिफला चूर्ण सोते समय जल के अनुपान से प्रयोग करते रहें।
पृ० १८०/१ — नाना प्रकार के उच्च कोटि के दार्शनिक आदि पुस्तकों के
पृ० २१२/१६ — (१५) सदाचारी का मन सन्तुलित होता है। वह प्रत्येक विचार के गुणदोषों की छानबीन करके ही काम करता है। वह विचार विमर्श के बिना किसी आवेश में आकर, कोई काम नहीं करता।
पृ० २२१/२६ — वह तीनों तापों से मुक्त हो जाता है।
पृ० २२१/३५ — जीवन मुक्ति मिलने का तात्पर्य्य यह नहीं, कि जीवन मुक्त आत्मायें संसार में नहीं रहती हैं, वह रहती अवश्य हैं परन्तु वह प्रकृति के मायाजाल से परे, जल में कमलपत्र के समान, जल से निर्लिप्त रहते हैं। वह कानों से मधुर अथवा कठोर शब्द तो सुनते हैं परन्तु इनको सुनकर, वह न तो आकर्षित होते हैं और न ही कोई प्रतिक्रिया दिखाते हैं, वह निःसंगभाव से संसार में दृष्टा बन कर रहते हैं और परार्थक कर्मों में व्यस्त रहते हैं। मुक्तावस्था का उदाहरण हमें, श्री रामचन्द्र जी महाराज की पवित्र जीवनी से मिलती है, जब उनको राज्याभिषेक देने की घोषणा की गई तो इस शब्द को सुनकर उन्हें कोई प्रसन्नता नहीं हुई और न ही उनको वनवास गमन का आदेश मिलने पर कोई निराशा छा गई।
पृ० २२२/१३ — उनको योगी महापुरुष ही पहचान सकते हैं।
मुक्त महापुरुष, अपने को परमेश्वर का अंश मानकर उसी की शरण में रहकर सुखी रहते हैं।
पृ० २२४/२१ —

३/१ शान्ति फैलाव से प्रेमभाव बढाकर,
जाति-क्षेत्र-वेष-भाष भेद हटायें।
मेरा-तुम्हारा द्वन्द्वभाव हटा कर,
भारत में एकता अखण्डता को लायें॥
ईश्वर हमारे! सब कुछ तुम ही हो,
मानव-जन्म यह सफल हो जाये॥





लेखक—वैद्य शम्भु नाथ कौल, आयुर्वेदाचार्य, गोल्डमेडलिस्ट। भूत-पूर्व वैद्य इन्चार्ज धन्वन्तरि आयुर्वेदिक कॉलेज हस्पताल लाहौर। अवकाश-प्राप्त राजकीय वैद्य जे एण्ड के प्रदेश।



## सफल-मानव-जीवन, द्वितीय संस्करण की विशेषतायें :

इस द्वितीय संस्करण में मान्य-पाठकों के सुझावों पर बहुत से विषयों की परिवर्धित और विश्लेषणात्मक व्याख्या करके कई जटिल और अस्पष्ट विषयों को स्पष्ट करके रख दिया गया है। जैसे—

(i) आयुर्वेदिक त्रिदोष सिद्धान्त वात, पित्त और कफ की विश्लेषणात्मक चर्चा।

(ii) प्रज्ञापराध की विस्तृत व्याख्या, जो शारीरिक और मानसिक रोगों का एक प्रधान कारण है।

(iii) मानसिक शरीर का पूर्ण परिचय और मानसिक रोग, इनकी उत्पत्ति के कारण और शमन उपाय।

(iv) मन और जीवात्मा का परस्पर सम्बन्ध।

(v) शरीर में मन और जीवात्मा के निवासस्थान की विश्लेषणात्मक खोज।

(vi) अष्टांगयोग की व्याख्या, योग से मन की शुद्धि और त्रिविध तापों का शमन।

(vii) लेखक के अपने पचासवर्षीय चिकित्सा क्षेत्र में उपार्जित परीक्षित सिद्धयोगों से बनी हुई घरेलू-उपचार-दीपिका का एक नया अध्याय इस संस्करण में जोड़ा गया है, जिससे यह पुस्तक अधिक उपयोगी बनकर सर्वसाधारण जनता को अधिक लाभ पहुँचाने में समर्थ बन सकती है।

लेखक मान्यपाठकों के सुझावों का स्वागत सदा करता रहेगा।